CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

डॉ. भास्कर मिश्र

वैदिक शिक्षा पद्धति

महर्षि सान्दीपनि
राष्ट्रीय वेद-विद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ-परिचय

प्राचीन भारतीय जीवन पद्धति में त्याग के आदर्शों का विशिष्ट महत्त्व है। ईशावास्योपनिषद् में त्यागपूर्ण भोग का उपदेश देते हुए कहा है कि 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:।' इसके साथ-साथ अन्य की सम्पत्ति के लिए लोभ न करने का परामर्श भी दिया है। उपनिषद् के इस सन्देश ने समस्त पुराण, स्मृति और भारतीय साहित्य को प्रभावित किया है। शिक्षा जीवन के सातत्य और विकासोन्मुखता को बनाये रखने का एक- मात्र साधन है। अत: भारतीय शैक्षिक परम्परा का अनुगमन करते हुए त्यागवृत्तिपूर्वक भोग में ही वर्तमान की समस्याओं का समाधान ढूंढा जा सकता है।

आज की शिक्षा पद्धति पुस्तक केन्द्रित, पाठ्यक्रम केन्द्रित तथा परीक्षा केन्द्रित दिखाई देती है। जबकि इसे ज्ञानोन्मुख, मूल्योन्मुख तथा आदर्शोन्मुख बनाये जाने की आवश्यकता है जिसमें बच्चे तथा समाज के सर्वविध विकास का स्थान है। वैदिक शिक्षा पद्धति भारतीय शैक्षिक विकास हेतु समुचित पथ-प्रदर्शन करने में समर्थ है। इस ग्रन्थ द्वारा वैदिक वाङ्मय में शिक्षा सम्बन्धी अनेक तत्त्वों का आलोडन करके वर्तमान भारतीय शिक्षा पद्धति में इसके उपयोग की सामग्री प्रस्तुत की गई है। शैक्षिक उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधि, उच्चारण-शिक्षण तथा वैदिक पाठ संरक्षण, गुरु-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध आदि के विषय में प्रचुर सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध है। यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय शिक्षण परम्परा की जानकारी देकर एवं वर्तमानकालीन शिक्षण व्यवस्था को समृद्ध करने में पर्याप्त सहायक है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

SCANNED

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैदिक शिक्षा पद्धति

लेखक

डॉ. भास्कर मिश्र, *डी. लिट्*

प्रोफेसर

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ,

(मानित विश्वविद्यालय) नई दिल्ली

प्रस्तावना

प्रो. किरीट जोशी

अध्यक्षः भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली

सभापतिः ऑरोविल फाउण्डेशन, (भारत सरकार) पाण्डिचेरी, तमिलनाडु

उपाध्यक्षः महर्षि सांदीपनि राष्ट्रीय वेद-विद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद-विद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रथम संस्करण 2001

© महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद-विद्या प्रतिष्ठान

सभी राइट्स सुरक्षित। प्रकाशक की पूर्वानुमति के बिना इस पुस्तक का कोई भाग, किसी भी रूप में, किसी भी प्रकार पुनर्मुद्रित नहीं किया जा सकता।

प्रकाशक
सचिव
महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद-विद्या प्रतिष्ठान
प्राधिकरण भवन, भरतपुरी, उज्जैन-456 010 (म.प्र.)

ISBN: 81-87955-01-5

वितरक
साइबरआर्ट इन्फारमेशंज़ प्रा. लि.
कनु चेम्बर्स, सी 2, सांवल नगर,
नई दिल्ली - 110 049
फोन-फैक्स 91-011-625 4729/0700/6148
इ-मेल cyberart@vsnl.com

पृष्ठ सज्जा, आवरण एवं मुद्रण
साइबरआर्ट

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Foreword

I am happy to welcome this new book on the theme of the Vedic Method of Education. This is a sequel to the author's earlier book relating to the Philosophy of Vedic system of Education. Through these two books, the author has presented to the country the results of his research in our ancient system of teaching and learning that has left in our cultural heritage an ideal image of the subtlety and richness of psychological and applied principles of acquisition of knowledge and of the transmission of knowledge.

The present book is a scholarly exposition of the Vedic system as it is understood to have been in ancient times in India, and while it brings out clearly the merits of that system, the author does not hesitate to bring out clearly the demerits of that system. This demonstrates the author's originality and boldness of thought. At the same time, reference must be made to Chapter 6, where the author has presented what can be called the soul of the Vedic system. In the light of the materials that have been presented in that chapter, it becomes evident that the original Vedic system was truly integral and did not limit itself to the predominance of the teaching and learning of the recitation of the Vedic texts. The author has clearly underlined the predominant role played by three important themes, namely, acquisition of true spiritual knowledge, development of inner confidence, and continuous study, theoretical and practical. The conclusion that he draws is stated by him in the following words:

"The conclusion that is derived from this analytical study is that the ancient system gave birth to a culture oriented

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

towards the ideals of renunciation. Ishavasya Upanishad has counselled enjoyment that is rooted in renunciation, and it has further advised to eliminate covetousness of the wealth belonging to others. This message of the Upanishads has influenced all the Puranas, Shrutis and Indian literature."

Dr. Bhaskar Mishra has in the end advocated the revival of that message, and he has suggested that if that spirit of renunciation and of enjoyment rooted in renunciation is brought back, the problems that confront us today will find an easy solution.

In the last chapter, the author has shown how the essential elements of the various systems continue to influence several progressive systems of education that are being advocated by educationists like Montessori and Dewey. This only proves that education, whenever it is studied in its deepest profundities, reveals those perennial elements that characterise true education, irrespective of the historical limitations of time and age.

An extremely important contribution of this book is its exposition of the vikritis along with apt illustrations. Similarly, there is also an illuminating chapter devoted to the analysis of educational system that is to be found in the vast literature of Vedic shastras.

There is today, in India as elsewhere, a serious search for an alternative to the present system of education that is imprisoned within the limiting walls of book-orientation, syllabus-orientation and examination-orientation. There is a deep cry of the soul of humanity to have a new system that could be characterised by knowledge-orientation, value-orientation and child-orientation. There is no doubt that this

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

search will find the material presented in the book to be directly relevant.

In welcoming this book, I wish to congratulate Dr. Bhaskar Mishra and commend his research work. I trust that this book will be widely studied and will help educationists in their task of educational reform that is imperatively needed at the present juncture of educational crisis.

Kireet Joshi

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुरोवाक्

वैदिक शिक्षा पद्धति विषय पर लेखक के इस नये ग्रन्थ का मैं प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करता हूँ, यह लेखक के द्वारा इससे पहले लिखे गये वैदिक शिक्षा पद्धति दर्शन से सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों के सातत्य में है। इन दो पुस्तकों के माध्यम से लेखक ने हमारी प्राचीन शिक्षण-अधिगम की उस पद्धति के सम्बन्ध में अपने अनुसंधान के निष्कर्षों को प्रस्तुत किया है, जिसने हमारी सांस्कृतिक विरासत में बुद्धिमत्ता तथा मनोवैज्ञानिक समृद्धि की आदर्श प्रतिभूति एवं ज्ञान सम्प्राप्ति और ज्ञान सम्प्रेषण के अनुप्रयुक्त सिद्धान्तों को सञ्चित किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ वैदिक शिक्षा पद्धति का वैदुष्यपूर्ण व्याख्यान है, जहाँ इस ग्रन्थ में इस पद्धति के गुणों का दिग्दर्शन है वहीं लेखक ने इस पद्धति के दोषों के दिग्दर्शन में भी संकोच नहीं किया। इससे लेखक की मौलिकता और चिन्तन की प्रखरता प्रमाणित होती है। इस सम्बन्ध में षष्ठ अध्याय का उल्लेख करना आवश्यक है, जहाँ लेखक ने वैदिक शिक्षा पद्धति के तत्त्व का प्रस्तुतीकरण किया है। इस अध्याय में प्रतिपादित सामग्री के आलोक में यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल वैदिक शिक्षा पद्धति यथार्थतः पूर्ण है और शिक्षण एवं अध्ययन को केवल वैदित संहिता के उच्चारण तक सीमित नहीं किया है। लेखक ने तीन विषय-यथार्थ आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति, आत्मिक विश्वास का विकास तथा सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक अध्ययन के सातत्य को स्पष्ट रूप में रेखांकित किया है। लेखक के द्वारा प्रदर्शित निष्कर्ष उन्हीं के शब्दों में निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है-

"इस विश्लेषणात्मक अध्ययन पर कहा जा सकता है कि प्राचीन पद्धति ने संस्कृति-उन्मुख त्याग के आदर्शों को जन्म दिया है। ईशावास्योपनिषद् में त्यागपूर्ण भोग का उपदेश दिया है और अन्य की सम्पत्ति के लिए लोभ न करने का परामर्श दिया है। उपनिषद् के इस

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सन्देश ने समस्त पुराण, स्मृति और भारतीय साहित्य को प्रभावित किया है।"

डॉ. भास्कर मिश्र ने अन्त में इसी सन्देश को पुनर्जीवित करने का समर्थन किया है और यह परामर्श दिया है कि त्यागवृत्तिपूर्वक भोग में ही वर्तमान की समस्याओं का सरल समाधान प्राप्त किया जा सकता है।

अन्तिम अध्याय में लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि सभी पद्धतियों के महत्त्वपूर्ण अंश आज भी माँण्टेसरी, डिवी जैसे शिक्षाविदों द्वारा समर्थित कई प्रगतिशील पद्धतियों को प्रभावित कर रहे हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि शिक्षा जहाँ कहीं भी अत्यन्त दक्षता के द्वारा प्राप्त की जाती है, वहाँ सीमा एवं आयु के ऐतिहासिक बन्धन से विमुक्त अत्यावश्यक तत्त्व ही यथार्थ शिक्षा को विशिष्ट बनाते हैं।

इस पुस्तक का एक विशिष्ट अवदान यह है कि इस में वैदिक विकृतियों को व्याख्यायित किया गया है। इसी तरह वैदिक शास्त्रों के विपुल साहित्य में उपलब्ध शिक्षण पद्धति का भी विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

आज भारत तथा अन्यत्र उस वर्तमान शिक्षा पद्धति के विकल्प की गम्भीर खोज तलाश है, जो कि पुस्तक केन्द्रित, पाठ्यक्रम केन्द्रित तथा परीक्षा केन्द्रित की चारदिवारी में बन्द हो गयी है। आज मानव की अन्तरात्मा की यह पुकार है कि हम शिक्षा पद्धति को ऐसा बनाएँ जो कि ज्ञानोन्मुख, मूल्योन्मुख हो तथा जिसमें बच्चे के सर्वविध विकास का स्थान हो। इस बात में सन्देह नहीं है कि इस खोज के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ की सामग्री साक्षात् प्रासंगिक होगी।

इस पुस्तक का स्वागत करते हुए डॉ. भास्कर मिश्र को बधाई देता हूँ और उनके इस शोधकार्य की प्रशंसा करता हूँ। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक व्यापक रूप में पढ़ी जायेगी तथा उन शैक्षणिक शोधकार्यों में शिक्षाविदों की सहायता करेगी जिनकी वर्तमान परिप्रेक्ष में शैक्षणिक संकट को मिटाने के लिए अपरिहार्य आवश्यकता है।

किरीट जोशी

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आत्मनिवेदन

वैदिक वाङ्मय के पर्यालोचन से विदित होता है कि विश्व के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में समाज व्यवस्था के विभिन्न पक्षों का विशद निरूपण किया गया है तथा वैदिक युग की शिक्षा व्यवस्था के विषय में भी व्यापक विवेचन किया गया है। शिक्षा-शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन के प्रसंग में वैदिक वाङ्मय के शिक्षा सम्बन्धी विभिन्न प्रसंगों का पर्यालोचन करने का सु-अवसर मुझे प्राप्त हुआ एवं मेरे द्वारा किए गए इस पर्यालोचन की परिणति 1882 ई. में **वैदिक शिक्षा मीमांसा** नामक ग्रन्थ की प्रस्तुति के रूप में हुई इस ग्रन्थ में वैदिक युग में प्रवर्तित शिक्षा व्यवस्था का संक्षिप्त तथा शिक्षा के स्वरूप का व्यापक विवेचन प्रस्तुत किया गया। इस ग्रन्थ का लोकार्पण करते हुए तत्कालीन उपराष्ट्रपति साधना, सरस्वती, सत्ता, तपस्या और विद्वता की प्रति-मूर्ति परम श्रद्धेय **डॉ. शंकरदयाल शर्मा जी** ने वैदिक शिक्षा की विवेचना के लिए सतत कार्य करने की प्रेरणा प्रदान की।

इसी प्रसङ्ग में वेद विद्या प्रतिष्ठान के सचिव माननीय **श्री किरीट जोशी जी** ने निर्देश दिया कि वैदिक युग में प्रवर्तित शिक्षा पद्धति के साङ्गोपाङ्ग स्वरूप की प्रस्तुति हेतु एक विशिष्ट ग्रन्थ की रचना की जाए। श्रद्धेय जोशी जी दिल्ली और तिरुपति विद्यापीठ (मानीत विश्व विद्यालय) तथा वेद विद्या प्रतिष्ठान के संस्थापक के रूप में परम वन्दनीय हैं। उन्होंने इन संस्थाओं के माध्यम से अनेक महान् शिक्षा-शास्त्रियों को जन्म दिया है। वे वर्तमान युग के वेद-व्यास हैं। मैं उन्हीं की प्ररेणा से वैदिक शिक्षा में प्रवृत्त हुआ हूँ। मैं उनका शत् शत् वन्दन करता हूँ। इन महापुरुषों के शुभाशीर्वाद एवं प्रेरणा का सम्बल प्राप्त कर विगत पाँच-छः वर्षों में मेरे द्वारा वैदिक वाङ्मय तथा पुराणादि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का इस दृष्टि से गम्भीर आलोडन किया गया। समस्त प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के पर्यालोचन से विदित होता है कि वेद-मन्त्र

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यक ग्रन्थों ओर उपनिषदों में शिक्षा पद्धति के सम्बन्ध में बीज रूप में चर्चा की गई है। उसका विशद स्वरूप रामायण, महाभारत और पुराण आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में विवेचित हुआ है। अत एव इस प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ राशि को वेदोपबृंहक वाङ्मय स्वीकार किया गया है। पुराण साहित्य को वेद विद्या का सार तथा पञ्चम वेद के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। इस पुराण वाङ्मय को वैदिक चिन्तन का प्रसारक स्वीकार करते हुए महाभारत के प्रारम्भ में निर्देश दिया गया है- **पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः** अर्थात् वैदिक चिन्तन रूपी ज्योत्स्ना का प्रकाशन पुराण रूपी चन्द्र के द्वारा किया गया है। पुराण के समान रामायण और महाभारत नामक इतिहास ग्रन्थ भी वेदों में बीज रूप से प्रस्तुत तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। अत एव वेदार्थ उपबृंहण की दृष्टि से पुराण के साथ-साथ इतिहास ग्रन्थों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए महाभारत के प्रारम्भ में निर्देश किया गया है –

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।

इससे ज्ञात होता है कि पुराण ग्रन्थों और इतिहास ग्रन्थों की रचना का मुख्य उद्देश्य वेद निरूपित तत्त्वों का विवेचन था। इस विद्वत् सम्मत तथ्य को आधार मान कर वैदिक शिक्षा पद्धति 'Vedic system of education' के व्यापक परिचय हेतु वैदिक वाङ्मय के साथ-साथ पुराण और इतिहास ग्रन्थों का अध्ययन विशेष रूप से उपयोगी है। इस दृष्टि से मैंने वैदिक वाङ्मय निरूपित शिक्षा पद्धति की चर्चा के अनन्तर वेद अनुगामी शास्त्रों में शिक्षा के विवेचनार्थ विभिन्न अध्यायों में वैदिक शिक्षा पद्धति के विशद स्वरूप की चर्चा की है।

वैदिक शिक्षा पद्धति का परिचय प्रस्तुत करने के प्रसंग में सर्वप्रथम वैदिक वाङ्मय के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अत एव प्रथम अध्याय में वेद और वेदाङ्ग नाम से विख्यात वाङ्मय के

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वरूप की चर्चा की गई है। तदनन्तर इस वाङ्मय का शिक्षा तत्त्व के साथ सम्बन्ध बताने हेतु द्वितीय अध्याय में वेद शब्द के विभिन्न व्युत्पत्ति लभ्य अर्थों की चर्चा की गई है। इसके पश्चात् तृतीय अध्याय में वेद निर्दिष्ट शिक्षा के प्रयोजनों का उल्लेख कर चतुर्थ अध्याय में वेदकालीन शिक्षण अभ्यास की प्रक्रिया का व्यापक विवेचन किया गया है। वेद निरूपित शिक्षा पद्धति के विशद परिचयार्थ वेद अनुगामी शास्त्रों में प्रस्तुत शिक्षा विषयक समुल्लेखों की चर्चा इस ग्रन्थ के पञ्चम अध्याय में की गई है। इसके अनन्तर षष्ठ अध्याय में निरूपित किया गया है कि भारत में प्राचीन युग में प्रचलित शिक्षा प्रणाली की महनीयता क्या है? इसके अनन्तर ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में आधुनिक शिक्षा पर वैदिक शिक्षा के प्रभाव का निर्देश किया गया है।

इस सप्ताध्यायात्मक ग्रन्थ में चतुर्थ अध्याय हृदयस्थानापन्न है। इस अध्याय में वेदकालीन शिक्षण अभ्यास की प्रक्रियाओं की चर्चा के प्रसंग में वेद मन्त्र संहिता के अष्ट विकृति पाठों का स्वरूप सविस्तार विवेचित किया गया तथा इन विकृति पाठों की उपयोगिता पर विस्तार से चर्चा की गई है। वस्तुतः वैदिक शिक्षा पद्धति में शब्दोच्चारण की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। अत एव वैदिक मनीषियों ने वेद मन्त्रों की शब्द राशि को यथावत् आत्मसात् करने तथा शुद्ध उच्चारण के लिए आठ प्रकार के विकृति पाठों की संरचना की है। इन विकृति पाठों पर विभिन्न रूपों का परिचय आज के शिक्षाशास्त्र के अध्येताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

इस ग्रन्थ की संरचना में माननीय श्री किरीट जोशी जी की सत्प्ररेणा मुख्य कारण बनी है। विशेष सौभाग्य का विषय है कि माननीय जोशी जी ने इस नवनिर्मित ग्रन्थ **वैदिक शिक्षा पद्धति** का साद्यन्त पर्यालोचन करने का अनुग्रह किया है तथा इस ग्रन्थ को अपनी प्रस्तावना द्वारा महनीय बनाया है। मैं माननीय जोशी जी के इस प्रस्तावना लेख को प्राचीन और आधुनिक शिक्षाशास्त्र के इतिहास का एक विशिष्ट प्रकाश

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यक ग्रन्थों ओर उपनिषदों में शिक्षा पद्धति के सम्बन्ध में बीज रूप में चर्चा की गई है। उसका विशद स्वरूप रामायण, महाभारत और पुराण आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में विवेचित हुआ है। अत एव इस प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ राशि को वेदोपबृंहक वाङ्मय स्वीकार किया गया है। पुराण साहित्य को वेद विद्या का सार तथा पञ्चम वेद के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। इस पुराण वाङ्मय को वैदिक चिन्तन का प्रसारक स्वीकार करते हुए महाभारत के प्रारम्भ में निर्देश दिया गया है- **पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः** अर्थात् वैदिक चिन्तन रूपी ज्योत्स्ना का प्रकाशन पुराण रूपी चन्द्र के द्वारा किया गया है। पुराण के समान रामायण और महाभारत नामक इतिहास ग्रन्थ भी वेदों में बीज रूप से प्रस्तुत तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। अत एव वेदार्थ उपबृंहण की दृष्टि से पुराण के साथ-साथ इतिहास ग्रन्थों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए महाभारत के प्रारम्भ में निर्देश किया गया है -

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।

इससे ज्ञात होता है कि पुराण ग्रन्थों और इतिहास ग्रन्थों की रचना का मुख्य उद्देश्य वेद निरूपित तत्त्वों का विवेचन था। इस विद्वत् सम्मत तथ्य को आधार मान कर वैदिक शिक्षा पद्धति 'Vedic system of education' के व्यापक परिचय हेतु वैदिक वाङ्मय के साथ-साथ पुराण और इतिहास ग्रन्थों का अध्ययन विशेष रूप से उपयोगी है। इस दृष्टि से मैंने वैदिक वाङ्मय निरूपित शिक्षा पद्धति की चर्चा के अनन्तर वेद अनुगामी शास्त्रों में शिक्षा के विवेचनार्थ विभिन्न अध्यायों में वैदिक शिक्षा पद्धति के विशद स्वरूप की चर्चा की है।

वैदिक शिक्षा पद्धति का परिचय प्रस्तुत करने के प्रसंग में सर्वप्रथम वैदिक वाङ्मय के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अत एव प्रथम अध्याय में वेद और वेदाङ्ग नाम से विख्यात वाङ्मय के

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वरूप की चर्चा की गई है। तदनन्तर इस वाङ्मय का शिक्षा तत्त्व के साथ सम्बन्ध बताने हेतु द्वितीय अध्याय में वेद शब्द के विभिन्न व्युत्पत्ति लभ्य अर्थों की चर्चा की गई है। इसके पश्चात् तृतीय अध्याय में वेद निर्दिष्ट शिक्षा के प्रयोजनों का उल्लेख कर चतुर्थ अध्याय में वेदकालीन शिक्षण अभ्यास की प्रक्रिया का व्यापक विवेचन किया गया है। वेद निरूपित शिक्षा पद्धति के विशद परिचयार्थ वेद अनुगामी शास्त्रों में प्रस्तुत शिक्षा विषयक समुल्लेखों की चर्चा इस ग्रन्थ के पञ्चम अध्याय में की गई है। इसके अनन्तर षष्ठ अध्याय में निरूपित किया गया है कि भारत में प्राचीन युग में प्रचलित शिक्षा प्रणाली की महनीयता क्या है? इसके अनन्तर ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में आधुनिक शिक्षा पर वैदिक शिक्षा के प्रभाव का निर्देश किया गया है।

इस सप्ताध्यायात्मक ग्रन्थ में चतुर्थ अध्याय हृदयस्थानापन्न है। इस अध्याय में वेदकालीन शिक्षण अभ्यास की प्रक्रियाओं की चर्चा के प्रसंग में वेद मन्त्र संहिता के अष्ट विकृति पाठों का स्वरूप सविस्तार विवेचित किया गया तथा इन विकृति पाठों की उपयोगिता पर विस्तार से चर्चा की गई है। वस्तुतः वैदिक शिक्षा पद्धति में शब्दोच्चारण की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। अत एव वैदिक मनीषियों ने वेद मन्त्रों की शब्द राशि को यथावत् आत्मसात् करने तथा शुद्ध उच्चारण के लिए आठ प्रकार के विकृति पाठों की संरचना की है। इन विकृति पाठों पर विभिन्न रूपों का परिचय आज के शिक्षाशास्त्र के अध्येताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

इस ग्रन्थ की संरचना में माननीय श्री किरीट जोशी जी की सत्प्रेरणा मुख्य कारण बनी है। विशेष सौभाग्य का विषय है कि माननीय जोशी जी ने इस नवनिर्मित ग्रन्थ **वैदिक शिक्षा पद्धति** का साद्यन्त पर्यालोचन करने का अनुग्रह किया है तथा इस ग्रन्थ को अपनी प्रस्तावना द्वारा महनीय बनाया है। मैं माननीय जोशी जी के इस प्रस्तावना लेख को प्राचीन और आधुनिक शिक्षाशास्त्र के इतिहास का एक विशिष्ट प्रकाश

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्तम्भ मानता हूँ एवं उनके शुभाशीर्वादों की सदैव कामना करता हूँ। इस सारस्वत साधना की पूर्ति में मेरे पूज्य पितृ चरण डॉ. मण्डन मिश्र जी का मार्गनिर्देशन सदैव उपलब्ध हुआ तथा आप द्वारा विरचित **मीमांसा दर्शन, संस्कृत संस्कृति स्तवक** और **संस्कृत मञ्जरी** नामक ग्रन्थों में प्रकाशित विचारों ने मेरे लिए इस ग्रन्थ की रचना में प्रकाशपुञ्ज का कार्य किया है। यह मेरा सौभाग्य है कि मेरे स्वनामधन्य और यशस्वी **चाचा** श्रद्धेय डॉ. वाचस्पति उपाध्याय का मार्ग-दर्शन मेरे लिए सदा से प्रेरणा श्रोत रहा है, वे परम्परा से वेद-विद्या के विख्यात मनीषि रहे हैं, उनका और मेरे पिताजी का सम्बन्ध मूल रूप से इसी पर आधारित है और यही हमारे पारिवारिक सम्बन्धों की सत्यता की आधारशीला है। मुझे सौभाग्य से उनसे दो अक्षर पढ़ने का भी अवसर मिला है। इसलिए इस पुस्तक की पूर्णता में नम्रता के साथ सविनय उन्हें प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ। ग्रन्थ की संरचना और प्रकाशन कार्य में महर्षि सांदीपनि वेद-विद्या प्रतिष्ठान का महत्वपूर्ण अवदान है। इसके लिए मैं प्रतिष्ठान परिवार के प्रति विशेष कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः।
वाचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यत्ताम्।।

विनीत

भास्कर मिश्र

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विषय सूची

क्र. सं.			पृष्ठ संख्या
	Foreword		**i-iii**
	पुरोवाक्		**v-vii**
	आत्मनिवेदन		**ix-xii**
1.	**वैदिक शिक्षा का स्वरूप**		**1**
	(i)	वेद का स्वरूप	2
	(ii)	वेदाङ्ग परिचय	3
	(क)	कल्प	4
	(ख)	व्याकरण	8
	(ग)	निरुक्त	9
	(घ)	ज्योतिष	11
	(ङ)	छन्द	14
	(च)	शिक्षा	22
2.	**वेद में शिक्षा तत्त्व तथा 'वेद' शब्दार्थ**		**35**
	(i)	विद् - ज्ञाने	36
	(ii)	विद् सत्तायाम्	40
	(iii)	विद्लृ लाभे	44
	(iv)	विद् विचारणे	49
	(v)	विद् चेतनाख्याननिवासेषु च	51
3.	**वेदनिर्दिष्ट शिक्षा-प्रयोजन**		**61**
	(i)	व्यक्तित्व विकास	61
	(ii)	आचरण की शुद्धता	62
	(iii)	आध्यात्मिक - प्रशिक्षण	73

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(iv)	शरीरिक सम्पुष्टता	78
(v)	अनुशासनात्मक जीवन	82
(vi)	सामाजिकता का विकास	85
(vii)	राष्ट्रानुराग	90
4.	**वेदकालीन शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया**	**97**
(i)	वेदाध्ययन के अधिकारी	102
(ii)	वेदाध्ययन के अधिकारी की पात्रता	102
(iii)	विद्यारम्भ संस्कार	105
(iv)	आचार्य की योग्यता	107
(v)	वेदाध्ययन के समय उपवेशन व्यवस्था	110
(vi)	गुरु की शिष्य द्वारा अभ्यर्चना	111
(vii)	वेदाध्ययन-विधि	114
(viii)	वेदाध्ययन के समय गुरु-शिष्य संवाद की प्रक्रिया	118
(ix)	वेद पाठ संरक्षण विधि	122
(x)	अष्ट विकृति पाठों का सुगम उपाय	125
(xi)	संहितापाठ	125
(xii)	पद पाठ	125
(xiii)	क्रमपाठ	125
(xiv)	जटा पाठ	126
(xv)	मालापाठ	127
(xvi)	क्रममाला	127
(xvii)	पुष्पमाला	128
(xviii)	शिखापाठ	128
(xix)	रेखा पाठ	130
(xx)	मन्त्र का पूर्वार्द्ध उदाहरण	130
(xxi)	मन्त्र के उत्तरार्द्ध का उदाहरण	130
(xxii)	ध्वजपाठ	130
(xxiii)	दण्डपाठ	131
(xxiv)	मन्त्र का पूर्वार्द्ध	131

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(xxv)	रथपाठ	132
(xxvi)	द्विचक्ररथ का उदाहरण	132
(xxvii)	द्वितीय प्रकार के द्विचक्ररथ	134
(xxviii)	त्रिचक्ररथ	136
(xxix)	चतुश्चक्ररथ	137
(xxx)	घनपाठ	137
(xxxi)	घनवल्लभ	140
(xxxii)	वैदिककालीन शिक्षण पद्धति की विशेषताएँ	141
(xxxiii)	वैदिककालीन शिक्षण पद्धति के दोष	145
5.	**वेदानुगामी शास्त्रों में शिक्षा**	**149**
(i)	पौराणिक वाङ्मय की वेदानुगामिता	149
(ii)	पुराण ग्रन्थों का वेद विवेचकत्व	150
(iii)	वेदार्थ विवेचन में पौराणिक आख्यानों का योग	153
(iv)	वेदार्थ विवेचन में पौराणिकोपाख्यानों का योग	158
(v)	वेदार्थ विवेचन में पौराणिक गाथाओं का योग	160
(vi)	वेदार्थ विवेचन में पौराणिक कल्पशुद्धि का योग	161
(vii)	इतिहास ग्रन्थों में वैदिक शिक्षा का उपबृंहण	165
(viii)	रामायण में वैदिक शिक्षा का अनुवर्तन	166
(ix)	महाभारत में वेदार्थ समुपबृंहण	176
6.	**प्राचीन शिक्षा प्रणाली का रहस्य**	**207**
(i)	शास्त्र	207
(ii)	शास्त्र का एक आदर्श उदाहरण-योग	212
(iii)	मन्त्र योग	214
(iv)	हठ योग	214
(v)	लय योग	215
(vi)	राज योग	216
(vii)	अष्टांग योग	217
(viii)	भक्ति योग	218

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(ix) ज्ञान योग 218
(x) कर्म योग 219
(xi) शिक्षा 220
(xii) ज्ञान 221
(xiii) विश्वास 222
(xvi) आत्मविश्वास 222
(xv) शास्त्र एवं गुरुदेव के प्रति निष्ठा 223
(xvi) सतत् अभ्यास 224

7. आधुनिक शिक्षा पर वैदिक शिक्षा का प्रभाव 245

परिशिष्ट संख्या-1
पाठ-योजना 261

परिशिष्ट संख्या-2
अनुशीलित ग्रन्थानुक्रमणिका 273

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अध्याय 1

वैदिक शिक्षा का स्वरूप

प्रत्येक प्राणी अपनी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विषयों के साक्षात्कार के अनन्तर आवश्यकतानुसार विभिन्न जीवनव्यवहार के लिये कर्मेन्द्रियों का प्रयोग करता है। इस इन्द्रिय-प्रयोग के अवसर पर सुख और दुःख की अनुभूति के अनुसार जीवनव्यवहार की शिक्षा ग्रहण करना प्रत्येक प्राणी का स्वभाव है। शिक्षा ग्रहण की यह प्रवृत्ति मानव जीवन में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि मानव में चेतना का सर्वाधिक विकास हुआ है। उस में शैशवकाल से ही सतत शिक्षा ग्रहण करने की यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। मानव की यह एक विशेषता है कि वह इन्द्रिय साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त अन्य उपादानों का प्रयोग भी शिक्षा ग्रहण के लिए करता है। वह केवल अपने निजी अनुभवों से ही शिक्षा-ग्रहण नहीं करता अपितु पूर्वजों के अनुभवों से अधिक सीखता है। पूर्वजों के ये अनुभव साहित्यसम्पदा के रूप में मानव को उपलब्ध हैं। जिस साहित्यभण्डार में शिक्षा का वैभव समाहित है, उसका सर्वप्रथम महनीय रत्न **वेद** के नाम से विख्यात है। इस वैदिक वाङ्मय के द्वारा मानव समुदाय विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्यों की शिक्षा ग्रहण करता रहा है। आधुनिक शिक्षा शास्त्र ने वैदिक वाङ्मय में बीज रूप में प्रस्तुत शिक्षा तत्त्व को विशद रूप प्रदान किया है। शिक्षा शास्त्र के साथ वैदिक शिक्षा तत्त्व के सम्बन्ध का विस्तृत परिचय देने से पूर्व वैदिक वाङ्मय के स्वरूप और शिक्षा क्षेत्र में उसके महनीय योगदान की विस्तृत चर्चा अग्रिम अनुच्छेदों में प्रस्तुत की जा रही है। मानवजीवन इसका प्रथम केन्द्रबिन्दु है।

मानव-जीवन एक व्यवहार है, व्यवहार का मूल ज्ञान है। प्रमाणों के तारतम्य से ज्ञानों की भी विविधता होती है। प्रमाणों के सम्बन्ध में

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मनीषियों ने अनुभवानुसार उनकी मान्यता के सम्बन्ध में विभिन्न विचार व्यक्त किए हैं। चार्वाक ने तो प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना हैं, किन्तु केवल प्रत्यक्ष से काम नहीं चल सकता। इसलिए परम श्रेष्ठ दार्शनिक नैयायिकों ने उसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द रूप से चतुर्विध माना है। शाब्द प्रमाण व्यापक और विश्वसनीय होने से सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। शाब्द प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष, ऐहिक, आमुष्मिक सभी धरातलों पर उपयोगी है। क्योंकि जो प्रमेय प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात नहीं हो सकते, वे इस शाब्द प्रमाण पर ही निर्भर होते हैं[1]। हमारी विचारधारा के अनुसार **वेद** ही प्रमुख **शाब्द प्रमाण** है। अतः वेद की प्रामाणिकता सर्वतोपरि स्वीकार की गई है।

वेद का स्वरूप - अपौरुषेयः शब्दराशिर्वेदः इस व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ के अनुसार वेद का स्वरूप शब्दात्मक है। ग्रन्थों की दृष्टि से संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों को मिलाकर ही वेद की संज्ञा दी गई है। **मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**[2] के आधार पर मन्त्रों में की गई देवताओं की स्तुति आदि का यज्ञ प्रक्रिया में उपयोग कहाँ और कैसे हो, यह बतलाना ब्राह्मण ग्रन्थों का उद्देश्य है। अतः दोनों मिलकर ही यज्ञ रूपी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। यज्ञ की दृष्टि से वेदों का जो विभाजन किया गया है, उसका आशय यह है कि यज्ञ के लिए जिन चार (होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा) ऋत्विज्ञों की आवश्यकता होती है, उनकी क्रियाओं के अनुसार वेदों का विभाजन किया गया है, यथा **होता** द्वारा यज्ञ के अवसर पर देवताविशेष की स्तुति के लिए प्रशंसात्मक मन्त्रों का

---

1. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ।।

ऋग्वेद - सायणभाष्य

2. बौधायन गृह्यसूत्र - 3/2/63,
अन्यत्र-
मन्त्रब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते।

बौधायन गृह्यसूत्र - 2/6/2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संकलन निहित है, उसे ऋक्-संहिता या ऋग्वेद के नाम से अभिहित किया गया है। इसमें उत्तम विचारों को प्रेरित करने वाले मन्त्र हैं। **अध्वर्यु** द्वारा प्रयुक्त कर्मों की पवित्रता-सम्बन्धित मन्त्रों का संकलन जहाँ उपलब्ध होता है, उसे **यजुर्वेद** के नाम से सम्बोधित किया जाता है, इसे **सत्कर्म वेद** की संज्ञा से भी जाना गया है। **उद्गाता** हेतु सदुपासना-सम्बन्धित मन्त्रों का समूह जहाँ उपलब्ध होता है, उसे **सामवेद** के नाम से इंगित किया गया है। इस भाग में निहित मन्त्र उपासना द्वारा आत्मिक-शक्ति प्रदान करने वाले हैं। **ब्रह्मा** नामक ऋत्विक् का कार्य यज्ञ का पूर्ण रूप से निरीक्षण करना है, जिससे अनुष्ठान में किसी भी प्रकार की त्रुटि न हो। **ब्रह्मा** को समग्र वेदों का ज्ञाता होना चाहिए, किन्तु उसका विशिष्ट वेद **अथर्ववेद** है। इस प्रकार चारों ऋत्विजों की क्रियाओं और उनमें निहित विषय वस्तु के अनुसार वेद-व्यास ने सम्पूर्ण वेदमन्त्रराशि को चार भागों में विभक्त किया है, जिस पर सम्पूर्ण विद्वत्समाज एकमत दिखाई पड़ता है।

महर्षि वेदव्यास ने पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु ऋषियों को क्रमशः वेदराशि का ज्ञान प्रदान किया और इन ऋषियों ने अपने-अपने शिष्य-प्रशिष्यों को इन वेदों का अनेकों प्रकारान्तर से बोध कराया, जिसके फलस्वरूप वेद की अनेक शाखाओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका उल्लेख भगवान् पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक भाष्य में **एकाशतमध्वर्यु शाखाः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, नवधाथर्वणो वेदः** इन पंक्तियों द्वारा किया है, जिसके अनुसार 101 शाखाएँ यजुर्वेद की, 21 ऋग्वेद की, 1000 सामवेद की और 9 अथर्ववेद की बतलाई गई हैं। मुख्यतः वेद के चार भेद ही स्वीकार किये गये है, जिन्हें **ऋग्, यजुः, साम** एवं **अथर्ववेद** के नाम से जाना जाता है।

वेदाङ्ग-परिचय - वेदों के अध्ययन-अध्यापन की प्रक्रिया को सर्वसाधरण के लिए बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से कालान्तर में जिन छोटे-छोटे ग्रन्थों की रचना की गई उन्हें वेदाङ्ग के नाम से अभिहित किया जाता है। स्वयं

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेद भी इस बात के प्रमाण हैं। **ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मो षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च** के अनुसार भी षडङ्ग वेद का अध्ययन मानव के लिए आवश्यक है, ऐसा निर्देश दिया गया है। वेदाङ्गों में शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्द और ज्योतिष माने गये हैं [1]। इन ग्रन्थों का अध्ययन वेद के उच्चारण, वेदार्थ-निर्णय और उनके अनेक क्रिया-कलापों के निर्देशन की विधा बताने के लिए है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि शब्द के श्रवण मात्र से वेदार्थ बोध सम्भव नहीं होता, इसलिए वेदों के अध्ययन के लिए वेदाङ्गों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है, जैसे कि विभिन्न अङ्गों में निहित विषय के आलोडन से स्पष्ट हो जाता है-

कल्प - कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम् [2] के अनुसार वेद विहित कर्मों की आद्योपान्त कल्पना जिस शास्त्र में की गयी है, उसी कल्पनाशास्त्र को कल्प कहा जाता है। सायणाचार्य ने भी कल्पशास्त्र की विशद व्याख्या करते हुए कहा है **कल्प्यते समर्थ्यते याग-प्रयोगो यस्मिन्** [3] अर्थात् याग प्रयोगों की कल्पना सामर्थ्य जिस शास्त्र में निहित हो, वह शास्त्र **कल्प** कहा जाता है। इस प्रकार **कल्पः शास्त्र** एक ओर वैदिक धारा की चिन्तन परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है, वहाँ दूसरी ओर परवर्ती साहित्य की सम्बन्ध-शृंखला में उपजीव्य होने का भी गौरव प्राप्त करता है। **कल्प** शब्द अपने में एक विशिष्ट अर्थ संजोये हुए है। विधि, नियम, न्याय, कर्म और आदेशादि अर्थों का एक समन्वित रूप उसमें अनुस्यूत है।

---

1. शिक्षा क्रल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः।
   छन्दो विच्छित्तिरित्येष षडङ्गो वेद उच्चते॥
   माण्डूक्योपनिषद् - 1/1/5
2. ऋ. प्रा. वर्गद्वयवृत्तौ विष्णुमित्रः, पृ. 13
3. ऋ. भा. भू. पृ. 50

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सूत्र उस संक्षेपात्मक भावपूर्ण निर्दोष चिन्तन शैली की विधा है, जिसमें सन्देह हीन व्यापकता की पूर्ण क्षमता विद्यमान है[1]। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कल्पसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय वेद मूलक है, जिसमें यज्ञीय विधि-विधानों के विस्तार पूर्वक विवेचन के साथ-साथ मानवीय आचार संहिता का विश्लेषण और जीवन को सुसंस्कृत व्यक्तित्व से सम्पन्न बनाने के लिए संस्कारों के विधान और विधियों का साङ्गोपाङ्ग प्रस्तुतीकरण है। इन ग्रन्थों में मानव जीवन के चतुर्विध पुरुषार्थ का मार्गदर्शन अनुपम विधि द्वारा कराया गया है।

यद्यपि **चरण-व्यूह के शिक्षा-कल्पो व्याकरणं...**[2] इस कथन में कल्प को दूसरे स्थान में रखा गया है, किन्तु सूत्रों की उपयोगिता की दृष्टि से इस सूत्रशास्त्र का स्थान प्रथम है, क्योंकि बिना सूत्रों की सहायता के याज्ञिक विधि-विधान का ज्ञान नितान्त असम्भव है। इसीलिए कल्पसूत्रों के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कुमारिल भट्ट ने कहा है कि याज्ञिक लोग कल्प की सहायता मात्र से ही यज्ञों का सम्पादन कर सकते हैं[3]। इस सत्यनिष्ठ परिकल्पना के आधार पर कल्पसूत्रों के रचयिताओं ने स्वयं वेद शाखाओं के संस्थापक होने का गौरव प्राप्त किया है। जिसकी परिपुष्टि के लिए हिरण्यकेशीय सूत्र की टीका में महादेव ने लिखा है-**अनेन च सूत्रभेदे शाखाभेदः, शाखाभेदे च सूत्रभेद इति परस्पराश्रयः** आचार्य सायण ने ऋग्वेद भाष्यभूमिका में **कल्पस्तु आश्वलायनापस्तम्बबौधायनादिसूत्रम्**[4] यह कहकर कल्प का यज्ञ के प्रयोगों के लिए महत्त्व का प्रतिपादन **कल्प्यते समर्थ्यते**

---

1. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
   अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥
   विष्णुधर्मोत्तरपुराण - 3/5/1
2. माण्डूक्योपनिषद् - 1/1/5
3. वेदादृतेऽपि कुर्वन्ति कल्पैः कर्माणि याज्ञिकाः।
   न तु कल्पैर्विना केचिन्मन्त्रब्राह्मणमात्रकात्॥
4. ऋग्वेद भाष्यभूमिका पृ. 50

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यागप्रयोगोऽत्रेति इस व्युत्पत्ति द्वारा किया है। जिसके कारण कल्पसूत्र ग्रन्थ वेद के प्रतिपाद्य विषय और यज्ञीय विधान के महत्त्वपूर्ण विवेचक कहे जा सकते हैं[1]।

कल्पसूत्र शास्त्र को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया गया है- **श्रौत-सूत्र** और **स्मार्त-सूत्र**। **श्रौत** शब्द का अर्थ है-श्रुति अर्थात् वेद से सम्बद्ध यज्ञ-याग, जिसके सम्पादन के लिए श्रौत सूत्रों में **आवहनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि** नामक तीन अग्नियों का आधान, अग्निहोत्र तथा विभिन्न प्रकार के सोमयागों[2] का वर्णन किया गया है। मुख्यतः दर्शपौर्णमास, आग्रहणेष्टि चातुर्मास, गवामयन, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, नरमेध, सोमयाग और सौत्रामणि याग का विधि-विधान निर्दिष्ट किया गया है। स्मार्त सूत्रों को **गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र** नाम से दो भागों में विभक्त किया गया है। गृह्यसूत्र का प्रतिपाद्य विषय षोडश संस्कारों का विधान है, जिनके सम्पादन के लिए अनुष्ठान, आचार तथा यागों के विधि-विधान का वर्णन किया गया है। धर्मसूत्र में धार्मिक नियमों, प्रजा तथा प्रजापालक के कर्त्तव्य और अधिकारों का विस्तार से चित्रण किया गया है। इसके साथ ही साथ सामाजिक संरचना के विकास क्रम को ध्यान में रखते हुए उनमें सौमनस्य और कर्त्तव्यबोध के उद्देश्य से वर्णाश्रम व्यवस्था का विशद रूप से चित्रण किया गया है,जो आज भी हमारे लिए मान्य है।

शुल्बसूत्र की परिगणना भी **कल्पसूत्र** के रूप में की गई है। माधवीय धातुवृत्ति के अनुसार यह शब्द **शुल्ब** (माने) धातु से निष्पन्न है। जो परस्मैपदी और चुरादिगणीय है। **कात्यायनशुल्बसूत्र**[3] की टीका में विद्याधर शर्मा ने **शुल्बे माने शुल्बनं शुल्बः** ऐसा अर्थ स्वीकार किया

---

1. ऋग्वेद भाष्यभूमिका पृ. 50
2. सप्तसोमसंस्था-अग्निष्टोम अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम।
3. कात्यायनशुल्बसूत्र, पृ. 545 - 7/39

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। वेबर ने स्वसम्पादित श्रौतसूत्र में आपस्तम्बशुल्बसूत्र के **त्रिधातु पञ्चधातु वा शुल्बं करोति** सूत्र को उद्धृत करते हुए शुल्ब का अर्थ **शुल्वं रज्जुमित्यर्थः** किया है। शुल्बशास्त्र, श्रौतयज्ञ में कुण्ड, मण्डप और वेदियों के परिमाप के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो अत्यन्त व्यवस्थित तथा रेखा गणित का ऐतिहासिक ग्रन्थ प्रमाणित हुआ है। अतः **शुल्ब** का अर्थ है- मापसूत्र अर्थात् नापने का डोरा। इस प्रकार शुल्ब सूत्र का प्रतिपाद्य विषय है- वेदियों का नापना, उनके लिए उपयुक्त स्थान चुनना तथा उनकी रचना आदि। शुल्व सूत्र भारतीय ज्यामिति के प्राचीन ग्रन्थ हैं।

ऋग्-यजु-साम और अथर्ववेद से सम्बन्धित कल्प सूत्रों की परिगणना निम्न प्रकार से की गई है-

वेद	ऋग्वेद	शुक्लयजुर्वेद	कृष्णयजुर्वेद	सामवेद	अथर्ववेद
श्रौतसूत	आश्वलायन शांखायन	कात्यायन	बौधायन आपस्तम्ब सत्याषाढ़ मानव-वैखानस भारद्वाज-वाराह	लाट्यायन द्रह्यायण जैमिनीय मशक	बैतान
गृह्यसूत्र	आश्वलायन शांखायन कौषितकि	पारस्कर	बौधायन आपस्तम्ब सत्याषाढ़ मानव-काठक	गोमिल श्वादिर जैमिनि	कौशिक
धर्मसूत्र	विष्णु वसिष्ठ		बौधायन आपस्तम्ब सत्याषाढ़	गौतम	
शुल्वसूत्र		कात्यायन	बौधायन आपस्तम्ब मानव		

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्याकरण – वेदाङ्ग व्याकरण का मुख्य उद्देश्य वेद के स्वरूप की रक्षा करना है। क्योंकि वेद में जिन शब्दों और शब्दरूपों का प्रयोग हुआ है, भाषा के विकास क्रम में परवर्ती काल में उन से भिन्न शब्दों और शब्द-रूपों का प्रयोग होता रहा है। अतः परवर्ती व्यक्ति वेद को गलत न समझे, इसके लिए वैदिक शब्दों की सिद्धि व्याकरण से पुष्ट होनी भी अत्यावश्यक है, अन्यथा व्याकरण विरुद्ध मानकर उसे गलत सिद्ध करने की सम्भावना हो जाती है। उदाहरणार्थ- लौकिक संस्कृत में **गृह्णामि** शब्द का प्रयोग मिलता है, जबकि वेद मन्त्र में **गृभ्णामि** शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। पाणिनि का सूत्र यह बतलाता है कि ग्रह् धातु के हकार को भकार आदेश होता है [1], अतः वैदिक प्रयोग भी उचित है। किन्तु यदि व्याकरण न हो तो इस प्रयोग को गलत ठहराया जा सकता है। इस प्रकार वेद के वास्तविक स्वरूप की रक्षा का दायित्व व्याकरण पर आता है, जिसके कारण महाभाष्यकार पतञ्जलि आदि मनीषियों ने वेद की रक्षा को व्याकरण का प्रमुख प्रयोजन माना है [2]।

इसी प्रकार वेद मन्त्रों का **ऊह** करना भी व्याकरण का प्रयोजन माना गया है। जैसे अग्नि देवता के हवन के लिए यदि वेदमन्त्र उपलब्ध है और अन्य याग में सूर्य देवता का हवन करने का विधान प्राप्त होता है, तो सूर्य देवता के लिए मन्त्र का ऊह करना होता है। यह कार्य व्याकरण के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है [3]। व्याकारण के अन्य प्रयोजन भी आचार्यों ने निर्दिष्ट किये हैं [4]।

इस प्रकार वेदाङ्ग व्याकरण का वेद से अत्यन्त निकटवर्ती सम्बन्ध माना गया है, अन्य वेदाङ्ग वेद के उपकारक हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं,

---

1. हग्रहोर्भश्च्छन्दसि। पा. सू. ..6 3/1/84 पर वार्षिक 5265
2. रक्षार्थं वेदानामध्येऽयं व्याकरणम्। सिद्धान्तकौमुदी, महाभाष्य -1/1/1
3. 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' के आधार पर 'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि' इसका ऊह किया गया है।
4. रक्षोहणमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्। (महाभाष्यपस्पशांह्निक)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किन्तु व्याकरण वेद के स्वरूप की रक्षा करने के कारण अत्यन्त उपकारक होने से प्रमुख वेदाङ्ग माना गया है। अत एव भाष्यकार पतञ्जलि **प्रधानञ्च षट्सु अङ्गेषु व्याकरणम्** कह कर इसकी प्रधानता को स्वीकार करते हैं।

सामान्यतः व्याकरण शास्त्र का विषय शब्द ही माना गया है, किन्तु अर्थ के बिना शब्द का होना सम्भव नहीं है। अतः शब्द की व्युत्पत्ति के साथ-साथ अर्थ का चिन्तन भी व्याकरण का विषय बन जाता है। इसीलिए व्याकरण का दार्शनिक पक्ष प्रवृत्त हुआ और शब्द के साथ-साथ अर्थ का विवेचन भी व्याकरण का एक प्रमुख उद्देश्य बना। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्याकरण से निष्पन्न शब्द किस अर्थ में साधु हैं और किस अर्थ में असाधु, इसका निर्णय भी व्याकरण ही करता है। उदाहरण के तौर पर **घोड़े** के अर्थ में **अश्व** शब्द साधु है, **अस्व** शब्द असाधु है, यह उचित है, पर निर्धन अर्थ में **अस्व** शब्द भी साधु है। इस प्रकार शब्द साधुत्व का विचार अर्थ चिन्तन से भी निश्चित रूप से जुड़ा हुआ है। अतः व्याकरण शास्त्र केवल **शब्द** शास्त्र ही नहीं है, प्रत्युत शब्दार्थ सम्बन्ध का प्रतिपादक शास्त्र भी है। इससे व्याकरण शास्त्र का वेदाङ्ग के रूप में महत्त्व और भी बढ़ जाता है, क्योंकि यह वेद के स्वरूप के साथ-साथ उसके अर्थ निर्धारण में भी उपयोगी वेदाङ्ग है और वेदाङ्ग में भी व्याकरण को मुख्य अङ्ग **मुख** का स्थान दिया गया है [1]।

निरुक्त - वस्तुतः वेद के अर्थ का निर्वचन निरुक्त का विषय है। धातु-रूप प्रकृति से प्रत्यय की कल्पना कर वर्णागम, वर्णविपर्यय और वर्णविकार आदि के द्वारा शब्द का निर्वचन करना वेदाङ्ग निरुक्त का मुख्य उद्देश्य है [2]। सामान्यतः व्याकरण और निरुक्त का प्रतिपाद्य विषय

---

1. 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'।
पाणिनीय-शिक्षा-41

2. वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक ही प्रतीत होता है, किन्तु दोनों के प्रतिपाद्य में सूक्ष्म अन्तर विद्यमान है, जिसे स्पष्ट करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। निरुक्तकार सभी शब्दों की उत्पत्ति धातु से ही स्वीकार करते हैं। अत एव यास्काचार्य ने कहा है कि **सर्वाणि नामानि आख्यातजातानि**[1] यह निरुक्त का प्रमुख सिद्धान्त है, अर्थात् भाषा में प्रयुक्त सभी शब्द धातु से निष्पन्न हैं। अतः सब की निरुक्ति सम्भव है। किन्तु यह मान्यता व्याकरण शास्त्र में पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं की गई है। व्याकरण-सिद्धान्त के अनुसार बहुत से शब्द अव्युत्पन्न भी हैं, जिनका निर्वचन करना आवश्यक नहीं है। इसीलिए पाणिनि ने प्रातिपदिक संज्ञा दो सूत्रों की है[2], जिसके अनुसार कुछ शब्द कृदन्त या तद्धितान्त होने के करण प्रतिपादिक कहलाते हैं और बहुत से अन्य शब्द जो इन श्रेणियों में नहीं आते वे केवल अर्थवान् होने के कारण ही प्रतिपादिक कहलाते हैं। इस प्रकार निरुक्त की दृष्टि सर्वांश में व्याकरण ने स्वीकार नहीं की है, यह एक महत्त्वपूर्ण बात समझनी चाहिए।

यद्यपि कालक्रम के अनुसार यास्क का निरुक्त पाणिनि से पूर्व का है, फिर भी निरुक्त के विषय में कहा गया है कि यह शास्त्र व्याकरण की कमी को पूरा करता है। इसका अभिप्राय यह है कि पाणिनि पूर्व के व्याकरण-शास्त्रों में जो अर्थ चिन्तन हुआ था, उसे पूरा करने में निरुक्त ने अपनी भूमिका निभाई है[3]।

दूसरा अन्तर यह है कि निरुक्त केवल वैदिक शब्दों का ही निर्वचन करता है, किन्तु व्याकरण वैदिक शब्दों के साथ-साथ लौकिक शब्दों की भी व्युत्पत्ति दर्शाता है। अतः व्याकरण का क्षेत्र निरुक्त के क्षेत्र

---

1. निरुक्त -1/4
2. 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' 'कृत्तद्धितसमासाश्च'।
   पाणिनीय अष्टाध्यासी-1/2/45, 1/2/46
3. तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यंस्वार्थसाधकं च।
   निरुक्त

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से व्यापक सिद्ध होता है। किन्तु ये दोनों वेदाङ्ग वेद के अर्थ निर्धारण में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं, यह तो सर्वथा निश्चित है। वस्तुतः व्याकरण शब्दरूप को आधार मानकर अर्थज्ञान में प्रवृत्त करता है, जबकि निरुक्त अर्थ को मुख्य आधार मानकर शब्द का निर्धारण करता है [1]। इस दृष्टि से व्याकरण शब्द शास्त्र तथा निरुक्त अर्थप्रधान शास्त्र है।

ज्योतिष – वेद की परिभाषा का विवेचन करते हुए आचार्य सायण ने बतलाया है कि **जो शब्द राशि इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार के उपायों का विवेचन करे, वह वेद कहलाता है** [2]। वेद के षडङ्गों में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त और छन्द, ये पाँच अङ्ग मानव मात्र के इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहारों का प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से प्रतिपादन नहीं कर पाते; केवल ज्योतिष शास्त्र एक ऐसा शास्त्र है, जो मानव जीवन में इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट के परिहारों का सांगोपाङ्ग विवेचन करता है। इसलिए इस शास्त्र का वेदाङ्ग शास्त्रों में सर्वोपरि स्थान माना जाता है।

ज्योतिषां ग्रहनक्षत्राणां गतिमधिकृत्य कृतं शास्त्रम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार आकाशस्थ ग्रहों की गतिविधियों पर आधारित शास्त्र को ज्योतिष शास्त्र कहते हैं। किन्तु इसे ज्योतिष शास्त्र की परिभाषा नहीं माना जा सकता, क्योंकि सामुद्रिक शास्त्र, शकुन शास्त्र, रमल शास्त्र और अङ्क-विद्या जैसी ज्योतिष की सुप्रसिद्ध एवं लोकोपयोगी शाखाओं में ग्रह नक्षत्रों की कहीं पर चर्चा नहीं मिलती। इसलिए मध्यकाल के आचार्यों ने **ज्योतिषां शास्त्रम्** अर्थात् जीवन की गतिविधियों पर प्रकाश डालने वाला शास्त्र **ज्योतिष** शास्त्र कहलाता है, ऐसी व्युत्पत्ति की है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जिस शास्त्र के द्वारा जीवन में घटित होने

---

1. अर्थं नित्यं परीक्षेत । निरुक्त
2. 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः'। ऋग्वेद भाष्यभूमिका

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाली घटनाओं का पूर्वानुमान करने के लिए शास्त्रीय नियमों का प्रतिपादन किया गया हो और जो शास्त्र जन्म-जन्मान्तरों में किये गये शुभाशुभ कर्मों का इस जन्म में मिलने वाला फल बतलाता हो, वह शास्त्र ज्योतिष शास्त्र कहा जाता है। वस्तुतः जैसे दीपक अंधकार में रखे हुए पदार्थों का सुस्पष्ट रूप से बोध कराता है, उसी प्रकार यह शास्त्र जन्म-जन्मान्तरों में अर्जित कर्मों के फल को सुस्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करता है [1]।

इस शास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमें अङ्कगणित, बीजगणित, रेखागणित, गोलीय रेखा-गणित, ठोस ज्यामिति, त्रिकोणमिति, चापीय त्रिकोणमिति, चलन-कलन, चलन-व्यकलन, गतिविज्ञान, स्थिति विज्ञान, पञ्चाङ्ग गणित, प्रतिमा गणित, दीर्घ वृत्तगणित, जातक शास्त्र, वाजिक शास्त्र, मूहूर्त शास्त्र, प्रश्नविद्या, वास्तु विद्या, अङ्क विद्या, अङ्क विद्या, वायुविज्ञान, वृष्टि विज्ञान, रत्न विज्ञान आदि अनेक जीवनोपयोगी विषयों का भली-भाँति विचार किया जाता है। वस्तुतः कर्मवाद या कर्म-सिद्धान्त दर्शन की सब से महत्त्वपूर्ण देन है। कर्मवाद के अनुसार कर्म तीन प्रकार के माने गये हैं- (क) सञ्चित (ख) प्रारब्ध (ग) क्रियमाण। अनेकानेक योनियों में पर्यटन करते हुए आत्मा ने उपचार द्वारा जितने भी कर्म अर्जित किये हैं, उन सब के संकलित रूप को सञ्चित कहते हैं, क्योंकि सञ्चित कर्म परस्पर विरोधी भी होते हैं। इसलिए उनका फल एक समय में एक साथ नहीं भोगा जा सकता। अतः कर्म फल एक के बाद एक के क्रम से भोगना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि सञ्चित कर्मों में से जितने कर्मों का फल भोगने के लिए जीव को यह जन्म लेना पड़ता है, उतने कर्मों को प्रारब्ध कहते हैं तथा जीव वर्तमान जीवन में जिन कर्मों को कर रहा है या जिन्हें भविष्य में करेगा, उन सब कर्मों को क्रियमाण कहते हैं। इस प्रकार कर्मवाद का सिद्धान्त यह बतलाता

---

1. यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पक्तिम्।
व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव॥

लघुजातक - 1/3

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है कि सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण, इन त्रिविध कर्मों से अनुबन्धित होने के कारण प्राणी प्रलयकाल तक या मोक्षकाल तक बार-बार जन्म-मृत्यु के क्रम में बँधी हुई अनेकानेक योनियों में पर्यटन करते हैं।

कर्म-सिद्धान्त को भली-भाँति जानने के लिए सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण इन त्रिविध कर्मों का वर्तमान जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह जानना परमावश्यक है। इसे जाने बिना न तो कर्मवाद को ही जाना जा सकता है और न ही पुनर्जन्मवाद को ही जाना जा सकता है। आश्चर्य की बात यह है कि वेद के षडङ्गों में से शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त और छन्द, ये पाँच महत्त्वपूर्ण अङ्ग सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों का क्या-क्या, कैसा-कैसा, कितना-कितना और कब-कब फल मिलेगा, इसका प्रतिपादन नहीं करते। वैदिक दर्शन के कर्म और पुनर्जन्म से सम्बन्धित सिद्धान्तों को हृदयङ्गम करने के लिए त्रिविध कर्मों के फल को भली-भाँति जानने की बात ज्योतिष शास्त्र के प्रणेताओं के मन-मस्तिष्क में प्रारम्भ से थी और उन्होंने इस शास्त्र के मानक ग्रन्थों में त्रिविध कर्मों के फल को जानने के लिए त्रिविध पद्धतियों का विकास किया। ये पद्धतियाँ हैं- (क) योग पद्धति (ख) दशा पद्धति (ग) गोचर पद्धति। यहाँ योग शब्द का अर्थ **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** या **योगः कर्मसु कौशलम्** नहीं है। योग शब्द का निर्वचन करते हुए प्रश्नमार्गकार ने कहा है- **ग्रहाणां स्थितिभेदेन पुरुषान् योजयन्ति वै। फलैः कर्मसमुद्भुतैरिति योगाः प्रकीर्तिताः**। अर्थात् ग्रहों की राशि और भाव में स्थिति के माध्यम से जो जीवन के घटना क्रम को जन्म-जन्मान्तरों में अर्जित कर्मों से जोड़ता हो, उसे योग कहते हैं। यह शब्द ग्रह-योग शब्द का संक्षिप्त रूप है। फलित ज्योतिष के ग्रन्थों में प्रतिपादित हजारों प्रकार के योगों के द्वारा जीव के सञ्चित कर्मों के फल का पूर्वानुमान किया जाता है।

भारतीय ज्योतिष-शास्त्र में अनेक प्रकार की दशाओं का प्रतिपादन और विवेचन मिलता है। इनमें तीन दशाएँ प्रमुख हैं - (क) विंशोत्तरी

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(ख) अष्टोत्तरी और (ग) योगिनी। इन त्रिविध दशाओं के माध्यम से जीव के प्रारब्ध कर्मों का फल जाना जाता है। गोचर में मुख्य रूप से राशियों में ग्रहों की स्थिति, वर्ष - फल और प्रश्न-कुण्डली निर्माण के द्वारा जीवन, में घटित होने वाली घटनाओं का सही-सही अनुमान करने के लिए अनेक प्रकार के नियम और उपनियमों का प्रतिपादन और विवेचन मिलता है। गोचर के सभी नियम और उपनियम क्रियमाण कर्मों के फल को सूचित करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ज्योतिष-शास्त्र अन्य पाँचों वेदाङ्ग शास्त्रों की तुलना में इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट परिहार के उपायों के साथ-साथ सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण त्रिविध कर्मों के फल का प्रतिपादन करने के लिए शास्त्रीय नियमों के माध्यम से वैदिक ज्ञान को भली-भाँति जानने और समझने में हमारी अधिकतम सहायता करता है।

छन्द - काव्यशास्त्र और **साहित्य** के ग्रन्थों में छन्द, अलङ्कार और रीति का अपना वैशिष्ट्य है, बिना इनके साधे भाषा शैली में ओज-प्रसाद और माधुर्यादि गुणों का आविर्भाव हो ही नहीं पाता है। वस्तुतः न केवल लौकिक-काव्य में अपितु वेदों को लेकर अद्यतन के समस्त वाङ्मय को आत्मसात् करने के लिए इन छन्द - अलङ्कारादि का प्रयोग नितान्त आवश्यक माना जाता रहा है। इसीलिए वेदाध्ययन की उपकारिता के कारण आचार्य राजशेखर ने अलङ्कार शास्त्र को वेद का अङ्ग माना है[1]। उन्होंने काव्य-शास्त्रीय विधा को वेदाङ्ग के रूप में पृथक् से निरूपित कर उसे प्रसिद्ध विद्याओं -**तर्क-त्रयी-वार्ता और दण्डनीति** का निष्कर्ष स्वीकार किया है[2]। **काव्य** में शब्द और अर्थ के द्वारा

---

1. उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः।
ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानादेवार्थानवगतिः॥

2. पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः।
या हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भावाभिव्यक्ति में सौन्दर्य सजोने और उसे हृदयङ्गम करने योग्य बनाने में आलङ्कारिक शब्दावली का प्रयोग छन्दोबद्ध शैली के रूप में किये जाने पर बल दिया है, तब ही तो काव्य- पाठ आह्लादादि गुणों को स्पन्दित कर पाता है, ऐसा आलङ्कारिक आचार्यों ने संकेत दिया है।

अलङ्कार-शास्त्र के क्षेत्र में **छन्दःशास्त्र** का अपना वैशिष्ट्य है, जिसे वेदाङ्गों की परिगणना में **छठा** किन्तु महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस विधा के अनुपालन से भावों के निबद्धन में सरसता और सुस्पष्टता झलकती है, जिसमें ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और पादबद्ध मात्राओं का स्पष्ट संकेत मिलने से स्वर-भङ्ग, उच्चारण में त्रुटि और अर्थ के अनर्थ होने की सम्भावना स्वतः नष्ट हो जाती है। इसी विशेषता के कारण वेदाध्ययन की शिक्षण-परम्परा में गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण विधि को सर्वोत्कृष्ट पद्धति के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसमें अर्थ-बोध के साथ-साथ उच्चारण की प्रक्रिया पर विशेष बल दिया गया है। उच्चारण में स्वर-प्रक्रिया की प्रधानता होने के कारण इसे भाषा वैज्ञानिकों ने ध्वनि विज्ञान के नाम से व्यवहृत कर एक नये आयाम के रूप में उपस्थित किया है, जिसमें हृदय के स्पन्दन के लिए शब्द-शक्ति के साथ-साथ अर्थ की प्रधानता पर विशेष बल दिया गया है। इसी विशिष्टता के कारण पाणिनीय शिक्षा में वेद के अर्थ और विषय को जानने के लिए जिन वेदाङ्गों का उल्लेख किया गया है, उसमें छन्द को वेद (काव्य) के **पाद** [1] की उपमा दी गई है, जो प्रत्येक जीवधारी के लिए आत्म-स्वाभिमान का सम्बल है, जिसके लिए व्यवहार में **अपने पैरों पर खड़े होने** का निर्देश दिया जाता है। इससे प्रभावित हो परवर्ती आचार्यों ने वैदिक भाषा को **छन्द** नाम से व्यवहृत किया है।

अपौरुषेय शब्दावली को बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से आचार्यों ने जिन वेदाङ्गों का उल्लेख किया है, उनके महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए मानव शरीर के प्रमुख अङ्गों से उनकी तुलना की है।

---

1. 'छन्दः पादौ तु वेदस्य'।

पाणिनीय शिक्षा- 41

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तुलनात्मक दृष्टिकोण की इस प्रक्रिया में शिक्षा-कल्प-व्याकरणादि वेदाङ्गों की उपयोगिता के आधार पर काव्य-शास्त्रीय रचना परम्परा में इनके महत्त्व को विवेचित करते हुए छन्द को शेष पाँच का आधार माना है। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शरीर का सम्पूर्ण भार पावों पर होता है, अर्थात् **पाद** शरीर के आधार स्तम्भ के रूप में मान्य हैं, उसी प्रकार छन्द नामक वेदाङ्ग भी अपने वैशिष्ट्य के कारण वेदार्थ परिज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण माना गया है, जैसा कि पाणिनीय शिक्षा में वेदाङ्गों की अपनी-अपनी विशेषता के कारण इनके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए मानव-शरीर के महत्त्वपूर्ण अङ्गों से तुलना की है-

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते[1]॥

पाणिनीय शिक्षा का यह कथन शरीर के आधारभूत **पाद** की उपमा से प्रारम्भ होता है, उसके पश्चात् हाथ, नेत्र, श्रोत्र, प्राण और अन्त में मुख पर विराम पाता है। किसी भी पदार्थ ज्ञान के लिए अथवा सांसारिक उपभोग के लिए शरीर के इन समस्त अङ्गों का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। इन में छन्दःशास्त्र या **पाद** की प्रथमतः चर्चा उसके महत्त्व को स्पष्टतः प्रतिपादित कर रही है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह **छन्द** क्या है? तो इसका उत्तर देते हुए विद्यावाचस्पति पंडित मधुसूदन ओझा ने **छन्दःशिक्षा** की समीक्षा करते हुए कहा है- **छन्द पद्य, अवष्टम्भ, वर्ण, मात्रा, गण, यति और संकेत इन आठ तत्त्वों के परिज्ञान से ही 'छन्दःशिक्षा' का सही ज्ञान होता है[2]**, अर्थात् किसी भी छन्द के मार्मिक विवेचन में ये आठ

---

1. पाणिनीय शिक्षा - 41-42
2. छन्दः पदमवष्टम्भो वर्णो मात्रा गणो यतिः।
समयश्चेति विज्ञेयाश्छन्दः शिक्षा बुभुत्सुभिः॥
छन्दशिक्षा (परिभाषा-अधिकार)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तत्त्व महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्यों ने कहा है कि इन आठ में से सात तत्त्व तो छन्दस्स्वरूप के **ज्ञान** के लिए आवश्यक हैं और अन्तिम संकेत रूप केवल शास्त्र-विज्ञान में ही उपयोगी होता है। इस छन्द को **जाति** भी कहते हैं। किसी भी मात्रा से नियत अवयव विशेषों के सन्निवेष से विहित मर्यादा **छन्द** है। व्यवस्थित मात्राओं से ही कोई वस्तु उत्पन्न होती है और वह व्यवस्थित मात्रा प्रकृत में वस्तु जनक होने से **जाति** कहलाती है, अथवा यह कहा जा सकता है कि सभी वस्तुएँ **मात्रा** व्यवस्था से भिन्नता को प्राप्त होती हैं, अर्थात् मात्रा व्यवस्था से ही वस्तु भिन्न-भिन्न रूप से उत्पन्न होती है। अतः मात्रा व्यवस्था ही **जाति** है तथा मात्राओं से निष्पन्न गुरु-लघु व्यवस्था से जो वस्तु भिन्न होती है, उसे **वृत्त** कहते हैं। अतः **जाति** मर्यादा तथा **वृत्त** नामक मर्यादा **छन्द** कहलाती है। इसको इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है- **जाति** मर्यादा में वस्तु स्थिति का कारण **मात्रा** व्यवस्था है और **वृत्त** मर्यादा में वस्तु-स्थिति का कारण नियत स्थानों में स्थित मात्राओं से निष्पन्न गुरु-लघु व्यवस्था है। यद्यपि जाति मर्यादा या **वृत्त** मर्यादा दोनों की वस्तु-स्थिति का कारण **मात्रा** ही है, क्योंकि लघु-गुरु व्यवस्था मूलक वस्तु स्थिति में गुरु-लघु व्यवस्था नियत स्थानों में अवस्थित मात्राओं पर ही निर्भर है, तथापि **स्वर** विशेष समष्टि मात्रा **जाति** के कारण है तथा **स्वर** विशेष व्यष्टि रूप मात्राओं को लेकर **जाति और वृत्त** दोनों में भेद हो जाता है। गद्य, पद्य और गेय भेद के तीन भागों में विभक्त छन्द में पद्य रूप छन्द को **वृत्त** और **जाति** दो प्रकार का माना है। नियत वर्ण व्यवस्था से निष्पन्न छन्द **वृत्त** कहलाता है, तथा नियत मात्रा व्यवस्था से निष्पन्न छन्द **जाति** कहलाता है [1]।

---

1. पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत्॥

छन्दशिक्षा-1

हलायुध ने भी कहा है-
पद्यं चतुष्पादं तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
एकदेशस्थिता जातिर्वृत्तं लघुगुरुव्यवस्थितम्॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

छन्दते रोचते आह्लादयते इति छन्दः[1] इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह शब्द **छन्द प्रीणने** धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है-रोचना, प्रीति बढ़ाना अथवा करना। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य-पाठ के समय श्रवण में एक विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति के लिए छन्दोबद्ध योजना का विधान किया गया है, जिसमें लय और गति के लिए स्वरों में आरोह-अवरोह, तीव्र-मन्द और विलम्बित गतियाँ उत्पन्न होती हैं, जिसके कारण **छन्द** शब्द को **छादयतीति छन्दः**[2], इस व्युत्पत्ति के द्वारा निरूपित किया गया है। जिसका अर्थ है- छादन (वस्त्र) जैसे शरीर को छिपाता है, उसी प्रकार मन्त्र रूपी शरीर का यह छन्द **छादन** करता अर्थात् छिपाता है। इस व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ की अवधारणा ब्राह्मण ग्रन्थों में निर्दिष्ट उस वृत्तान्त से मिलती है जिसके अन्तर्गत **छादन** क्रिया की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मृत्यु से डरकर देवताओं ने अपने को छन्दों से आच्छादित कर लिया, यही छन्दस् का छन्दस्त्व है[3]। देवताओं का छन्द द्वारा अपने को आच्छादित करने या छन्द में प्रविष्ट हो जाने का उल्लेख उस प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है, जहाँ ऋषि-कवि देवताओं की स्तुति, प्रार्थना तथा उनका स्वरूप वर्णन छन्दात्मक रचना में करना उपयुक्त और अच्छा

---

1. अमरकोश - 3/2/20 पर क्षीर स्वामी की टीका-
   छन्दः, (स्) क्लीब (चन्दयति आह्लादयति चन्द्यतेऽनेन वा।
   चदि आह्लादे + "चन्देरादेश्च छः।"
   उणादि - 4/218 इति असुन् चस्य छश्च। शब्दकल्पद्रुम पृ. 466

2. मन्त्राः मननात् छन्दांसि छादनात्।
   पिङ्गलाचार्यविरचितं छन्दः शास्त्रम् - पृ. 5 निरुक्त 7/12

3. ते देवाः छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन्' तच्छदसां छन्दस्त्वम् ।
   तैत्तिरीय-संहिता -5/6/6/1

   देवा असुरान् हत्वा मृत्योरबिभयुस्ते छन्दांस्यपश्यंस्तानि प्राविशंस्तेभ्यो यद्यदछदयत्तेनात्मानमाछादयन्त तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ।
   मैत्रायणी - संहिता -3/4/7

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समझता था। या यों कहा जा सकता है कि इस काल में रचित कोई भी रचना ऐसी नहीं थी, जो छन्दोबद्ध न हो अर्थात् कोई भी मन्त्र बिना **छन्द** का नहीं होता है। छन्द का मन्त्र से नियत सम्बन्ध है। **छन्दोभ्यः समाहृत्य समाम्नाताः** इस व्युत्पत्ति द्वारा निरुक्ताचार्य यास्क ने **छन्द** शब्द से मन्त्रों का ही तात्पर्य स्वीकारा है। अत एव छन्द को निमित कर **सावित्री** देवता से सम्बन्धित ऋचाओं का **गायत्री** नाम पड़ा है। **गायन्तं त्रायते इति गायत्री** [1], अर्थात् जप उपासना करने वालों की रक्षा करता है और **सविता (सावित्री)** प्रेरयिता-अच्छे कर्मों में प्रेरणा करने वाला है। **गायत्री** देवी भी है, किन्तु उसके आधार पर नहीं अपितु **छन्द** को लेकर यह नाम है। अतः हर-एक मन्त्र ऋषि-छन्द-देवता से घटित होता है।

शौनक विरचित **ऋक् प्रातिशाख्य** आदि ग्रन्थों में छन्दों का विशद विवेचन किया गया है, फिर भी छन्दःशास्त्र के आचार्य के रूप में **पिंगल** को ही विशेष ख्याति प्राप्त है, जिन्होंने वेदाङ्ग के रूप में **छन्द** को स्वतन्त्र रूप से विवेचित किया है। वैदिक मन्त्रों में विविध छन्दों का प्रयोग किया जाता है, जिनमें मुख्य गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, बृहती, उष्णिक् और जगती नामक छन्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं [2]। ऋग्वेद की ऋचाओं में एक से लेकर आठ पाद तक पाये जाते हैं। एक पाद वाली ऋचा को एक पदा और दो पाद वाले को द्विपदा कहते हैं। गायत्री और उष्णिक् आदि में तीन पाद होते हैं। अनुष्टुप, बृहती, त्रिष्टुप् और जगती में चार पाद होते हैं तथा बृहती में पाँच पाद व महापंक्ति में छः पाद होते हैं [3]।

---

1. छन्दः शास्त्रम् -पृ. 2
2. गायत्री त्रिष्टुप् जगत्यनुष्टुप्पङ्क्तया सह।
   बृहत्युष्णिहा ककुप्सूचीभिःशम्यन्तु त्वा॥
   शुक्लयजुर्वेद - 23/23
3. ऋग्वेद - 8/47

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यास्काचार्य ने **छन्दते त्रायते असुरेभ्य इति छन्दः**[1] यह व्युत्पत्ति देकर छन्द शब्द को इस प्रकार विवेचित किया है कि वेदों के स्वरवर्णात्मक रूप जिससे सुरक्षित हों, उसे छन्द कहते हैं। प्रायः समस्त वैदिक साहित्य में अक्षरों की गणना करके किसी मन्त्र के पादं की निर्मिति होती है, यथा गायत्री, अनुष्टुप्, पंक्ति और महापंक्ति के सभी पादों में प्रत्येक के आठ अक्षर होने चाहिए। किन्तु छन्दों के सूक्ष्मतम अवलोकन से ज्ञात होता है कि छन्दों में अपवाद स्वरूप कहीं-कहीं एक या दो अक्षर कम या अधिक भी होते हैं। जिस पाद में एक अक्षर कम होता है, उसे **निचृत्** तथा जिसमें एक अक्षर अधिक होता है, उसे **भूरिक** नाम से अभिहित किया जाता है। इसी प्रकार दो अक्षर कम होने पर **विराट्** और अधिक होने पर **स्वराट्** कहते हैं। इस सम्बन्ध में **छन्दःशास्त्र** के मर्मज्ञों का यह मानना है कि अक्षरों के अभाव को पूरा करने के लिए तथा स्वर-भङ्ग से उत्पन्न दोष के परिहार के लिए निम्नलिखित निर्देशों के अनुसार पद-पाठ करना चाहिए-

(क) सन्धियों का विभाजन और विग्रह होने पर दो अक्षर करके पढ़ना, यथा-गायत्री मन्त्र में **वरेण्यम्** को **वरेणि यम्** पढ़ना[2]।

(ख) **र** के संयुक्त अक्षर होने पर स्वर-भक्ति से उसे अलग कर के दो अक्षर बना लेना, यथा-शीर्षा का शीरेषा[3]।

(ग) **ए** का अयि, **ओ** का अवु, **ऐ** का अए और **औ** को अओ करना।

(घ) **ए** तथा **ओ** के परवर्ती लुप्त अकार को भी अलुप्त मानकर पढ़ना।

---

1. निरुक्त - पृ. 565
2. इयादिपूरणः (पिंगलछन्दः सूत्र)
3. द्र. सम्प्रदायप्रबोधिनी। शिक्षा श्लोक - 86

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(ङ) **आ** को अअ पढ़ना तथा **आम्** को अअम्।

इन नियमों के अनुपालन से ऋचाओं के स्वरवर्णात्मक रूप संरक्षित होते हैं तथा शब्दों के विन्यास और भावों के निबद्धन में लालित्य झलकने लगता है। प्रत्येक छन्द में अक्षर और मात्राएँ सुनिश्चित होने से शब्द-शक्ति की सार्थकता स्वतः सिद्ध है, यथा-गायत्री छन्द में 24 अक्षर होने चाहिए, जिस मन्त्र का गायत्री छन्द है, यदि उस मन्त्र का एक भी अक्षर न्यूनाधिक हो जाये तो यह ज्ञात हो जाता है कि यह मन्त्र अशुद्ध हो गया है, अशुद्ध होने पर अशुभ फलदायी है, अतः मन्त्र का जाप नहीं करना चाहिए। यही छन्दों से मन्त्र की सुरक्षा है।

छन्दोभङ्ग होने से स्वर में परिवर्तन आ जाता है, जिसके कारण मन्त्र का अर्थ ही बदल जाता है। शुभ-फलदायक मन्त्र अनिष्ट के कारण बन जाते हैं, जैसा कि **इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व**[1] में त्वष्टा की बाधा प्रसिद्ध है। यहाँ **इन्द्र-शत्रुः = इन्द्रस्य शत्रुः** में षष्ठी तत्पुरुष समास अभीष्ट था, परन्तु यह अर्थ (इन्द्र का शत्रु विजयी हो) तभी सिद्ध हो सकता था, जब स्वर-वैदिक प्रक्रिया के अनुसार यह पद अन्तोदात्त हो। किन्तु ऋत्विज्ञों के प्रमाद से इस यज्ञ में उक्त मन्त्र का उच्चारण अन्तोदात्त की जगह आद्युदात्त हो गया। इस प्रकार स्वर परिवर्तन से **इन्द्र-शत्रुः** यह वाक्यांश तत्पुरुष समास से बहुब्रीहि समास में परिणत हो गया। जिसके कारण इस मन्त्र का अर्थ **इन्द्रः शत्रुः यस्य** अर्थात् इन्द्र ही है, जिसका घातक उसकी वृद्धि हो-यह अर्थ हुआ। 'स्वर' के इस परिवर्तन से मन्त्रार्थ में परिवर्तन हो जाने से **इन्द्र के नाशक** के स्थान पर इन्द्र के सहयोगी मित्र 49 रुद्रगण उत्पन्न हुए, जिसके फलस्वरूप

---

1. दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा,
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति,
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

व्याकरणमहाभाष्यम् (शास्त्रप्रयोजनाधिकरणम्) - पृ. 31

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वृत्रासुर के लिए यह मन्त्र अनिष्टकारक सिद्ध हुआ। इस अनिष्ट के परिहार के लिए ही छन्दोबद्ध ऋचाओं के सम्यक् पाठ का निर्देश आचार्यों ने किया है, जिससे उच्चारण-दोष का परिहार हो सके।

दोष-परिहार की इस परम्परा का कालान्तर में लौकिक साहित्य के सर्जन में अनुसरण किया गया। लौकिक छन्दों को मात्रिक और वार्णिक नाम से दो भागों में विभक्त किया गया है। मात्रिक छन्द में आर्या-उपजाति आदि की परिगणना की जाती है, जब कि अनुष्टुप्, द्रुतविलम्बित आदि वार्णिक छन्द कहे जाते हैं। इन्हीं लौकिक छन्दों के आधार पर परवर्ती युग में दोहा, सवैया, चौपाई आदि अनेक नये छन्द का **हिन्दी साहित्य** में सृजन हुआ है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि छन्दोबद्ध भावों के बिना काव्य का सृजन नहीं किया जा सकता है।

शिक्षा - वेदाध्ययन की प्रक्रिया में गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण विधि की प्रधानता शिक्षणाभ्यास की विधा को पठन-पाठन (अध्ययन-अध्यापन) के रूप में दो भागों में विभक्त करती है अर्थात् अक्षर के वाचन को पठन और गुरुमुखोच्चारण के बाद शिष्य के अनूच्चारण को पाठन (अध्ययन) कहा जाता है, जिसमें स्वर, स्थान, प्रयत्न और काल आदि की अपेक्षा होती है। बिना स्वर प्रक्रिया की जानकारी के शब्दों में ठीक-ठीक उच्चारण की परिकल्पना मूर्खता को तो प्रदर्शित करती ही है, साथ ही साथ भावाभिव्यक्ति में भी अस्पष्टता झलकाती है, जिससे अर्थ के अनर्थ की सम्भावना प्रबल होती दिखाई देती है। इस तरह के दृष्टान्त अनेक स्थलो पर देखे जा सकते हैं, जहाँ महान वैयाकरण भी स्थान प्रयत्न का शास्त्रीय ज्ञान रखने पर तदनुकूल उच्चारण का प्रशिक्षण बाल्यकाल में न मिलने से तथा भ्रष्ट उच्चारण करने वाले प्रान्तीय भाषा के उच्चारण से दूषित उच्चारण करने वाले अध्यापक से पढ़ने के कारण तथा स्वयं श्रेष्ठ उच्चारण करने वाले व्यक्ति या गुरु के उच्चारण की ओर ध्यान न देने से या अहं भाव से जब संस्कृत बोलते समय **काव्यम्** को **कब्बम्** कहते हैं, तो उनकी विद्वत्ता कराहने लगती है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वराज्यम् को **श्वराज्यम्** कहने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है, क्योंकि **श्व** कुत्ते का वाचक है।

इन समस्त दोषों के परिहार हेतु ऋषि-मुनियों ने वेदाङ्ग के रूप में निरुक्त, व्याकरण और छन्दःशास्त्र के अध्ययन की अनिवार्यता पर बल दिया है, वहीं प्रथम वेदाङ्ग के रूप में उच्चारण की प्रक्रिया का बोध कराने के उद्देश्य से अनूच्चारण की प्रक्रिया को **शिक्षा** शब्द से व्यवहृत किया है। उनके मतानुसार वेद ग्रन्थों के पढ़ने से कोई भी **वेदज्ञ** नहीं कहलाता, **वेदराशि** को जानने के लिए गुरु के सान्निध्य की परमावश्यकता है, जो अपने ज्ञानालोक से बुद्धि की संशयात्मक प्रवृत्ति का प्रक्षालन कर शिष्य को आलोकित करने का प्रयत्न करता है, जिसमें गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण की विधा सर्वश्रेष्ठ मानी गई है, न कि पुस्तक वाचन की कला की, जिससे वेद-राशि का स्पष्ट बोध नहीं हो सकता। वेद-राशि के वास्तविक अर्थ को जानने के उद्देश्य से अथवा उच्चारणगत दोष से मन्त्र के अर्थ का अनर्थ न हो जाय, इस निमित्त नियमों का उल्लेख जिन ग्रन्थों में किया गया है, उन्हें वेदाङ्ग की परिगणना में समाहित करते हुए **शिक्षा** शब्द से व्यवहृत किया गया है।

ऋग्वेदभाष्यभूमिका में आचार्य सायण ने **शिक्षा** शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि **जो स्वर-वर्णादि के प्रकार का उपदेश दे, वह शिक्षा है**[1]। इसी तरह के भाव तैत्तिरीयोपनिषद् के शांकरभाष्य में भी गुम्फित किये गये हैं, जो **शिक्षा** शब्द में निहित उद्देश्य को स्पष्ट करते हैं। भाष्यकार ने सीखने की प्रक्रिया को **शिक्षा** शब्द से व्यवहृत करते हुए कहा है कि **जिससे वर्णादि का उच्चारण सीखा जाय उसे शिक्षा कहते हैं अथवा जो सीखे जाँय वे वर्ण आदि ही**

---

1. स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा।
ऋग्वेद भाष्यभूमिका पृ. 49

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिक्षा हैं [1]। शिक्षा के स्थान पर प्रयुक्त **शीक्षा** शब्द वैदिक प्रक्रिया के अनुसार है, जहाँ व्याकरण की अपेक्षा स्वराघात से बचने के लिए छन्द:शास्त्र के नियमों पर अधिक बल दिया गया है। कालान्तर में आचार्य राजशेखर ने भी वर्णों के स्थानादि के आधार पर उच्चारण निष्पत्ति को **शिक्षा** कहा है [2]।

शिक्षार्थ के इस व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ के आधार पर कहा जा सकता है कि वेदाध्ययन की प्रक्रिया में शुद्धोच्चारण और शुद्ध स्वर पर विशेष ध्यान दिया जाता था, क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि शब्द-शक्ति का सामर्थ्य शुद्ध-उच्चारण क्षमता के पूर्ण विकास पर ही निर्भर करता है, जिसमें अविनाशी और अनादि ब्रह्म स्वयमेव विराजते हैं। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में **वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म** [3] कह कर परब्रह्म स्वरूप परमेश्वर को **वाग्-देवता** के नाम से व्यवहृत किया है। इस उपनिषद् वाक्य का समर्थन हमें पाणिनीय-शिक्षा में मिलता है, जिसमें आचार्य ने वेद-पाठ करने वाले ब्रह्मचारी के विषय में कहा है कि- **शुद्ध उच्चारित वर्ण इस लोक में प्रयोक्ता को प्रतिष्ठा व सम्मान प्रदान कराते ही हैं, साथ ही साथ ब्रह्मलोक में भी उसे प्रतिष्ठित करते हैं** [4]। क्योंकि सद्गुरु से विधिवत् अध्ययन और अभ्यास किए हुए

---

1. शिक्षा शिक्ष्यतेऽनयेति वर्णाद्युच्चारणलक्षणम्। शिक्ष्यन्त इति वा शिक्षा वर्णादय:। शिक्षैव शीक्षा। दैर्घ्यं छान्दसम्।

   शाङ्करभाष्य तैत्तिरीयोपनिषद् -1/2

2. तत्र वर्णानां स्थान-करण प्रचलादिभि: निष्पत्ति:।

   शिक्षा काव्य मीमांसा- वि. अ

3. बृहदारण्यकोपनिषद्-4/1/2

4. एवं वर्णा: प्रयोक्तव्या नाऽव्यक्ता न च पीडिता: ।
   सम्यग्वर्ण-प्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ।।

   पाणिनि-शिक्षा-31

   सुतीर्थादागतं व्यक्तं स्वाम्नायं सुव्यवस्थितम् ।
   सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते ।।

   पाणिनि-शिक्षा-51

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तथा परम्परानुसार उच्चारित वेद मन्त्रों के विशुद्ध रूप में स्वयमेव ब्रह्मा विराजते हैं। पाणिनि का यह कथन इस बात की ओर इंगित करता है कि विचाराभिव्यक्ति में शुद्ध शब्द-शक्ति का ही महत्त्व है, जिसके लिए अधिगम की प्रक्रिया के समय आचार्य को स्वर के उच्चारण स्थल और शब्द-शक्ति के स्वरूप के विषय में अध्येता को स्पष्ट बोध कराना चाहिए।

इसके लिए शिक्षाविदों की यह धारणा मान्य है कि अधिगम की प्रक्रिया में प्रशिक्षक को सैद्धान्तिक कम और प्रायोगिक अधिक होना चाहिए, जिसके लिए शिक्षा व्यवस्था में **भद्रं वद गृहेषु च। भद्रं वद पुत्रैः**[1]। के द्वारा व्यवहार (प्रायोगिक) पक्ष को विकसित करने का निर्देश दिया है। क्योंकि उस समय प्रथम अक्षर प्रदाता के रूप में माता-पिता को गुरु पदवीं से अलङ्कृत किया जाता था, तत्पश्चात् अन्तेवासी के रूप में गुरु का सान्निध्य प्राप्त कर बालक वेदाध्ययन में प्रवृत्त होता था। वेदाध्ययन की प्रक्रिया में गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण की विधा को अपनाया जाता था, जिसमें सैद्धान्तिक पक्ष कम और प्रायोगिक विधा पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था। सम्भवतः इसके पीछे यही उक्ति दिखलाई देती है कि सिद्धान्त जानने वाला प्रायोगिक अभ्यास के बिना गलत बोलता है तथा प्रयोग-ज्ञ व्याकरण न जानकर भी शुद्ध बोलता है। इसी को देखकर पतञ्जलि कहते हैं - **व्याकरण में निष्णात भी गलती करते हैं, प्रयोग में अवैयाकरण भी शुद्ध बोलते हैं, फिर तो व्याकरण का अभ्यास निरर्थक है**[2]। इससे यह परिलक्षित होता है कि सम्यक्-ज्ञान की सार्थकता सम्यक् प्रयोग पर निर्भर है। इस मूलभूत तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही शिक्षाविदों ने सैद्धान्तिक पक्ष के साथ-साथ प्रायोगिक पक्ष को भी अधिगम की प्रक्रिया में महत्ता प्रदान की है।

---

1. ऋग्वेद - 2/43/2

2. दृश्यते कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणा, अकृतप्रयत्नाश्च अनर्थकं व्याकरणमिति।
(पस्पशा आ,)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि केवल **ऊकालोज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः**[1], **उच्चैरुदात्तः**[2], **नीचैरनुदात्तः**[3], **समाहारः स्वरितः**[4], **मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः**[5] संज्ञा सूत्रों के कथन मात्र से स्वर और स्वर-प्रक्रिया का बोध नहीं हो जाता, इसी तरह **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्, ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्** अथवा **अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः, इचुयशानां तालु, ऋटुरषाणां मूर्धा, लृ-तु-ल- सानां दन्ताः, उ-पूपध्मानीयानामोष्ठौ...**[6] इत्यादि सूत्रों के सैद्धान्तिक स्वरूप को जानने मात्र से शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं हो पाता, इसके लिए गुरु-मुख से श्रुत शब्दों का अनूच्चारण विधि द्वारा अभ्यास करना पड़ता है, तब कहीं जा कर शब्दों के व्यवहार अर्थात् ठीक-ठीक उच्चारण में सफलता प्राप्त होती है, इसी विधा को अधिगम की प्रक्रिया में **प्रायोगिक विधा** के नाम से अभिव्यक्त किया जाता है।

वर्णों के उच्चारण की विधा को प्रायोगिक रूप से स्पष्ट करते हुए पाणिनीय-शिक्षा में कहा गया है कि- **जिस प्रकार बाघिन अपने बच्चों को मुँह में लेकर चलते समय इस बात का विशेष ध्यान रखती है कि न तो बच्चों को दाँत चुभें और न ही वे मुँह से नीचे गिर पड़ें, ठीक इसी प्रकार वर्णों का उच्चारण करते समय उनका स्थानादि सही हो और स्पष्ट स्वरित हों, किन्तु ऐसा न हो कि अक्षर मुँह के अन्दर ही रह जाए या फिर बाहर गिरे हुए से दिखाई पड़ें**[7]। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए महर्षि

---

1. अष्टाध्यायी सूत्र - 1/2/27
2. अष्टाध्यायी सूत्र - 1/2/29
3. अष्टाध्यायी सूत्र - 1/2/30
4. अष्टाध्यायी सूत्र - 1/2/31
5. अष्टाध्यायी सूत्र - 1/1/8
6. अष्टाध्यायी सूत्र - 1/1/9 वृत्ति
7. यथा व्याघ्री हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
   भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान् प्रयोजयेत्॥

   पाणिनीय-शिक्षा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

याज्ञवल्क्य ने निर्देश दिया है कि-वर्णों का उच्चारण मधुर हो तथा स्पष्ट (व्यक्त) होते हुए भी अन्य वर्णों से प्रभावित न हो। सभी वर्णों का उच्चारण इस प्रकार किया जाय कि वे एक-दूसरे से मिले हुए न प्रतीत हों। जिस प्रकार मदमत्त गज एक पद रखने के बाद दूसरा कदम बड़ी सावधानी से रखता है, उसी प्रकार एक पद बोलने के पश्चात् दूसरे पद को बड़ी सावधानी के साथ बोलना चाहिए, जिससे सभी पद स्पष्ट और पृथक्-पृथक् दर्शनीय हों। इसके लिए धर्म व्याख्याता आचार्य याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट निर्देश दिया है-**वेदाध्ययन के समय गुरुजन को मन्त्रोच्चारण की शुद्धता पर विशेष बल देते हुए शिक्षार्थी को सर्वप्रथम शुद्धोच्चारण और विधि पूर्वक स्वर प्रक्रिया में दक्षता प्रदान करनी चाहिए**[1]।

वर्णोच्चारण से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ **शिक्षा-शास्त्र** के रूप में उपलब्ध होते हैं। राजशेखर ने **'वर्णानां स्थानकरणप्रयत्नादिभिर्निष्पत्ति-निर्णयिनी शिक्षा आपिशलीयादिका** [2]' इस उक्ति द्वारा अपने **ग्रन्थ-काव्य मीमांसा** में संकेत दिया है कि आपिशलीयादि में प्रयुक्त आदि शब्द **आपिशलीय शिक्षा** की प्राचीनता व्यक्त करता है। किन्तु आपिशलि से पहले काशकृत्स्न ने **शिक्षा-शास्त्र** से सम्बन्धित ग्रन्थ लिखा था, जिसका उद्धरण **इति काशकृत्स्नशिक्षा** के निर्देश के साथ प्राप्त होता है। ईसा पूर्व पञ्चम शताब्दी से पूर्व आपिशलि और उनसे पूर्व काशकृत्स्न हुए थे, इस बात की पुष्टि **पाणिनिना कथमवगतम् एते साधव इति अपिशलेन पूर्व वैयाकरणम्**[3] पाणिनि के इस कथन द्वारा तथा **पाणिनीयं व्याकरणम् आपिशलं व्याकरणम् काशकृत्स्नं व्याकरणम्**[4] इस कथन

---

1. मधुरं च न चाव्यक्तं व्यक्तं चापि न पीडितम्।
   स नाथस्यैकदेशस्य न वर्णाः संकरं गताः॥
   यथा सुमत्तनागेन्द्रः पदात्पदं निधापयेत्।
   एवं पदं पदाद्यंतं दर्शनीयं पृथक् पृथक्॥
2. काव्य-मीमांसा
3. व्याकरणमहाभाष्य (प्रथमाह्निक)
4. व्याकरणमहाभाष्य (प्रथमाह्निक)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से उत्तरोतर प्राचीनता सिद्ध होती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सम्भवतः राजशेखर को आपिशलीय शिक्षा से पूर्व के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो पाये होंगे, इसीलिए उन्होंने इस ग्रन्थ का आदि ग्रन्थ के रूप में उल्लेख किया होगा।

चन्द्रगोमी[1] का शिक्षा-सूत्र उपलब्ध है। प्रायः काश्यप, गालव, सैनिक, भारद्वाज आदि सभी शाब्दिकों ने शिक्षा-ग्रन्थ लिखे थे, क्योंकि व्याकरण में आदेश तथा विकार आदि का नियामक सवर्ण संज्ञा है, उस सवर्ण संज्ञा का आधार स्थान, प्रयत्न का ज्ञान है, वह शिक्षा का विषय है। **शिक्षा-शास्त्र** वर्ण के उच्चारण की प्रक्रिया बताता है, उच्चारण की विधि बताता है और उसके प्रयोग पर बल देता है। **पाणिनीय-सूत्र** के आधार पर विरचित तथा सर्वत्र उपलब्ध श्लोकात्मक शिक्षा निर्देश देती है कि बोलने की इच्छा होने पर आत्मा बुद्धि से अर्थसम्पृक्त होकर मन से जुड़ता है, मन शरीर की अग्नि पर आघात करता है, अग्नि तीव्र होने पर मारुत कुण्डलिनी चक्र से ऊपर उठता है, गर्मी तीव्र होने पर हवा का ऊपर उठना स्वाभाविक है, वह हवा मुख में आती है और मुख की छत से टकराती है, फिर जिह्वा उसे स्थान विशेष से स्पृष्ट, ईषत् स्पृष्ट आदि प्रयत्नों के द्वारा मिलती है, वह उन स्थानो से टकराकर वर्ण का प्रादुर्भाविका बनती है, फिर विवार, संवार आदि बाह्य प्रयत्न उस वर्ण को स्पष्ट और शुद्ध रूप में परिणत करते हैं[2]। इस तरह शुद्ध बोलने की इच्छा रखने वालों को आत्मा, बुद्धि, मन, कायाग्नि, प्राणवायु और उसको उचित प्रयत्न के साथ स्थान से समाहित होकर जोड़ने तथा नाद, महाप्राण, अल्पप्राण आदि स्पष्टतादायक बाह्य प्रयत्नों से सम्पृक्त करना

---

1. 'संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास (द्वितीय खण्ड-वेदाङ्ग) - पृ. 303
2. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया।
   मनः कायाग्निमाहत्य स प्रेरयति मारुतम्।
   स उदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः
   वर्णान् जनयते...॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चहिए। ऐसा न करने पर वर्ण पीड़ित होता है, वह सुप्रयुक्त नहीं होता है और न ही वह इच्छित अर्थ को व्यक्त करने वाला होता है। अतः प्रयोग द्वारा इन दोषों का परिहार किया जा सकता है। परिहार की इस विधा का नाम भारतीय ग्रन्थों में **गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण विधि** व्यवहृत किया गया है। वेदाध्ययन की प्रणाली गुरुमुख से है, अतः वेद का सार्थक नाम अनुश्रव है- **अनु-पश्चात् श्रूयते य स अनुश्रवः** अर्थात् वह वस्तु जो गुरु के उच्चारण के अनन्तर सुनी, जाय और उसी के समान उसका ठीक उच्चारण करे। इसीलिए लिपिबद्ध ग्रन्थ के आधार पर वेदाध्यायी पाठक निन्दनीय कहा गया है[1]।

गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण की विधा को जिन ग्रन्थों में निरूपित किया गया है, उन ग्रन्थों को वेदाङ्ग की परिगणना में प्रथम स्थान प्रदान करने के साथ ही साथ नासिका[2] की उपमा से व्यक्त किया गया है। इस उपमा के पीछे सम्भवतः उनकी धारणा यह रही होगी कि जिस प्रकार सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गों के परिपुष्ट और सुन्दर होने पर भी नासिका के बिना मानव शरीर नितान्त घृणित तथा अशोभनीय दिखाई पड़ता है, ठीक उसी प्रकार **शिक्षा** नामक वेदाङ्ग से रहित वेदपुरुषकृति नितान्त अशोभनीय और बीभत्स जान पड़ती है। वास्तविकता भी यही है, बिना शब्द के ठीक-ठीक उच्चारण की कला को जाने शब्द और वाक्यांशों का वाचन सम्भव ही नहीं, हास्यात्मक भी जान पड़ता है, फिर **वेद-राशि** के अर्थ-ज्ञान की तो बात ही समझ नहीं आती अर्थात् शब्दार्थ-बोध और वाक्यांशों के भाव ग्रहण करने की परिकल्पना तो

---

1. गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठस्थः षडेते पाठकाधमाः।।
पाणिनीय-शिक्षा - 32

2. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।।
पाणिनीय-शिक्षा-41-42

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सु-दूर प्रतीत होती है। इसीलिए उच्चारण प्रक्रिया के अवबोध के लिए वेदाङ्गों में **शिक्षा** को प्रमुखता दी गई है। तैत्तिरीयोपनिषद् के आरण्यक भाग में शिक्षा की आवश्यकता को विवेचित करते हुए कहा है- **अथ शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरो मात्रा बलम् साम सन्तान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः वर्ण अकारादि स्वर उदात्तादिः मात्रा ह्रस्वादिः साम शब्देन-सम्यम्। सन्तानः इति** [1]। तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में **वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, और सन्तान**, ये शिक्षा के छः तत्त्व निर्दिष्ट हैं। इनमें पाणिनीय शिक्षा ने 63 (संवृत अ को विवृत अ से पृथक् मानने पर 64) वर्ण बतलाए हैं- **त्रिः षष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः**। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन प्रमुख स्वर हैं। इन के अवान्तर भेदों और उपभेदों का ज्ञान भी आवश्यक है। स्वरों के उच्चारण में लगने वाला काल मात्रा कहलाता है। ये तीन हैं- ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। ह्रस्व को एक मात्रिक दीर्घ को द्विमात्रिक और प्लुत को त्रिमात्रिक माना गया है। वर्णोच्चारण में होने वाले प्रयत्न तथा उसके उच्चारण को बल कहते हैं। प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं- आभ्यन्तर और बाह्य, तथा कण्ठ और तालु आदि उच्चारण स्थान निर्दिष्ट किए गए हैं। इनके ज्ञान के आधार पर वेदनिरूपित शिक्षा (उच्चारण प्रक्रिया-शिक्षण) को समझा जा सकता है। अतः शब्द-प्रयोग में प्रथमतः उच्चारण प्रक्रिया के ऊपर विशेष ध्यान देना आवश्यक हो जाता है, अन्यथा उच्चारण दोष से विवक्षित अर्थ का अवबोध नहीं होता। जैसे, एक बार अर्थ में दन्त्य सकार युक्त **सकृत्** शब्द के स्थान पर तालव्य शकार प्रयुक्त **शकृत्** शब्द के उच्चारण से अर्थ दोष परिलक्षित होता है। इसलिए उच्चारण प्रक्रिया की शुद्धि के लिए शिक्षा देना अत्यन्त उपादेय है। इसी उद्देश्य से वेद के अङ्गों में **शिक्षा** वेदाङ्ग का सूत्रपात और विकास हुआ है।

वेद के सन्दर्भ में शिक्षा-वेदाङ्ग के विकास क्रम में प्रातिशाख्यों का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा, छन्द तथा व्याकरण जिन सामान्य

---

1. तैत्तिरीयारण्यकोपनिषद् - 7/2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं, वेद की विभिन्न शाखाओं के सन्दर्भ में उन नियमों का पालन किस प्रकार हो, यह निर्देश हमारे प्रातिशाख्य ग्रन्थ प्रदान करते हैं। यदि शिक्षा ग्रन्थ सिद्धान्त के प्रतिपादक होने के कारण वेदाङ्ग है, तो प्रातिशाख्य उसके व्यवहार पक्ष के स्पष्टबोधक हैं। अतः मन्त्र-विशेष में कहाँ किस वर्ण का उच्चारण उस-उस शाखा में किस प्रकार किया जाय आदि विषय प्रातिशाख्यों के माध्यम से ही स्पष्ट होते हैं।

वेद के अर्थ निर्धारण की दृष्टि से भी प्रातिशाख्य ग्रन्थों का अपना महत्त्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है। क्योंकि उस-उस शाखा के पद-पाठ और क्रम-पाठ आदि का विचार भी प्रातिशाख्यों में प्रस्तुत किया गया है। मन्त्र के अर्थ-बोध में पद विभाजन का अपना विशेष महत्त्व है। कहाँ किस प्रकार का पदच्छेद हो, यह जब तक निर्धारित नहीं होता, तब तक अर्थ-ज्ञान की प्रक्रिया सुलभ नहीं होती। अतः भाषा- शास्त्र की दृष्टि से भी प्रातिशाख्यों के विवेचन को विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया है।

शिक्षा, छन्द और व्याकरण जैसे महत्त्वपूर्ण वेदाङ्गों का वेद के साथ जो सम्बन्ध है, उसे प्रायोगिक रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रातिशाख्य ग्रन्थ भी वेदाङ्ग की ही श्रेणी में समाविष्ट माने गये हैं[1]। विभिन्न काल में विभिन्न ऋषियों के द्वारा रचे गये प्रातिशाख्य वस्तुतः वेदाङ्ग-शिक्षा के विकास क्रम को ही दर्शाते हैं, फिर भी उनका क्षेत्र उस-उस शाखा तक सीमित होने के कारण उन्हें उतनी प्रसिद्धि प्राप्त नहीं हुई जितनी शिक्षा या व्याकरण-शाखा को प्राप्त हुई।

वैदिक शिक्षा के सन्दर्भ में शिक्षा के प्रायोगिक पक्ष को उजागर करने में प्रातिशाख्य ग्रन्थों का अपना एक विशेष स्थान है। अतः उन से

---

1. शिक्षा छन्दो व्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम्।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम्॥

ऋक्प्रातिशाख्य उव्वट-भाष्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राप्त शिक्षा की दृष्टि का समादर भी वैदिक शिक्षा के सन्दर्भ में अवश्य विचारणीय तथ्य है।

किन्तु व्यापक अर्थ में **शिक्षा-शास्त्र** का केवल उच्चारण-परिशुद्धि ही फल नहीं है, जैसा कि लैटिन भाषा के **Educatum** शब्द से निष्पन्न ऑग्ल भाषा में **Education** शब्द से व्यक्त होता है, जो **E** अर्थात् अन्तर्निहित शक्ति और **Duco** अर्थात् विकसित करना, से स्पष्ट होता है, जिसका अभिप्राय मानव में निहित मूल प्रवृत्तियों का प्रक्षालन कर उसे बाहर की ओर विकसित करना है। इससे यही लक्षित होता है कि वेद का जो सार्वभौमिक उद्देश्य है, वही शिक्षा का भी उद्देश्य होना चाहिए। तभी **वेद-राशि** की सार्थकता सिद्ध हो पायेगी। **सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति** के आधार पर ऐहिक-पारलौकिक समस्त नि:श्रयेस् वेद से ही सिद्ध होते हैं। अङ्गी के समस्त उद्देश्य ही अङ्ग के भी होते हैं। इस औचित्य के आधार पर शिक्षा का भी उद्देश्य सार्वभौमिक होना चाहिए, जिससे सत्य वचन के अभ्यास के साथ-साथ मानवोचित सामाजिक गुणों की भी अभिवृद्धि हो सके। अत: उच्चारण विधि के निर्देशन के साथ-साथ शब्द-बोध के कारणों, गुरु-शिष्य के सम्बन्धों, अध्ययन की सरल प्रणाली, छात्रों के मनोभावों के साथ उनको प्रबुद्ध करने की शैली तथा सामाजिकता का अध्ययनार्थी में सञ्चार करने आदि की प्रक्रिया का भी **शिक्षा-शास्त्र** का उद्देश्य होना चाहिए। उपनिषत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था का आलोडन करने से भी इसी बात की पुष्टि होती है, जिसमें मानव के आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ ज्ञान पक्ष को विकसित करने का प्रयास किया गया है। नैतिक-उत्थान के साथ-साथ सामाजिकता का पाठ पढ़ाने का प्रयत्न किया गया है। **शिक्षेद्दमं दानं दयामिति** [1] के अनुसार तत्कालीन शिक्षा में दम, दान और दया जैसे आत्मिक गुणों का भी प्रावधान सन्निविष्ट था। इस सम्बन्ध में उनकी धारणा थी कि मानव में आत्मिक गुणों के विकास के अभाव में आधिभौतिक, आधिदैविक और

1. बृहदारण्यकोपनिषद् - 5/2/3

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आध्यात्मिक शक्तियों की उन्नति सम्भव नहीं है। एतदर्थ इन तीनों की आपूर्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय शिक्षारूपी संसाधन के द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता है। जिसके लिए सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में शिक्षा के माहात्म्य **सत्यं शिवं सुन्दरम्** का ही उल्लेख किया गया है।

सत्यं शिवं सुन्दरम् की परिणति दुःखत्रयाभिधात पर आधारित है, जिसे शिक्षारूपी संसाधन के बिना सिद्ध करना सम्भव नहीं है। इसकी परिपुष्टि तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षा-वल्ली में उपदिष्ट उस विधान से होती है, जिसमें व्यक्ति के आध्यात्मिक और भौतिक जीवन के उत्कर्ष का विधान प्रतिपादित किया गया है। जिसके अनुसार वैदिक शिक्षा का शुभारम्भ बुद्धि और मन को सत्प्रेरणाप्रदाता स्वरूप ज्योतिर्मय-पुञ्ज भगवान् भास्कर की अर्चना गायत्री-मन्त्र द्वारा की जाती है, जिससे सत्संकल्पित बुद्धि का विकास होता है। जैसा कि गायत्री-मन्त्र द्वारा सविता देवता से अभ्यर्चना करते हुए कहा गया है कि **हम सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर के उस श्रेष्ठ तेज का ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धि को प्रकाशित करते हुए हमारे अन्तःकरण में व्याप्त समस्त संशयों का छेदन कर अभ्युदय और निःश्रेयस् को प्रदान करे**[1]। श्री अविनाश चन्द्र बोस ने अपनी पुस्तक **The Call of the Vedes** में गायत्री मन्त्र का आंग्लभाषा में **We contemplate that adorable glory of the Dity- That is in the earth, the sky, the heaven! he stimulated our mental power.** ऐसा अनुवाद किया है। इससे यही ध्वनित होता है कि वैदिक महर्षियों ने आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों के अभिघात के लिए आध्यात्मिक शाक्ति को उन्नत करने का उपदेश दिया है और यह तभी सम्भव हो सकता है, जब मन की शुद्धता और बुद्धि की तीव्रता के लिए चित्त की एकाग्रता पर बल दिया जाय। चित्त की एकाग्रता को बनाए रखने के

---

1. भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
ऋग्वेद - 3/62/10, यजुर्वेद - 3/35, सामवेद - 1462

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिए यज्ञ और दान के साथ-साथ तप का संयोग भी अनिवार्य है। इसी उद्देश्य से आध्यात्मिकता के विकास के लिए शारीरिक-वाङ्मय और मानस तप की प्रधानता पर बल दिया गया है। महर्षियों ने फलाकांक्षा रहित होकर निष्कामभाव द्वारा परम श्रद्धाभाव से अनुष्ठित उक्त त्रिविध तप को **सात्त्विक** कहा है। इन तीनों प्रकार के तपों के अनुपालन से प्राणीमात्र में शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक शक्ति का विकास होता है, इसी दृष्टि से मन्त्र-द्रष्टा महर्षियों ने भगवान् भास्कर की सतत उपासना का विधान किया है। जिससे अनुष्ठाता के मन-मालिन्य के प्रच्छालन द्वारा सात्त्विक गुणों से संवेष्टित आध्यात्मिकता का विकास सम्भव हो पाता है। इसीलिए **शिक्षावल्ली** में स्वाध्यायी को तपोमय जीवन व्यतीत करने का निर्देश दिया है। इन निर्देशों को दृष्टिगत रखते हुए ही वैदिक शिक्षा पद्धति की सम्पूर्ण प्रक्रिया के विवेचनार्थ निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार करना अपेक्षित है।

(क) वेद में शिक्षा-तत्त्व।

(ख) वेद-निर्दिष्ट शिक्षा-प्रयोजन।

(ग) वेदकालीन शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया।

(घ) वेदानुगामी शास्त्रों में वैदिक शिक्षा का विवेचन।

(ङ) आधुनिक शिक्षा-शास्त्र में वैदिक शिक्षा-पद्धति का प्रभाव और समीक्षा।

इन आयामों में वैदिक शिक्षापद्धति के अनुबन्ध चतुष्टय का प्रतिपादन स्वतः ही हो जाता है।



Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अध्याय 2

वेद में शिक्षा तत्त्व तथा 'वेद' शब्दार्थ

वेद का स्वरूप मुख्यतः विधिनिषेधात्मक है। मानव जीवन के उपयोगी कर्त्तव्यों और सिद्धान्तों का विधान तथा मानव व्यक्तित्व के विकास में बाधक तत्त्वों का निषेध वेद का विषय परिलक्षित होता है। वेद **संहिता और ब्राह्मण** [1] भाग के रूप में विभक्त माना गया है। संहिता भाग में मन्त्रों का विधान किया गया है, जब कि ब्राह्मण भाग को तीन भागों में विभक्त कर गृहस्थ, वानप्रस्थ और जीवनोपयोगी विषय-वस्तु के प्रतिपादन के साथ-साथ ज्ञान पक्ष को भी क्रमशः स्थान प्रदान किया गया है। जिसके अनुशीलन से मानव सांसारिक सुखों का उपभोग करता हुआ पुरुषार्थचतुष्टय के अन्तिम स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। इसी आधार पर सम्पूर्ण वैदिक-वाङ्मय को शिक्षाविदों ने कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की संज्ञा प्रदान कर दो भागों में विभक्त किया है। विभाजन क्रम में संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक भाग में प्रतिपाद्य विषय कर्म की प्रधानता को विवेचित करता है तथा ज्ञान राशि का प्रतिपादन उपनिषद् भाग में आबद्ध है, जिसे वेदान्त के नाम से भी ख्याति प्राप्त है। **वेदराशि** के इन भागों में मानव-जीवन को समग्रता प्रदान करने सम्बन्धित विषय-वस्तु का प्रतिपादन कर ऋषि-मुनियों ने भारत को विश्व गुरु की महत्ता प्रदान करवायी है। दूसरे शब्दों में, वेद ही एक मात्र ऐसा ज्ञानराशि-स्वरूप है, जो विश्व-कल्याण की भावना से मानव-व्यक्तित्व के विकास की शिक्षा प्रदान करता है। वैदिक शिक्षा पद्धति के अनुसार व्यक्तित्व के विकास को चतुर्विध-पुरुषार्थों [2] के रूप में मान्यता प्रदान

---

1. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र परिभाषा - 1/1/31

2. 'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः।
ऋक्प्रातिशाख्य वैदिक वृत्ति - पृ. 5

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की गई है और वेद अपने शाब्दिक अर्थ के अनुसार इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि को अपने-आप में समाहित किये हुए है। इसीलिए **वेद** शब्द का निर्वचन विभिन्न चार धातुओं [1] से स्वीकार किया गया है, जिसमें समग्रता के आधार पर मानव-जीवनोपयोगी शिक्षा-तत्त्वों [2] की पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है, यथा-

विद् - ज्ञाने [3]– कुछ जानने की प्रवृत्ति के साथ ही मानव-शिशु इस धरातल पर अवतरित होता है। उसे सहायक तत्त्व के रूप में पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ प्राप्त हुई हैं, जो अपने-अपने विषय के अनुरूप आस-पास से सम्बन्धित वातावरण के अनुसार ज्ञान प्रदान करती हुई सजगता और सक्रियता प्रदान करती हैं। जिसके कारण शिक्षाविदों ने मानव-शिशु को पशु-तुल्य व्यवहार से पृथक् अस्तित्व प्रदान कर **ज्ञान के प्रति सतर्कता** ही उसका विशिष्ट गुण निरूपित किया है, जिसमें वेदना **(Sensation)** और अनुभव **(Resception)** के भाव उत्पन्न होते रहते हैं। इन अनुभवात्मक भावों के आधार पर ही मानव-शिशु अपने आप को नये वातावरण के अनुरूप ढ़ालने का प्रयत्न करता हुआ प्रतीत होता है। प्रयत्न की यही प्रणाली उसे अधिगम की प्रक्रिया की ओर आकृष्ट करती है। आकर्षणमय जिज्ञासा की यह विचित्र पद्धति गर्भावस्था से ही सुषुप्त नैसर्गिक गुणों में क्षोभ उत्पन्न कर जगाने अथवा सक्रियता प्रदान करने का कार्य करती है, जिससे उसे ज्ञान प्राप्त करने की ओर

---

1. सिद्धान्तकौमुदी अदादिगण में धातु संख्या - 1089

2. विद्ज्ञाने, विद् सत्तायाम्, विद्लृ लाभे, विद् विचारणे। एतेभ्यो 'हलश्च' इति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्धञ्प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते 1... . विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दन्ते विचारयन्ति सर्वे मुनष्याः सर्वाः सत्यविद्याः यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति।

   सायण ऋग्वेदभाष्य भूमिका - पृ. 22

3. इष्ट प्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अभिमुख किया जा सके। व्यवहार में भी देखा जाता है कि प्रारम्भिक अवस्था में बालक अपने माता-पिता अथवा पारिवारिक सदस्यों से सीमित शब्दों को सुनकर अर्थ बोध के साथ उन्हें उसी रूप में व्यक्त करने का प्रयास करता है तथा अपने आस-पास के वातावरण सम्बन्धित विषयों को जानने की इच्छा से अनेकानेक प्रश्न करता है, उन प्रश्नों के उत्तरों के माध्यम से वह उस वातावरण सम्बन्धित ज्ञान को प्राप्त करता हुआ अधिगम के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। प्रयत्नशीलता की इस विधा को वैयाकरणों ने **विद् ज्ञाने** धातु से अभिव्यक्त किया है, जिसमें वेदना (Sensation) और अनुभूति (Resception) के भाव सन्निहित रहते हैं। इन भावों से उत्प्रेरित हो बालक कुछ जानने की इच्छा से पारिवारिक सदस्यों की ओर मुखातुर हो, उनके द्वारा की गई क्रियाओं का अनुकरण करता हुआ अपने भावों को व्यक्त करने का प्रयास करता है। प्रयास की यह प्रक्रिया स्वाभाविक रूप में निहित **अनुकरणात्मक प्रवृत्ति** को जन्म देती है, जिसके कारण वह अन्यों का अनुकरण करते हुए अपनी **वेदना** और **अनुभव** को उसी रूप में व्यक्त करना चाहता है। व्यक्त करने का यही जिज्ञास्य भाव उसे **विद् ज्ञाने** से व्यक्त अधिगम की ओर प्रवृत्त करते हैं।

कुछ भी जानने की इच्छा मानव को मूढ़, अज्ञानी अथवा पशु-तुल्य बना देती है। उनमें निहित जीवन-इच्छा को समाप्त कर निराशावादी दृष्टिकोण को झलकाने का अवसर प्रदान करती है। उसे अज्ञान के अन्धेरे में ढ़केलती हुई **किंकर्त्तव्यविमूढ़** बना देती है। बालक की बुद्धि इस ह्रास का कारण न बन जाये, इस आशंका से आशङ्कित हो ऋषि-मुनियों ने वेद-वाणी के माध्यम से अभिभावकों को अपने बालकों को शिक्षित करने का उपदेश दिया है[1]। तभी तो माता-पिता अपनी सन्तान की सुख-समृद्धि के लिए प्रार्थना करते है-

---

1. 'पिता नो बोधि...'। यजुर्वेद - 37/20

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: MoE-IKS

अथ देवानां पाथः अपि एतु[1] अर्थात् वह हमारा पुत्र देवों या विद्वानों के द्वारा बताये गये मार्ग पर चले क्योंकि विद्वानों द्वारा बताया गया मार्ग ही सत्य के अन्वेषण में सहायक सिद्ध हो सकता है, उस में उनके जीवन का अनुभव है। उन्होंने अनुभूति के आधार पर जो कुछ कहा है, उसमें मानव-जाति के कल्याण का सार निहित है। बिना सार तत्त्व के जाने मानव का अभ्युदय और कल्याण सम्भव नहीं है, यह शिक्षा वेदराशि द्वारा ही दी जा सकती थी। इसीलिए ऋषि-मुनियों ने इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार हेतु वेद-राशि के अनुशीलन का आदेश दे ज्ञानालोक में निमज्जन का मार्ग प्रशस्त किया है, जो वेद की **विद्** धातु से प्रस्फुटित होता है।

वे, इस सारभूत तथ्य को जानते थे कि मात्र ज्ञानेन्द्रियों के सन्निकर्ष से **वेदना** या **अनुभूति** तो हो सकती है, विषय-वस्तु की ठीक-ठीक जानकारी नहीं। इस तरह के अनेकानेक दृष्टान्त दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में अनुभूत होते हैं, जिन्हें हम अनदेखा कर देते हैं। जैसा कि व्यवहारिक सत्य भी है, जब मानव-शिशु की आँख पर सूर्य की तीव्र किरणें अथवा दीपक का प्रकाश पड़ता है, उस समय प्रतिक्रिया स्वरूप उसके मन-मस्तिष्क पर एक **वेदना** उत्पन्न होती है, फलतः या तो वह अपनी आँखें झपकाने लगता है अथवा उसकी और लगातार देखता रहता है, किन्तु देखते हुए भी वह यह अनुमान नहीं लगा पाता कि वह वस्तु क्या है और उसमें यह ज्योतिर्पुञ्ज (प्रकाश) क्यों निकल रहा है? इस अवस्था को उसकी वेदना **(Sensetion)** अथवा अनुभूति **(Perception)** की अवस्था कह सकते हैं। इसके लिए तो वेद की **विद्** धातु ही सहायक सिद्ध हो सकती है, जिसे सिद्ध कर गर्भावस्था में सुषुप्त नैसर्गिक गुणों में क्षोभ उत्पन्न कर ज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की ओर उन्मुख कर उनके वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए उत्प्रेरित किया जाता है। इस क्रिया में शिक्षक (माता-पिता अथवा गुरु)

---

1. ऋग्वेद - 2/3/9

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपनी अहम् भूमिका का निर्वाह करता हुआ मानव-शिशु को वास्तविक स्वरूप को जानने में सहायता प्रदान करता है। यही ज्ञानालोक में निमज्जन का प्रथम सोपान है। जिसकी परिसिद्धि के लिए ऋषि उपदेश देता है- **हे मनुष्य! इस मार्ग से आ, अन्धकार के मार्ग का परित्याग कर। प्रकाश के मार्ग से ऊपर चढ़, यदि तुझे सहारा चाहिए तो हम तेरा हाथ पकड़ कर तुझे सहायता देने को तैयार हैं** [1]। इस तरह के अनेकानेक वेद वाक्य मानव-जाति को अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रवृत्त होने का उपदेश प्रदान करते हुए आत्म-तत्त्व के चिन्तन की ओर अभिमुख होने का निर्देश देते हैं। उनके मतानुसार बिना आत्म-तत्त्व के जाने परमाह्लाद की अवस्था को प्राप्त नहीं किया जा सकता है, जिसे पुरुषार्थ की अन्तिम अवस्था के रूप में निरूपित किया गया है, जिसे केवल ज्ञानराशि द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है [2]। जैसा कि महाभारत में कहा गया है - **विद्या (ज्ञान) के सदृश कोई नेत्र नहीं है अर्थात् विद्या रूपी ज्ञान चक्षु के द्वारा ही बुद्धि की संशयात्मक प्रवृत्ति और दुर्विचारों को नष्ट किया जा सकता है, ज्ञानालोक से आलोकित होते हुए सत्-ज्ञान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है** [3]। इसीलिए कहा जाता है - **दीप से दीप जलाते चलो। ज्ञान की ज्योति जलाते चलो**, जिससे हृदय - स्थित अन्धकार का स्वतः विनाश हो जायेगा। अतः जो ज्ञान सरिता में सतत स्नान करते हैं अथवा जिनमें जानने की इच्छा शक्ति विद्यमान है, वे ही परम शक्ति के पद को प्राप्त कर सकते हैं, जैसा कि कहा भी गया है-

सिद्धिदात्री भवत्येका शक्तिः सज्ज्ञानयोजिता।
विना ज्ञानञ्च शक्तिञ्च नैव किञ्चन सिध्यति॥

---

1. आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे।
अथर्ववेद - 8/1/8

2. ज्ञानादेव तु कैवल्यम्।

3. नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्य समं तपः।
महाभारत - 12/3379/6

Kirtikant Śharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: IKS-MoE-Grant-2

विद् सत्तायाम् [1] - ज्ञान और शक्ति के सम्मिश्रित स्वरूप का सर्जन करने की अभिलाषा मानव को सत्ता पक्ष के लिए उत्प्रेरित करती है, तब उसमें अल्प-ज्ञान के कारण **अहंकार** उत्पन्न होने पर अपने पन का आभास होने लगता है अर्थात् वह अपने आपको अन्य लोगों से अलग झलकाने की अभिलाषा से प्रयत्नशील रहता है। प्रयत्नशीलता की यह प्रवृत्ति उसमें स्वाभाविक रूप से विकसित हुई है, जिसके मूल में दार्शनिकों का यह मानना है कि सृष्टि-प्रक्रिया-क्रम में ईश्वर के संसर्ग तथा गुणत्रय में संक्षोभ से प्रकृति में से सबसे पूर्व **महत्** अर्थात् महान् होने की बुद्धि उत्पन्न हुई है, जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बन्धित ईश्वर की आकाखा को प्रकट करते हुए ऋषि कहता है-**सर्वनियन्ता विश्वकर्मा प्रभु के संसर्ग से जड़ प्रकृति में सर्वप्रथम बुद्धि (ज्ञान) उत्पन्न होती है कि मैं बहुरूप सृष्टि का सर्जन करूँ** [2], अर्थात् एक होते हुए भी अनेकों में व्याप्त हो जाऊँ, जैसा कि अन्यत्र कहा गया है - **एकोऽहं बहु स्याम्**। यही प्रकृतिस्थ ईश्वर की आकाखा मानव-शिशु की अपरिपक्व बुद्धि में स्वाभाविक रूप से पनपने लगती है। जिसके कारण उसके अन्तःकरण में **मैं-मैं और तू-तू है** के विकृत भाव उद्वेलित होने लगते हैं, जिसे दार्शनिकों ने अस्मिता **अहंकार** (Ego) के नाम से संज्ञित किया है।

अहंकार अज्ञान का मूल कारण है, जिसके मन-मस्तिष्क पर छा जाने से यद्यपि बालक अपने अस्तित्व को समष्टि पर आरोपित करना चाहता है, किन्तु उसमें स्वार्थपरता का अंश अधिक होने से समष्टि रूप में परिणत नहीं हो पाता। उसमें निहित कुछ कर - गुजरने की आकाखा अपरिपक्व अवस्था के कारण मूर्त रूप नहीं ले पाती, जिससे उसे समाज में अप्रतिष्ठा अधिक और लाभ कम मिल पाता है। धीरे-धीरे उसके

---

1. सिद्धान्तकौमुदी दिवादिगण में धातु संख्या - 1196
2. अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाम् ...
   श्वेताश्वतरोपनिषद् 4-5

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मार्ग में भटकने की सम्भावनाएँ व्यक्तित्व ह्रास के कारणों को जन्म देने लगती हैं। जिनसे बचने के लिए उसे एक ऐसे सहयोगी मित्र की आवश्यकता होती है, जो पथ-प्रदर्शक के रूप में उसका मार्ग-प्रशस्त कर सके, उसके मन-मस्तिष्क में उत्पन्न कुछ कर गुजरने के संवेगों को नियन्त्रित करते हुए मूर्त रूप प्रदान कर सके। उसे यह समझा सके कि उसे क्या करना चाहिए एवं क्या नहीं करना चाहिए। उसके लिए कौन सी वस्तु ग्राह्य है एवं कौन सी वस्तु त्याज्य, जिससे उसके **स्व** अर्थात् महत्तत्त्व को नियन्त्रित कर उसकी सर्वोच्च नैसर्गिक क्षमताओं को उचित रूप में विकसित किया जा सके।

एतदर्थ ऋषि-मुनियों ने धर्म -तत्त्व से संवेष्टित ज्ञानानुप्राणित बुद्धि की आकाखा की है, जिससे मानव में मानवोचित गुणों की अभिवृद्धि के साथ-साथ **महत्** अर्थात् महान होने की **बुद्धि** उत्पन्न हो सके। इसके लिए ऋषि-मुनियों ने अपौरुषेय शब्दावली द्वारा विधि निषेधात्मक वाक्यों को उपलब्ध कराया है। जिनमें विभिन्न देवी-देवताओं से यश, कीर्ति, वर्चस्व और कल्याण की प्राप्ति हेतु प्रार्थनाएँ की गई हैं। इन प्रार्थनाओं का ध्येय **स्व** तत्त्व के विकास के साथ-साथ आत्माभ्युन्नति और सत्ता पक्ष की प्रधानता के भाव निहित हैं। **आ नो जने श्रवयतम्**[1] मन्त्र द्वारा यश की अभिलाषा के साथ ही समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने की कामना की गई है, जिसमें मानव के वर्चस्व के साथ-साथ सत्ता पक्ष की प्रधानता के भाव भी झलकते दिखाई देते हैं। इस मन्त्र के द्वारा मानव-समुदाय को यह शिक्षा दी गई है कि सर्वदा कीर्ति की कामना से प्रेरित होकर कर्म में आसक्त होना चाहिए, जिससे लोगों में, राष्ट्र में और समाज में हमारा यश चारों ओर फैले। केवल इच्छा मात्र से यह यश प्राप्त नहीं होता, इसके लिए ज्ञान-विज्ञान और सम्पन्नता के साथ-साथ शौर्य, वीर्य व पराक्रम को भी अपने में विकसित करना पड़ता है तथा

1. प्र बाहवा सिसृतं जीवसे न आ नो गव्यूतिमुक्षतं घृतेन।
आ नो जने श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा ॥
ऋग्वेद - 7/62/5

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding by IKS-MoE Grant-2

जो सद्-वृत्ति से प्राप्त धन को निर्धनों को दान देता है तथा जनता में कल्याणार्थ जो कार्य करता है और जो शिल्प-शास्त्र का विशेषज्ञ है, उसका ही लोक में यश फैलता है। वही व्यक्ति समाज में प्रतिष्ठित होता हुआ ख्याति प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि **वेद** ज्ञान व्यक्ति को केवल बुद्धि की संशयात्मक प्रवृत्ति से ही छुटकारा नहीं दिलाता अपितु उसकी वास्तविक सत्ता का भी अनुभव कराता है। इसके अतिरिक्त **वेद-राशि** व्यक्ति को अपयश से बचाने के लिए भी स्पष्ट निर्देश देती है, जिससे उसके स्वयं के कल्याण के साथ-साथ समाज का भी कल्याण हो सके, या यों कहा जा सकता है कि व्यक्ति के वैयक्तिक अस्तित्व के साथ-साथ समाज का स्वरूप भी संरक्षित हो सके। इसके लिए **वेद** शिक्षा देता है कि जो व्यक्ति जनहित के लिए कार्य नहीं करता तथा आत्म-भोग के लिए दूसरों को कष्ट देता है, उसका संसार में कोई नाम लेने वाला ही नहीं होता अर्थात् उसका समाज में कोई अस्तित्व ही नहीं होता। उसे सर्वत्र हीनदृष्टि से देखा जाता है। इसीलिए सृष्टि के प्रारम्भ से ही मन्त्रद्रष्टा महर्षियों ने वेद की **विद् सत्तायाम्** धातु से मानव व्यक्तित्व के संरक्षण का उपदेश देते हुए उसे आत्म-ख्याति और समाज में प्रतिष्ठित होने के लिए सन्मार्ग[1] का अनुसरण करने का निर्देश दिया है।

सन्मार्ग में प्रवृत्ति द्वारा श्रेष्ठ कर्मों को करने का उपदेश देते हुए महर्षियों ने अपौरुषेय वाक्यों के माध्यम से समाज में ख्याति प्राप्त करने का निर्देश दिया है। इसके लिए उन्होंने सुभाषित शब्दावली द्वारा शिक्षा प्रदान की है कि मनुष्य अपना ज्ञान बढ़ावें, बल बढ़ावें और सर्वत्र जाकर निरीक्षण करें, सुरक्षा करें और ज्ञान का प्रचार करें। वे ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य करें, जिससे कि लोग उनकी प्रशंसा करते हुए तृप्त न हों। जो असत्य की प्रशंसा करते हैं, वे समाज के शत्रु हैं। असत्य की प्रशंसा समाज के प्रति द्रोह है। इसलिए मनुष्य कोई भी ऐसा कार्य न करें,

---

1. सुगा नो विश्वा सुपथानि सन्तु। ऋग्वेद - 7/63/6

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिससे देश में असत्य व अज्ञान का साम्राज्य बढ़े और सत्य व ज्ञान का क्षय हो [1]। जिसके कारण समाज में अशान्ति, आक्रोश, अलगाववाद और हिंसात्मक घटनाक्रम का बोल-बाला दिखाई दे, मानव का वैयक्तिक और सामाजिक अस्तित्व ध्वंस होता नजर आये। इन सब सामाजिक बुराईयों से बचाने के लिए ही ऋषि-मुनियों ने मानव को सन्मार्ग पर चलने का निर्देश दिया है, जिसमें उसके **स्व** के सात्विक विकास पर बल दिया गया है। जैसा कि **तुभ्यं ब्रह्माणी वर्धना कृणोमि** [2] मन्त्र के माध्यम से प्राणी में ज्ञानालोक द्वारा शान्ति के संवर्धन की संकल्पना की गई है।

मानसिक शान्ति ही आत्माभ्युदय का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। कारण-मानसिक असन्तुलन अशान्ति का जनक है, जिससे उत्पीड़ित हो मानव आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों को अनजाने में आमन्त्रित कर बैठता है, अपने जीवन को संकट में डाल देता है, जिससे उसका अस्तित्व ही चरमराने लगता है। इस महासंकट से उभरने के लिए ही ऋषि-मुनियों ने अथाह यौगिक साधना के फलस्वरूप दिव्य-ज्योति प्राप्त कर मानव-समुदाय को धर्म-निष्ठ सत्याचरण के अनुपालन करने का निर्देश दिया है। उनके मतानुसार सत्य-निष्ठ धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत परोपकारी जीवन व्यतीत करता हुआ व्यक्ति ही सुख -शान्ति का अनुभव कर सकता है तथा समाज को संरक्षण प्रदान कर सकता है, जिसमें उसके स्वयं का अस्तित्व समाया हुआ है। अस्तित्व के संरक्षण के लिए मानव-समुदाय को निर्देश दिया गया है कि **दिव्य कर्म करते समय शुद्ध बनों। देवों का यजन करना हो तो शुद्ध बनों। यदि तुम अशुद्ध रहोगे तो तुम्हें अभीष्ट कर्म में**

---

1. अमूरा विश्वा वृषणाविमा वां न यासु चित्रं ददृशे न यक्षम्।
द्रुहः सचन्ते अनृता जनानां न वां निण्यान्यचिते अभूवन्॥
ऋग्वेद - 7/61/5

2. ऋग्वेद -7/22/7

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding by MoE-IKS

असफलता देखनी पड़ेगी, इसलिए शुद्धता का ख्याल करो[1]। महर्षि-उपदिष्ट इस वाक्य द्वारा मानव-समुदाय को यह शिक्षा मिलती है कि शुद्धता ही मानव-जीवन का परिधान है। बिना इस परिधान को धारण किये जीवन संरक्षित और संवर्द्धित नहीं हो सकता है। अतः यदि लोक में ख्याति प्राप्त करनी है अथवा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को यदि संरक्षित रखना है, तो मानव को धर्माचरण के द्वारा, जिसका मूलमन्त्र **अहिंसा परमो धर्मः** है का पालन करते हुए अपने आप के अस्तित्व-संरक्षण के माध्यम से समाज को उन्नत दिशा की ओर ले जाना होगा, जिसका बोध हमें **विद् सत्तायाम्** धातु से होता है, जो **तत्त्वमसि**[2], **अहम् ब्रह्मास्मि**[3] और **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**[4] आदि महावाक्यों द्वारा व्यक्ति में व्यष्टि रूप से समष्टि स्वरूप की ओर ले जाने की दिशा का मार्ग प्रशस्त करता है।

विद्लृ-लाभे[5] - सांसारिक संसर्ग की परिणति अनेकानेक आकाखाओं को जन्म देती है, जिसमें लाभ-पक्ष के आधार पर वैभव को प्रधानता दी जाती है। जिसके कारण मानव-शिशु उत्तरोत्तर विकास-क्रम की शृंखला को प्राप्त करता हुआ भौतिक संसाधनों के भ्रमजाल से सम्मोहित हो अपने आपको अतृप्त और वैभवहीन समझ कर आवश्यकता से अधिक धन संगृहीत करना चाहता है। उसके मन में उन सभी वैभवशाली संसाधनों को संगृहीत करने की आकाखा क्षण प्रति क्षण नया रूप धारण करती हुई व्यक्ति को मद, मोह और लोभ के जाल में फंसा देती है, जिससे वह संसार में सुलभ ऐश्वर्यादि से सम्बन्धित पदार्थों को

---

1. दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम्। देवयज्जयै शुन्धध्वम्।
   यत् वः अशुद्धाः पराजघ्नुः तत् वः शुन्धामि ।।
2. छान्दोग्योपनिषद् - 6/8/7
3. बृहदारण्यकोपनिषद् - 1/4/10
4. छान्दोग्योपनिषद् - 3/14/1
5. सिद्धान्तकौमुदी दिवादिगण में धातु संख्या - 1457

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राप्त कर लाभ उठाता हुआ अपने लिए विद्या, कला, कौशल, धन, दारा, पुत्र-पौत्र और लोक-श्लाघा आदि प्राप्त करना चाहता है। किन्तु उसकी यह इच्छा आत्म-ख्याति तक ही सीमित न रह जाये, इसके लिए **वेद-पुरुष** ने **विद्लृ लाभे** धातु को अपने में समाहित कर सद्-वृत्ति द्वारा लाभ पक्ष को विवेचित किया है।

विद्यया विन्दते यह संकेत विद्या का सम्बन्ध लाभ से भी प्रदर्शित करता है, मुख्य रूप से अमृतत्त्व की प्राप्ति विद्या का मुख्य लक्ष्य माना गया है[1], जिसे जीवन का सर्वोत्कृष्ट फल प्रतिपादित किया गया है। किन्तु लाभ पक्ष के रूप में इस अमृतमय फल की प्राप्ति के लिए भारतीय संस्कृति में जिन चार तत्त्वों को स्वीकार किया गया है, वे हैं- **धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष** जिन्हें पुरुषार्थचतुष्टय के नाम से भी जाना गया है[2]। पुरुषार्थचतुष्टय के अन्तिम सोपान **मोक्ष** की प्राप्ति बिना धर्म-अर्थ और काम रूपी सोपानों को पार किये कठिन ही नहीं असम्भव भी है, यद्यपि ऐसे अपवाद सामने आये हैं, जहाँ मोक्ष की कामना करने वाले व्यक्तियों ने सीधे ही अन्तिम सीड़ी पर पैर जमाने का प्रयत्न किया है, किन्तु उनमें से शङ्कराचार्य आदि बिरले ही हैं, जिन्होंने सत्त्व गुण की प्रधानता के कारण ब्रह्मपद की प्राप्ति में सफलता प्राप्त की है अन्यथा ब्रह्म - पद की प्राप्ति का मार्ग मध्य में ही छोड़ कर सांसारिक जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हो गये हैं। इसीलिए ऋषि-मुनियों ने मानव जाति को आदेश दिया है कि पुरुषार्थचतुष्टय के क्रम का व्यतिक्रमण किये बिना मोक्ष की कामना नहीं करनी चाहिए। जिसका बोध वेद की **विद्** धातु द्वारा सम्भव है, जिसके अनन्तर **विद्या** अर्थात् ज्ञान क्रमशः सभी लक्ष्यों की प्राप्ति के पश्चात् अन्तिम लक्ष्य

---

1. विद्ययाऽमृतमश्नुते।
ईशावास्योपनिषद् - 11

2. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥
साहित्यदर्पण - पृ. 10

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मोक्ष अर्थात् अमरता की ओर व्यक्ति को उन्मुख करता है, यह मानना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जहाँ एक ओर अपौरुषेय शब्दराशि यज्ञ-अनुष्ठानों के माध्यम से आत्म-तत्त्व की अभिवृद्धि के लिए ज्ञान पक्ष की प्रधानता पर बल देती है, वहीं दूसरी ओर वितृष्णा की शान्ति के लिए सुखोपभोग की सामग्री अथवा धन-दौलत आदि की प्राप्ति का उपदेश भी देती है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सुखोपभोग की सामग्री का सञ्चय किस प्रकार किया जाये? अर्थात् पाप और पुण्य की विधा में से किस विधा को सुखोपभोग की सामग्री के सञ्चय में अपनाना चाहिये? इसके उत्तर में वेद पुरुष **विद्लृ-लाभे** के माध्यम से सुखोपभोग की सामग्री को संकलित करने का निर्देश देता है, जिसमें लोकहित की आकाखा सन्निहित है। यह आकाखा महर्षि ने **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा....**[1] मन्त्र के माध्यम से व्यक्त की है, जिस में कहा गया है कि दान दे कर अवशिष्ट रहे हुए का उपभोग कर अर्थात् जगत-उपकार के लिए समर्पण करना ही अपना वास्तविक उपभोग है, ऐसा समझ, तभी वास्तविक रूप से धन-धान्यादि से परिपूर्ण वैभव का आत्म-कल्याण की भावना से उपभोग कर पायेगा, अन्यथा आपसी रागद्वेष के कारण व्यक्ति अशान्त मन से किस तरह जीवन की यात्रा को पूर्ण कर पायेगा?

मानव को अशान्त होने से बचाने के लिए ही महर्षि ने इस मन्त्र के अन्तिम चरण में कहा है कि **मा गृधः कस्य स्विद्धनम्**[2] अर्थात् लोभ मत कर, धन भला किसका है? व्यवहार में भी देखा जाता है कि जीवन-यात्रा की समाप्ति पर व्यक्ति द्वारा संगृहीत **धन** इहलोक में ही रह जाता है, यदि उसके साथ कुछ जाता भी है तो उसके अच्छे-बुरे कर्मों का फल जाता है, जिसे वह पूर्वजनित संस्कारों के माध्यम से अगले

1. यजुर्वेद - 40/1
2. यजुर्वेद - 40/1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जन्म में प्राप्त करता है, किन्तु धन का उपभोग तो वह इसी जन्म में करता है। अतः कहा गया है कि धन अर्थात् लक्ष्मी चलायमान है, उसे जितना खर्च किया जायेगा, उतना ही यह श्री अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होगी, इसीलिए व्यक्ति उसे जनता के अभ्युदय के लिए अर्पण कर अवशिष्ट रहे हुए में ही संतुष्ट होकर उसका भोग करे। धन सम्पूर्ण जनता का है, वह किसी भी एक व्यक्ति का नहीं है। अत एव व्यक्ति को धन का लोभ छोडकर सब के उपकारार्थ उसका व्यय करना चहिए[1]। तभी मानव धार्मिक यज्ञादि अनुष्ठानों को सम्पादित करता हुआ परहित की कामना से जनकल्याण में संलग्न हो पायेगा। इसलिए वेद सुखोपभोग की सामग्री अर्थात् धन-दौलत को प्राप्त करने के विरुद्ध नहीं है। किन्तु इस सम्बन्ध में वह आदेश देता है कि सत् वृत्ति से जुटाया गया धन ही मानव के अभ्युदय और कल्याण का कारण बन सकता है, इससे विपरीत प्रयासों से संगृहीत धन मानव को अपयश का भाजन बनाता हुआ अधोमार्ग की ओर ले जाता है। इसीलिए यजुर्वेद के दसवें अध्याय में कहा गया है- **हे प्रजापति तेरे द्वारा हम सब उत्तम व्यवस्था और धर्मानुकूल आचरण द्वारा ऐश्वर्यों के स्वामी बनें**[2]।

किन्तु उत्तम व्यवस्था और धर्मानुकूल आचरण का प्रशिक्षण बिना ज्ञान के सम्भव नहीं है, इसीलिए वेद द्वारा मानव-समुदाय के ईप्सित फल की प्राप्ति के लिए **धीतिं सुमतिं मावृणीमहे**[3], का उपदेश दिया गया है। क्योंकि बिना सात्त्विक बुद्धि के ऐहिक और पारमार्थिक सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं है, जिसे मानव जीवन की सार्थकता के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। **जनानां उभयासः रायः**[4], इस अपौरुषेय़

---

1. ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
   तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
   यजुर्वेद - 40/1
2. वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा — यजुर्वेद - 10/20
3. ऋग्वेद - 6/15/9
4. अथर्ववेद - 6/1/5

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाक्य द्वारा भी यही शिक्षा दी गई है कि मनुष्यों को ऐहिक धन और पारमार्थिक ज्ञान रूप धन, दोनों को ही प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। क्योंकि ऐहिक धन के रूप में उसे सांसारिक सुखों के उपभोग के लिए प्राकृतिक संसाधनों को संगृहीत करने का निर्देश मिलता है तथा पारमार्थिक ज्ञान रूप धन की अभिलाषा से किये गये यज्ञादि-अनुष्ठानों के माध्यम से आत्म-सुख की अनुभूति होती है। इसीलिए यजुर्वेद में अन्य स्थल पर कहा गया है - **मैं यजमान सब से पहले धन की वृद्धि और उत्तम सामर्थ्य के लिए अग्नि को अपने घर में स्थापित करता हूँ**[1]। महर्षि की इस आकाखा के पीछे ऐहिक और पारलौकिक सुख-सम्पदा के उपभोग की धारणा ही दृष्टिगत होती है, जिसे वेदार्थ के रूप में **लाभ-पक्ष** से अभिहित किया गया है।

वेदों में मुख्य रूप से यज्ञ - मीमांसा और ब्रह्म-मीमांसा के द्वारा **धर्म और मोक्ष** की विवेचना की गई है। जैमिनि की पूर्व - मीमांसा **धर्म जिज्ञासा**[2] से प्रवृत्त हुई है और बादरायण की उत्तर-मीमांसा **ब्रह्म-जिज्ञासा**[3] से। जैमिनि की **धर्म-मीमांसा** का मुख्य विषय विभिन्न यज्ञों की प्रक्रिया का विवेचन और विश्लेषण है। वेदों के अनुसार सभी यज्ञों का किसी फल की कामना से या किसी भौतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सम्पादित करने का विधान है। **राजा स्वराजकामो राजसूयेनयजेत**[4] इत्यादि वेद वाक्य इसके प्रमाण स्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं, जिसमें राज्योपभोग के लिए ऐहिक धन की कामना और पारमार्थिक ज्ञान रूप धन के लिए आध्यात्मिक प्रशिक्षण का विधान द्रष्ट्व्य है। सुखोपभोग के इसी क्रम में धन - दारा, पुत्र-पौत्रादि के

---

1. मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निं रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय। मामु देवता: सचन्ताम्॥ यजुर्वेद - 13/1
2. 'अथातो धर्मजिज्ञासा'। पूर्वमीमांसा सूत्र - 1/1
3. 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'। ब्रह्मसूत्र - 1/1
4. सत्याषाढ़श्रौतसूत्र - 133/1/6

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ईप्सित फल की आकाङ्क्षा पारिवारिक-जनों को अनेकानेक धार्मिक अनुष्ठानों की ओर प्रवृत्त करती है। धार्मिक अनुष्ठानों की ओर प्रवृत्ति का यह मार्ग उन्हें ऐहिक और पारमार्थिक सुखों की अनुभूति कराता हुआ मोक्षानुगामी बनाता है। **पुत्रकामेष्टि यज्ञ** का विधान इसी शृंखला का एक अंश है, जिसमें यज्ञकर्ता परिवार की संवृद्धि के साथ-साथ वृद्धावस्था में सहारा देने वाले पुत्र की प्राप्ति एवं उससे ऐहिक सुखों की प्राप्ति करना चाहता है तथा मरणोपरान्त उसके द्वारा दिये गये तर्पणादि की आकाखा से आत्म-सुख को अनुभूत करता हुआ परलोक सिद्धि की कामना करता है। इसके लिए वेद **विद्लृ-लाभे** के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के द्वारा मानव को ऐहिक और पारमार्थिक सुख के फल की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है, जिसे जीवन के लाभ पक्ष के रूप में विवेचित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि **वेद** शब्द में प्रयुक्त **विद्** धातु ज्ञान - अर्थ के साथ-साथ लाभ-अर्थ को भी इंगित करती है, जिसका **सत्ता** पक्ष से अभिन्न सम्बन्ध है।

विद् विचारणे[1]- लाभ पक्ष में **श्री** वृद्धि की कामना तभी सफल हो सकती है, जब कि मानव तर्क-वितर्क के साथ इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उसे **क्या** करना चाहिए अथवा **क्या** नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं बुद्धि की इस विवेचनात्मक वृत्ति के साथ **पाप-पुण्य** के विभेद द्वारा मोक्षानुगामी पथ का बोध शब्दराशि का मुख्य उद्देश्य है। जिसके अनुशीलन से मानव न केवल ऐहिक या पारलौकिक सुख की समृद्धि को प्राप्त करता है, अपितु इससे भी कहीं अधिक आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए **अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**[2] के भावों को अपने मन में सजोता है। ब्रह्म-पद के जिज्ञास्य भावों को मूर्त रूप देने का कार्य वेद और तदनुगामी शास्त्र करते हैं, जिनमें **ब्रह्म-पद** की प्राप्ति का मार्ग

---

1. सिद्धान्तकौमुदी रुधादिगण में धातु संख्या - 1475
2. ब्रह्मसूत्र - 1/1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रशस्त किया गया है। मार्गानुशीलन की इस प्रवृत्ति का विकास **वेद** की **विद् विचारणे** धातु में सन्निहित है, जिसे औपनिषदिक शब्दावली में **सा विद्या या विमुक्तये** अथवा **सा विद्या या ब्रह्मगतिप्रदा** अभिव्यक्त किया गया है। जब कि सांख्य सिद्धान्त विवेक-ज्ञान को कैवल्य मानता है, तो वेदान्त सिद्धान्त ब्रह्म-ज्ञान को। **ज्ञानादेव तु कैवल्यम्** तथा **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः** इत्यादि वचन इस ओर स्पष्ट रूप से संकेत करते दिखाई देते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्तिम पुरुषार्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति, भारतीय दार्शनिकों का मुख्य उद्देश्य रहा है। जिसे **विद्या** रूपी तत्त्व के द्वारा ही जाना जा सकता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् **विद्या** तत्त्व के महत्त्व को प्रतिपादित करता हुआ कहती है कि **विद्यया देवलोकः**[1] अर्थात् विद्या से देव लोक की तथा **कर्मणा पितृलोकः**[2] अर्थात् **कर्म** अविद्या से पितृ लोक की प्राप्ति होती है। यहाँ यह शङ्का उपस्थित होती है कि इन में से मोक्षानुगामी को किस पक्ष की उपासना करनी चाहिए। इस शङ्का का समाधान वेद की **विद् विचारणे** धातु से मिलता है, जिसके कारण वेद के उपनिषद् भाग को **ज्ञान-काण्ड** के नाम से व्यवहत किया जाता है। **ज्ञान-काण्ड** का मुख्य लक्ष्य अध्यात्म-विद्या है, जिसके अनुशीलन से मुमुक्षु की सांसारिक सुखोपभोग (अविद्या) से निवृत्ति तथा ब्रह्म-पद (विद्या) की प्राप्ति में आसक्ति दिखाई देती है। जैसा कि औपनिषदिक वाक्य स्पष्ट निर्देश देता है - **जो अनात्मज्ञान (शास्त्रीय विद्या अर्थात् अविद्या) की उपासना करते हैं, वे गहन अन्धकार अर्थात् सांसारिक सुखोपभोग के साधन में आसक्त होते हुए अन्ततोगत्वा नरकीय जीवन को व्यतीत करते हैं और जो केवल आत्म-ज्ञान (विद्या अर्थात् ब्रह्म तत्त्व) की प्राप्ति में अनुरक्त हैं, वे धर्म-अर्थ और काम वासना के**

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् - 1/5/16
2. बृहदारण्यकोपनिषद् - 1/5/16

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अवशेष रहने से गहनतम अन्धकार को प्राप्त करते हैं[1], तब शङ्का उपस्थित होती है कि क्या करना चाहिए एवं क्या नहीं करना चाहिए अर्थात् किसकी उपासना करनी चाहिए, किसकी नहीं अथवा किस में अनुरक्त होना चाहिए और किस में नहीं? इसका समाधान केवल **विद् विचारणे अथवा विद् चेतनारव्याननिवासेषु**[2] के अनुसार मानव में तर्क -वितर्क युक्त श्रेष्ठ बुद्धि द्वारा ही सम्भव हो सकता है, जिसके द्वारा समस्त सांसारिक सुख सामग्री का त्याग बुद्धि से आस्वादन कर विरक्तता को प्राप्त होता है, तब व्यक्ति की बुद्धि में निखार आता है।

एतदर्थ उपनिषद् आगे निर्देश देती है - **जो व्यक्ति विद्या और अविद्या दोनों को साथ जानता है, वह अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करता हुआ अर्थात् सांसारिक सुख- साधनों का उपभोग करता हुआ अन्त में विद्या (ज्ञान अर्थात् आत्म -ज्योति) के द्वारा अमरता को प्राप्त करता है**[3]। जैसा की अन्य स्थल पर कहा गया है- **विद्या के अभाव में सुखानुभूति नहीं हो सकती है, सुखानुभूति के लिए ज्ञान परमावश्यक है।** सुख में लौकिक और पारलौकिक दो पक्ष हैं - **एक सुख त्रि-वर्ग अर्थात् धर्म-अर्थ और काम से सम्बन्धित है तथा दूसरा सुख मोक्ष से, दोनों प्रकार के सुख की प्राप्ति के लिए विद्याभ्यास आचरणीय है**[4]।

---

1. अन्धं तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
यजुर्वेद - 40/12, ईशावास्योपनिषद् - 12

2. सिद्धान्तकौमुदी चुरादिगण में धातु सं. 1709

3. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥
यजुर्वेद - 40/14, ईशावास्योपनिषद् - 14

4. न हि विद्यां विना सौख्यं नराणां जायते ध्रुवम्।
अतो धर्मार्थमोक्षेभ्यो विद्याभ्यासं समाचरेत्॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार **विद्या** मर्त्य और अमर्त्य के भेद स्पष्ट करती है। यही विवेक या विचार कहा जा सकता है। जिसके माध्यम से यह विवेचित किया जाता है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए अविद्या या शास्त्रीय विद्या साधन है और विद्या या आत्म - विद्या साध्य है। बिना साध्य-साधन भाव के व्यक्ति अपने गन्तव्य स्थल तक पहुँच नहीं सकता है। इसीलिए ब्रह्म-सूत्र-शाङ्कर भाष्य के प्रथम अध्याय में कहा गया है - **प्राणी मात्र को श्रुति-वचनों से आत्म-तत्त्व के विषय में मनो - योग पूर्वक श्रवण करना चाहिए। दर्शन-शास्त्र के अनुसार युक्ति-पूर्वक चिन्तन करना चाहिए तथा चिन्तन द्वारा समुपलब्ध आत्म-स्वरूप विषयक समाधि ज्ञान द्वारा आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए**[1]। यही ज्ञान की परम सीमा है, जिसके लिए शास्त्रज्ञों ने वेदार्थ की प्रतिपादक **विद् विचारणे** धातु को व्यवहृत किया है। व्यावहारिक ज्ञान के विषय में भी यही पाया जाता है। मानव जब मनो-योग से किसी क्रिया में भाग लेता है, तो निश्चित रूप से सफलता उसका पद-चुम्बन करती है। इसके विपरीत चंचल मन के स्वाभाविक गुण से प्रभावित अन्य-मनस्क हो जब व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, तो असफलता का भाजन बन उपहास को प्राप्त करता है। इस तरह की सामान्य घटना दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में लोक में देखी जाती हैं। छात्र-जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। जिसमें परीक्षा परिणाम से प्रभावित हो अध्येता सुख-दु:ख को प्राप्त करता है। इस तरह के अनेक उदाहरण लोक में प्रसिद्ध हैं, जिससे मानव को यह शिक्षा दी जाती है कि युक्ति-युक्त चिन्तन द्वारा व्यक्ति को लोक में व्यवहार करना चाहिए, जिससे की अशुभ परिणामों से बचा जा सके अथवा स्वयं द्वारा लिए गये निर्णय पर क्षोभ उत्पन्न न हो।

---

1. आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य: ।

ब्रह्मसूत्र - 1/1/23

आत्मा नो वा अरे दर्शनेन मत्या विज्ञाननेनेदं सर्वं विदितम् ।

बृहदारण्यकोपनिषद् - 2/4/5

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस सम्बन्ध में आचार्य विष्णुशर्मा ने **चत्वारः मूर्खब्राह्मणाः** नामक कथा के माध्यम से **बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय। काम बिगाडे आपनो जग में होत हँसाय** की शिक्षा प्रदान की है। उन्होंने अपने कथानक में **महाजनो येन गतः स पन्थाः**[1] इस युक्ति द्वारा लोक में यह समझाने का प्रयत्न किया है कि युक्ति-युक्त निर्णय अर्थात् तर्क पूर्ण बुद्धि के आभाव में मानव अर्थ का अनर्थ करता हुआ कष्टों को आमन्त्रित कर बैठता है। या यों कहा जा सकता है कि पूर्ण ज्ञान के अभाव में भावों को न समझने के कारण वक्ता के कथन का अभिप्राय बदल देता है। परिणामतः अविवेकी मूर्ख, अथवा अज्ञानी संज्ञा से संज्ञित हो मनुष्य समाज में अप्रतिष्ठा का भाजन बनता है। इस दोष के परिहार निमित्त बुद्धि की संशयात्मक प्रवृत्ति से निवृत्ति दिलाने हेतु अपौरुषेय शब्दराशि को **वेद** शब्द से संज्ञित कर **विद्** धातु में अभूतपूर्व सामर्थ्य को झलकाने का प्रयत्न किया गया है। जिसमें ज्ञान, सत्ता, लाभ और विचार शक्ति के रूप में पुरुषार्थचतुष्टय को उपलब्ध कराने का सामर्थ्य निहित है। अतः **विद्** धातु अनुप्राणित **विद्या** शब्द जो **ज्ञान-राशि** का प्रतीक है, मानव जीवन की चार अवस्थाओं-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास का सूचक है।

पं. मधुसूदन ओझा ने वेद-निहित शिक्षा तत्त्वों के विवेचार्थ वेद की **विद्** धातु को सच्चिदानन्द स्वरूप माना है। सच्चिदानन्द में **सत् चित् और आनन्द** नामक तीन तत्त्व निहित हैं, जिन्हें ॐकार के रूप में ख्याति प्राप्त है अर्थात् ॐकार शिव सूचक है, शिव सत्य है और सत्य ही सुन्दर है, जो सुन्दरता अर्थात् शिव (कल्याण) का प्रतीक होने के कारण आनन्द का दायक है और आनन्द ही मोक्ष का वाचक है, जिसे परमाह्लाद की अवस्था के नाम से जाना जाता है। एतदर्थ **सत्, चित् और आनन्द**, ये तीनों तत्त्व वेद शब्द के व्युत्पत्तिजन्य अर्थ में समाहित हैं। **सत्** तत्त्व सत्ता अर्थात् अस्तित्व का द्योतक है, जो वेद को

---

1. हितोपदेश (चत्वारो मूर्खब्राह्मणाः कथा)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विद् सत्तायाम् से निष्पन्न मानने से ध्वनित होता है, **चित्** तत्त्व चेतना अर्थात् विज्ञान भाव का वाचक है, जो वेद को **विद् ज्ञाने** से विवेचित करता है तथा **आनन्द** तत्त्व रस भाव का प्रतीक है, जो वेद को **विद्लृ लाभे** से निष्पन्न मानने से ध्वनित होता है। इस प्रकार सत्ताभाव, विज्ञानभाव तथा रसभाव तीनों सत्ता, ज्ञान और लाभ के वाचक **विद्** धातु से **वेद** शब्द को निष्पन्न मानने से सिद्ध होता है। इस प्रकार यह वेद सच्चिदानन्द स्वरूपात्मक है, जिसे **विद् विचारणे** धातु से प्राप्त किया जा सकता है [1]। कहने का अभिप्राय यह है कि सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ जिसकी सत्ता है, जो विज्ञान का द्योतक है तथा रस भाव-समर्थक है-वह वेद है। वेद में पुरुषार्थचतुष्टय की शक्ति उपलब्ध होने के कारण वर्णाश्रम की संज्ञा द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास की जीवन शैली का उद्धारक है। जैसा कि **विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः** [2] इस कथन द्वारा स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थ जिसके द्वारा जाना जाय या प्राप्त किया जाय वह वेद है।

वेद शब्द के निर्वचन से उपलब्ध इन सिद्धान्तों से मानव के व्यक्तित्व विकास सम्बन्धित पक्षों की पुष्टता हेतु जो तत्त्व सामने आते हैं, वे ही वैदिक शिक्षा के प्रमुख तत्त्व हैं। मानव को अपने जीवन के मुख्य प्रयोजनों **धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष** को प्राप्त करने के लिए वैदिक शिक्षा पद्धति ने जो मार्ग प्रदर्शित किया है, वह विभिन्न आश्रमों में निर्धारित संस्कारों और आचरणों का मार्ग है। इस शिक्षा-पद्धति की नींव व्यक्ति में ब्रह्मचर्य आश्रम के अनुपालन से ही डाली जाती है। जिसके लिए **अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् गर्भाष्टमे वा। एकादशवर्षे क्षत्रियम्। द्वादशे वैश्यम्** [3]। इस श्रुति आदेश द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय और

---

1. महर्षि कुलवैभवम् पृ. 25-96
2. ऋक्प्रातिशाख्य वैदिक वृत्ति पृ. 5
3. आश्वलायनगृह्यसूत्र - 1/19/1-6

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैश्य के लिए क्रमशः आठ-ग्यारह और बारह वर्ष की अवस्था से उपनयन संस्कार के साथ वेदाध्ययन की शिक्षा ग्रहण करने का समय निश्चित किया गया है। पारस्करगृह्य सूत्र के भाष्यकार हरिहराचार्य ने महर्षि आपस्तम्ब के मतानुसार उपनयन संस्कार की आयु सीमा और उससे मिलने वाले फल को इंगित करते हुए कहा है कि **यदि ब्रह्मवर्चस् की इच्छा हो तो सातवें वर्ष में, आयु की इच्छा हो तो आठवें वर्ष में, इन्द्रिय की इच्छा हो तो ग्यारहवें वर्ष में तथा पशु की इच्छा हो तो बारहवें वर्ष में उपनयन करना चाहिए**[1]। आचार्य मनु ने उपनयन संस्कार के सम्पादन की अन्तिम सीमा रेखा निश्चित करते हुए निर्देश दिया है कि **सोलह वंर्ष की आयु तक ब्राह्मण बालक का उपनयन विधान कर देना चाहिए, बाईस वर्ष तक क्षत्रिय बालक का तथा चौबीस वर्ष तक की सीमा रेखा वैश्य बालक के लिए निश्चित की है** [2]। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि विभिन्न धर्माचार्यों ने उपनयन संस्कार की आयु सीमा के विषय में अलग-अलग मत व्यक्त किये हैं, किन्तु सभी ने उपनयन संस्कार के विधान को स्वीकारा है और इस के सम्पादन के लिए माता-पिता को स्पष्ट निर्देश दिये हैं। महर्षिनिर्दिष्ट इस आज्ञा के पालन के लिए बालक को माता-पिता आचार्य-कुल में **परिदान** संस्कार के लिए ले जाते थे, जहाँ आचार्य उसे **उपनीत** क्रिया द्वारा **अन्तेवासी** [3] के सम्बोधन के साथ **ब्रह्मचार्यसि अपोऽशान कर्म कुरु, मा दिवा सुषुष्थाः वाचं यच्छ, समिधमाधेहि अपोऽशान** [4] इस प्रतिज्ञा वाक्य से अनुशासित करते हैं।

---

1. पारस्करगृह्यसूत्र (आचार्य हरिहर) - 2/1-4

2. आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विंशः॥
मनुस्मृति - 2/38

3. अन्ते गुरुसमीपे वसति तच्छीलः पूर्ववत् णिनि प्रत्ययः। शयवासवसिष्वकालात्।
पाणिनि सूत्र - 6/3/18 से अलुक

4. संस्कार-विज्ञान - पृ. 80

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसके उत्तर में बालक ब्रह्मचर्य-व्रत के अनुपालन के लिए **ब्रह्मचार्यसानि अपोऽश्नानि, कर्म करवाणि, न स्वप्नानि, वाचं यच्छानि, समिधमादधामि अपोऽश्नानि**[1] यह संकल्प लेता है। संकल्प की यह अवधारणा बालक को नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुपालन के साथ आचार-व्यवहार का प्रशिक्षण प्रदान कर आत्मानुशासी बनाती है। नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुपालन की शिक्षा में **यम-नियम**[2] की प्रधानता परिदृष्ट होती है, जिसके लिए **वेद** में स्थान-स्थान पर स्पष्ट निर्देश दिये गये हैं। **वेद** के इन निर्देशों में शिक्षा-तत्त्व की प्रधानता ही दिखाई देती है।

वैदिक शिक्षा का मुख्य तत्त्व ज्ञान-परक चिन्तन के साथ आध्यात्मिकता का प्रशिक्षण है, जिसका बीज मन्त्र **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** है, जो **यावज्जीवमधीते विप्रः** के कथनानुसार जीवन-पर्यन्त चलता रहता है। इस प्रक्रिया में यम-नियम के अनुपालन की प्रधानता पर अत्यधिक बल दिया गया है। इस सम्बन्ध में ऋषि-मुनियों की अवधारणा थी कि बिना यम-नियम के अनुपालन के कर्म में श्रेष्ठता नहीं आ सकती है और श्रेष्ठ कर्म के अभाव में मानव के सर्वाङ्गीण विकास की परिकल्पना दिवा-स्वप्न सी प्रतीत होती है, जिसमें आधार-आध्धेय का अभाव होता है। सम्भवतः मन्त्रद्रष्टा महर्षियों ने इसी दोष को दृष्टिगत रखते हुए मानव जाति के कल्याणार्थ जहाँ एक ओर ज्ञान-परक सृष्टि-विज्ञान विषयक चिन्तन द्वारा बौद्धिक पक्ष के विकास के साथ-साथ आत्म-तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को पहचानने का मार्ग प्रशस्त किया है, वहीं दूसरी ओर वैयक्तिक और सामाजिक पक्ष के विकास के लिए शारीरिक और

---

1. संस्कार-विज्ञान - पृ. 80
2. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।
   पातञ्जलयोग प्रदीप (साधनपाद) - 30
   शोचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
   पातञ्जलयोग प्रदीप (साधना पाद) - 32

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानसिक दृष्टिकोण को आध्यात्मिक प्रशिक्षण द्वारा विकसित करने का उपदेश दिया है। क्योंकि कहा भी गया है- **संसार में न तो धन का प्रभुत्व है, न ही बुद्धि का। यदि किसी का प्रभुत्व है, तो चरित्र का और पवित्रता का।** इस अवधारणा के पीछे यह मान्यता रही होगी कि बिना आध्यात्मिक परिशुद्धि के शुद्ध चैतन्य बुद्धि की परिकल्पना नहीं की जा सकती और बिना शुद्ध बुद्धि के ज्ञान का उद्‌बोध सम्भव नहीं है।

एतदर्थ महर्षियों ने सुमति की आकाखा से श्रुति-स्मृति वाक्यों द्वारा देवार्चना की है। देवार्चना का मुख्य उद्देश्य मानव-व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास है, जो आचार-विचार और व्यवहार की शुद्धता पर निर्भर करता है। इसीलिए अनादिकाल से ऋषि-मुनियों ने आचार-विचार और व्यवहार में शुद्धता के साथ-साथ खान-पान की ओर विशेष ध्यान देने का निर्देश दिया है। उनकी इस सम्बन्ध में अवधारणा रही है कि मानव का खान-पान जैसा होगा वैसी ही उनकी बुद्धि का विकास होगा। बौद्धिक विकास मानव के चिन्तन परम्परा को प्रभावित करता है। इसीलिए सर्वत्र बौद्धिक पूर्णता की ओर विशेष ध्यान देने का सुझाव दिया गया है। इस विषय में औपनिषदिक वाक्यों के अनुवादक के रूप में कहा गया है कि **दीपो भक्षयते ध्वान्तं कज्जलञ्च प्रसूयते** अर्थात् दीप अन्धकार को खाता है, काजल को पैदा करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जैसा भोजन करोगे, वैसी ही बुद्धि बनेगी तथा जैसी बुद्धि होगी वैसे ही विचार और व्यवहार होंगें। जैसा कि कहा भी गया है- **काजल की कोठरी में कैसो ही सयानो जाय, काजल की छाप भई लागे ही लागे।** कहने का आशय यह है कि आचार-विचार और व्यवहार पर खान-पान का प्रभाव पड़ता है, जो बुद्धि को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता। अतः खाद्यान्न का उपभोग स्वाद के रूप में नहीं अपितु उसमें निहित विशिष्टता के आधार पर करना चाहिए और विशिष्टता तब आती है, जब उसे भगवद् अर्पण के पश्चात् सेवन किया जाता है। वह शक्ति युक्त तब होता है, जब हम उसे सब के साथ बाँट कर खाते हैं, यही

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानव-व्यवहार है, जिसमें सह-अस्तित्व और सद्-भाव समाहित हैं और यह तभी हो सकता है, जब सुमति समाहित हो। जैसा कि कहा भी गया है - **जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना**। इसी आधार पर महर्षि ने वैदिक मन्त्रों के माध्यम से कहा है - **श्रेष्ठ संसार के उत्पादक सविता देव के विचित्र गुणों से युक्त लोक-कल्याणकारी उस सद्बुद्धि को मैं अपनाता हूँ, जिसकी पुष्ट सहस्रों धारा वाली दुग्ध से गौरवान्वित वाणी को महर्षि कण्व ने दुहा था**[1]। कहने का तात्पर्य यह है कि सुमति के द्वारा ही लोक-हित, विश्व-हित तथा समाज और राष्ट्र के हित की कामना सम्भव है। सुमति ही मानव में निहित अज्ञान, दुर्भाव, पापवृत्ति, अकर्मण्यता, अप्रतिष्ठा और द्रोह आदि दुर्गुणों को नष्ट करती है।

एतदर्थ अनादिकाल से श्रुति-स्मृतिकारों ने **सुमति** अर्थात् सुन्दर विचारों की अभिवृद्धि के लिए आचार-शिक्षा की अनिवार्यता पर बल दिया है। क्योंकि आचारहीन व्यक्ति के लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं[2] अर्थात् आचार च्युत व्यक्ति को न तो लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और न ही परलोक में स्थान मिलता है, वह तो दिन-प्रतिदिन अधोगति को प्राप्त करता हुआ, गहन अन्धकार के सागर में समाहित होता दिखाई देता है। इस सम्बन्ध में वसिष्ठ-धर्मसूत्र की **आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य वेदाः**[3] यह उक्ति स्मृतिपटल पर उभरती है, जिसमें कहा गया है कि **सदाचार-रहित ब्राह्मण के लिए वेद वेदाङ्ग और**

---

1. तां-सवितुर्वरेण्यस्य चित्रा महि वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।
यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनां सहस्रधारां पयसा महीं गाम्॥

यजुर्वेद - 17/74, अथर्ववेद - 7/15/1

2. आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह च नश्यति॥

3. आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य वेदा षडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यज्ञानुष्ठान उसी प्रकार निरर्थक हैं, जैसे अन्धे व्यक्ति के लिए पत्नी की सुन्दरता। अतः वसिष्ठ-धर्मसूत्र ने पौनःपुन्येन धर्माचरण और सत्य-सम्भाषण करने की प्रेरणा दी है, जिससे सुमति का विकास सम्भव हो सके। उन्होंने इस सम्बन्ध में निर्देशात्मक शैली में कहा है कि **अरे मुनष्यों! धर्म का पालन करो, अधर्म से बचो। सत्य बोलो, मिथ्या से बचो। अपनी दृष्टि को विशाल बनाओ क्षुद्रता से बचो और किसी को भी पराया न समझो** [1]। ये भाव सुमति के बिना मानव में विकसित नहीं हो सकते, जिन्हें ऋषि-मुनियों और समाज सुधारकों ने सामाजिकता के बीज मन्त्र के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की है। इस सम्बन्ध में मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक इण्डिया व्हाँट कैन इट टीच अस में निर्दिष्ट किया है कि **प्राचीन भारतवासियों के लिए धर्म सबसे पहले अनेक विषयों के बीच एक रुचि का विषय नहीं था, अपितु वह सब का आत्म समर्पण कराने वाली विधि थी। इसके अन्तर्गत न केवल पूजा और प्रार्थना आती थी अपितु वह सब भी आता था, जिसे हम दर्शन, नैतिकता, कानून और शासन कहते हैं, उनका सम्पूर्ण जीवन उनके लिए धर्म था तथा दूसरी चीजें मानों इस जीवन की भौतिक अवश्यकताओं के लिए निमित्तमात्र थीं** [2]।

इसीलिए उन्होंने वैदिक वाङ्मय के द्वारा मानव-जाति के वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक आधार को उन्नत करने के लिए कर्म-काण्ड-मूलक आध्यात्मिक प्रशिक्षण के साथ आत्म-तत्त्व के विकास में ज्ञान-पक्ष की सत्ता को समाहित कर शिक्षा के औपचारिक-अनौपचारिक साधनों को समान रूप से महत्ता प्रदान की है, जिससे बालक के शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास को संतुलित रूप से विकसित किया जा सके अर्थात् विद्या (आत्म-ज्ञान)

---

1. धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत माऽनृतम्।
   दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम्॥
2. India what can it teach us - page - 107

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और अविद्या (शास्त्रीय ज्ञान) के उभय पक्ष की साधना द्वारा श्रेयस् की प्राप्ति और अनिष्टि के परिहार से मानव-व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सके, जिसमें सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक पक्ष की प्रधानता पर विशेष रूप से ध्यान दिया जा सके। एतदर्थ यों कहा जा सकता है कि प्राचीन ऋषि-मुनियों ने शिक्षा रूपी संसाधान के उद्देश्यों को प्रतिपादित करते हुए **ज्ञानदायक शिक्षा** और **विज्ञान वर्धक शिक्षा** के रूप में विभक्त कर दोनों की समान रूप से आवश्यकता पर बल दिया है। जैसा कि कहा भी गया है-

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्परोगम्[1]॥

इसी दृष्टि से ऋषि-मुनियों ने शिक्षा-तत्त्वों के निर्धारण में जहाँ एक ओर मानव की भौतिक समृद्धि के विकास की तरफ ध्यान दिया है, वहीं दूसरी ओर आत्म-तत्त्व की प्राप्ति में परमाह्लाद की अवस्था को पाने का मार्ग भी प्रशस्त किया है।

प्राच्य एवं पाश्चात्य वेद-समीक्षकों ने विश्व के आदिम ग्रन्थ ऋग्वेद को शिक्षा-तत्त्व के विपुल निर्देशों से मण्डित माना है। इसी प्रकार यजुर्वेद-सामवेद और अथर्ववेद में भी शिक्षा-तत्त्व की विपुल मात्रा में प्राप्ति होने का उल्लेख सभी विद्वान् करते हैं। इसी प्रकार आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों का मत है कि वैदिक वाङ्मय के विशिष्ट अंश उपनिषद्-साहित्य में वैदिक जीवन दर्शन की सारभूत शिक्षाओं को संकलित किया गया है। वैदिक जीवन-दर्शन का सार परमाह्लाद की प्राप्ति माना जाता है। इस परमाह्लाद की प्राप्ति की शिक्षा विशाल उपनिषद् साहित्य में विकीर्ण हैं। इस प्रकार विशाल वैदिक वाङ्मय का अधिकांश भाग शिक्षा-तत्त्व के विमर्श से विभूषित है।

---

1. हितोपदेश - 1/171

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अध्याय 3

वेदनिर्दिष्ट शिक्षा-प्रयोजन

वैदिक वाङ्मय में मानव जीवन का परम लक्ष्य **परमाह्लाद** बताया गया है, उसकी अनुभूति बिना ज्ञान के सम्भव नहीं है; जैसा कि कहा भी गया है-**ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः**। मानव में इस पशुसदृशता दोष को पनपने से रोकने के लिए धर्माचार्यों ने संस्कारों में विद्यारम्भ और उपनयन का षोडष संस्कारों में विधान किया है, जिसकी महत्ता को किसी भी रूप में झुठलाया नहीं जा सकता है। यह संस्कार प्रथम सोपान के रूप में मानव को संस्कारी बनाता हुआ उसके अन्तर में निहित गहन अन्धकार का विनाश करता है अर्थात् पूर्व संस्कारजनित दोषों का प्रक्षालन कर मानव को शुद्ध और सु-संस्कृत बनाता है। जिसके कारण मानव में मानवत्व के गुणों की अभिवृद्धि होती है। मानवत्व का मूल्याङ्कन व्यक्ति के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की पृष्ठभूमि के आधार पर किया जाता है। जिसके लिए वैदिक वाङ्मय में पर्याप्त निर्देश दिये गये हैं। इन निर्देशों को शिक्षा-शास्त्रीय शब्दावली में **शिक्षा के प्रयोजन** के नाम से व्यवहृत किया गया है, जिन्हें लक्ष्य कर शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया द्वारा मानव के सर्वाङ्गीण विकास को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। उसे इस योग्य बनाने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे वह आत्माभ्युदय को प्राप्त करता हुआ स्वयं के भरण-पोषण के साथ आश्रितों को संरक्षण प्रदान करता हुआ समाज-संरचना में महनीय योगदान दे सके। इस दृष्टि से मानवीय जीवन को उन्नत बनाने के लिए वैदिक वाङ्मय में वैयक्तिक और सामाजिक आधार पर प्रयोजन का आंकलन किया गया है, जिससे मानव आध्यात्मिक, आदिभौतिक और अधिदैविक नामक तीनों दुःखों के अभिघात से निवृत्त होता हुआ आत्म-तत्त्व के अवेषण में तत्पर हो सके।

व्यक्तित्व-विकास – **सत्यं शिवं सुन्दरम्** की अनुभूति मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है, जहाँ तक पहुँचाने के लिए मन्त्रद्रष्टा महर्षियों

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ने अपौरुषेय शब्दावली द्वारा मानव जाति को श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्ठान का उपदेश दिया है। ईप्सित फल की प्राप्ति के लिए विभिन्न अनुष्ठानों के माध्यम से मानव आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक कार्य क्षेत्र में प्रवेश कर शक्ति - सञ्चय द्वारा अपनी योग्यता को बढ़ाने का प्रयास करता है। प्रयास की इस शृंखला में आध्यात्मिक कार्य क्षेत्र को वरीयता देते हुए शारीरिक अङ्गों के सम-विकास की ओर विशेष ध्यान दिलाया है। इस सम्बन्ध में ऋषियों की धारणा है कि शरीर में स्थूल और सूक्ष्म अनेक शक्तियाँ विद्यमान हैं, जिनका अनुमोदन आधुनिक वैज्ञानिक भी करते आ रहे हैं। इन शक्तियों में वैसम्य उत्पन्न होने से मानव-व्यक्तित्व का विकास रुक सा जाता है अर्थात् जीवन में अधूरापन सा झलकने लगता है। इस झलकाव को रोकने के लिए ही ऋषि-मुनियों ने **सम विकास** के सिद्धान्त के आधार पर शरीर की स्थूल और सूक्ष्म शक्तियों को विकसित करने को प्रथम कर्त्तव्य बताया है, जिसे आध्यात्मिक शक्ति के विकास से सम्बोधित किया जा सकता है। **वाक्... प्राण... चक्षु... श्रोत्र... इत्यध्यात्मम्**[1] इस उपनिषद् वाक्य द्वारा वाणी, प्राण, नेत्र और श्रोत्रादि शक्तियाँ आध्यात्मिक शक्ति कही गई हैं, इनका विकास आध्यात्मिक शक्ति का विकास है। स्थूल शक्तियाँ सूक्ष्म शक्तियों की सहायता करें, सूक्ष्म - शक्तियाँ स्थूल शक्तियों की सहायक बने, इसका नाम है -सम-विकास। **आध्यात्मिक कार्य क्षेत्र** का तात्पर्य वैयक्तिक शक्तियों का कार्य क्षेत्र है, जिसके अन्तर्गत उत्तम आचारण और शारीरिक तथा मानसिक सम्पुष्टता के भाव निहित हैं।

आचरण की शुद्धता-व्यक्ति के वैयक्तिक विकास पर आचार-विचार और खान-पान का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इसलिए अनादिकाल से ऋषि-मुनियों और धर्म-प्रचारकों ने आचरण की शुद्धता के लिए **यम-नियम** के अनुपालन का उपदेश दिया है। आचार्य याज्ञवल्क्य ने यम-नियम के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहा है- **ब्रह्मचर्य**

---

1. छान्दोग्योपनिषद् - 3/12/2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(सभी इन्द्रियों का संयम) दया, क्षमा, दान, सत्य भाषण, सरलता, अहिंसा, चोरी न करना, माधुर्य (मधुर वचन बोलना) और दम (ज्ञानेन्द्रियों का दमन)- यम कहे गये हैं। स्नान, मौन रहना, उपवास, देव-पूजा, स्वाध्याय, लिङ्ग का निग्रह (कामुकता का त्याग), गुरु की सेवा, पवित्रता, अक्रोध और प्रमाद का त्याग-ये सभी नियम कहलाते हैं[1]। यम-नियम के बिना कोई भी अभ्यासी योग का अधिकारी नहीं हो सकता। यह न केवल योगाभ्यासियों के लिए ही अनिवार्य है, अपितु इनके अनुसार आचरण करना सभी आश्रम वासियों के लिए परमावश्यक है। बिना इनके अनुपालन के **सदाचार और शील** के भाव विकसित हो ही नहीं सकते हैं। **सदाचार और शील** नामक मानवीय गुणों की अभिवृद्धि के लिए सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय मानव-जाति को प्रशिक्षित करता आया है। इस सम्बन्ध में महर्षियों ने स्थूल शारीरिक शक्ति और सूक्ष्म आत्म-शक्ति को **सम विकास** के भाव से सत्कार्य में प्रवृत्त करने हेतु **चोरी न करना, व्यभिचार न करना, ब्रह्म हत्या न करना, गर्भपात न करना, सुरापान न करना, बारम्बार दुराचार न करना और पाप होने पर असत्य बोलकर उसको न छिपाना** इन सात मर्यादाओं के अनुरूप मानव-जाति को आचरण करने का निर्देश दिया है। महर्षि ने आचरण सम्बन्धित मर्यादाओं की परिगणना के साथ यह भी निर्देश दिया है कि इन मर्यादाओं में से एक का भी उल्लंघन मनुष्य को पापी बना देता है, फिर यदि अधिक मर्यादाओं का उल्लंघन हुआ तो उसके पापी होने में शङ्का ही क्या है[2] इन सात मर्यादाओं में छठी और सातवीं अर्थात्

---

1. ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्पना।
अहिंसा स्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः॥
स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः।
नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादताः॥
याज्ञवल्क्यस्मृति (प्रायश्चित्ताध्याय) - 312-313

2. सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुःस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
अयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळ पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥
ऋग्वेद - 10/5/6 अथर्ववेद - 5/1/6

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बारम्बार दुराचार न करना और पाप होने पर असत्य बोलकर उसको न छिपाना, मर्यादा अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन के उल्लंघन से मानव अधोगति को प्राप्त होता हुआ समाज को पतित बनाता है। अतः इस बुराई से बचने के लिए मनु-याज्ञवल्क्य-वृद्धहारीत आदि अनेक स्मृतिकारों ने **वेद-राशि** के अनुशीलन द्वारा सद्वृत्ति के अनुपालन का उपदेश दिया है। उनके मतानुसार सद्वृत्ति की अवज्ञा अर्थात् आचार-हीनता मनुष्य को असंयमित बनाते हुए उसे धर्म विरोधी कार्यों में प्रवृत्त करती है। जिसके फलस्वरूप उसमें निहित शक्तियों का ह्रास अधोगति के मार्ग को प्रशस्त करता है। इसीलिए विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों में मानव को शुद्धाचरण के अनुरूप समाजोचित कर्मों के विधान का उपदेश दिया है।

ऋषि-मुनियों ने जहाँ एक और समाजोचित आचरण के लिए सप्त-मर्यादाओं के अनुपालन का उपदेश दिया है, वहीं दूसरी ओर आत्म-तत्त्व के रूप में वैयक्तिक विकास की दृष्टि से **देवाराधना** के समय **आचमन** आदि विभिन्न धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन का विधान किया है। इन धार्मिक कृत्यों के पीछे न केवल अन्ध-विश्वास की अवधारणा निहित थी, बल्कि वैज्ञानिक सर्वेक्षणों ने भी इन्हें सही और औचित्य पूर्ण माना है। इस सम्बन्ध में किये गये वैज्ञानिक अन्वेषण उन तथ्यों की ओर विशेष ध्यान आकृष्ट करते हैं, जिनमें शारीरिक और आत्म - शुद्धि के लिए यज्ञादि अनुष्ठानों में सम्मिलित होने से पूर्व कुशा, धर्मासन आदि का विशेष रूप से प्रयोग करने का विधान किया गया था। यथा-यज्ञादि अनुष्ठानों के समय प्रयुक्त कुशा, मृगचर्म, ऊर्ण-वस्त्र और रेशमी वस्त्र को पवित्र माना गया है तथा उसे आसन और उत्तरीय के रूप में अपनाने का ऋषि-मुनियों ने आदेश दिया है। जैसा कि **चैलाजिनकुशोत्तरम्**[1], इस प्रयोग द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता में **कुश, मृग-चर्म, ऊन और रेशम के वस्त्र आदि पावन पदार्थों से**

1. शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 6/11

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पूजा-स्थल आवृत्त होना चाहिए, ऐसा निर्देश दिया गया है। ये निर्देश केवल यज्ञानुष्ठानों के समय प्रयुक्त सामग्री के लिए नहीं दिये गये हैं, अपितु ये वस्तुऐं विद्युत-शक्ति अवरोधक हैं, जैसा कि वैज्ञानिक अन्वेषेणों से सिद्ध है, इसलिए जप-पूजा आदि सभी कार्यों में इनका प्रयोग किया जाता था। कहने का अभिप्राय यह है कि जप-पूजा के द्वारा अन्तःकरण में सञ्चित शक्ति को पृथ्वी अपनी आकर्षण शक्ति से आकृष्ट न कर ले, इस उद्देश्य से संध्या - वन्दन के समय अवरोधक वस्तु के रूप में इनका ग्रहण किया जाता था। इसी प्रकार सूर्य-मण्डल तपश्चर्या द्वारा अर्जित शक्ति को अपनी और आकृष्ट न कर ले, आवृत्त (आच्छादित) स्थान का ग्रहण किया जाता है।

धार्मिक अनुष्ठानों के आरम्भ में शास्त्रोक्त मर्यादानुसार आचमन करने का विधान है। इस क्रिया में निहित वैज्ञानिक दृष्टिकोण का रहस्योद्घाटन करते हुए शतपथब्राह्मण में जिज्ञासुओं द्वारा की गई जिज्ञासा के उत्तर में कहा गया है- (i) जल का स्वभाव मलिनता को धोना है तथा (ii) दो वस्तुओं को आपस में मिलाना है। इसलिए जल को **पवित्र और मेध्य** माना गया है। **पवित्र** शब्द का अर्थ **शोधन करना** और **मेध्य** शब्द का अर्थ **परस्पर योग - शक्ति को उत्पन्न करना** है। यहाँ दोनों शक्तियों की आवश्यकता है, जिसके कारण शरीर की सूक्ष्म और स्थूल शक्तियाँ समान रूप से विकसित होती हैं। क्योंकि यदा - कदा मानव के सामने ऐसे अवसर आते हैं, जिनका लाभ लेने के लिए उसे झूठ का सहारा लेना पड़ता है अथवा यों भी कहा जा सकता है कि निजस्वार्थ-वशीभूत हो वह तथ्यों को इस तरह प्रस्तुत करता है, जिसका आधार असत्य पर आधारित होता है, जिसके कारण उसका अन्तःकरण मलिन और अशान्त हो उठता है, मन-कर्म और वचन में विसंगति होने लगती है। परिणामतः मिथ्या-भाषण और अन्य अनेक दूषित भावों से मन विकृत होने लगता है तथा कु-संस्कार जागृत होने लगते हैं, मानव के पथभ्रष्ट होने की सम्भावनाएँ प्रबल होती दिखाई देती हैं। इन सम्भावनाओं पर अङ्कुश लगाने की दृष्टि से ही ऋषि-मुनियों ने यज्ञादि अनुष्ठानों के

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समय **आचमन** का विधान किया है। यज्ञादि अनुष्ठानों के माध्यम से जो नये संस्कार उभर कर सामने आते हैं, उन्हें आचमन की प्रक्रिया द्वारा अन्तःकरण में समाहित किया जाता है[1]। यथा-मलिन वस्त्र पर रंग विशेष का संश्लेषण सम्भव नहीं है अथवा स्थूल वस्तुओं से पूरित घट में घटाकाश की कल्पना असम्भव है, उसी प्रकार मलिनान्तःकरण में सत् संस्कारों का संश्लेषण सम्भव नहीं है। अतः अन्तःकरण की शुद्धि के लिए अथवा अन्तःकरण में राग-द्वेष आदि दोषों को पनपने से रोकने के लिए सर्वप्रथम धार्मिक कृत्यों में आचमन का विधान किया जाता है, जिसके फलस्वरूप मानव के आचरण में शुद्धता का सञ्चार होता है।

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः[2]। इत्यादि श्रुति वचन विभिन्न अनुष्ठानों के द्योतक हैं, जिनमें उत्पन्न आसक्ति व्यक्ति के आचरण में शुद्धता का सञ्चार करती है। यथा - वाणी में सत्यता का सञ्चार करने के लिए **ऋत** के अनुशीलन का उपदेश दिया है। क्योंकि **ऋतं ज्ञानम्** के अनुसार **ऋत** ही ज्ञान है और ज्ञान परब्रह्म का स्वरूप है, जैसा कि कहा गया है - **ज्ञानं ब्रह्म। प्रज्ञानं ब्रह्म। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**[3]। अतः सर्वदा सत्य का अनुशीलन करना चाहिए, क्योंकि सत्य अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है, जिसे माया के नाम से अभिहित किया जा सकता है[4]। माया सांसारिक प्रलोभनों की जननी है, जिसमें अनुरक्त हो व्यक्ति निज़स्वार्थ की कामना से असत्य सम्वाद का सहारा लेता है। यद्यपि उसे इस क्रिया में सुख की अनुभूति होती है, किन्तु वह सुख क्षणिक होने से परमानन्द की अवस्था को सुलभ नहीं

---

1. ॐ ऐं आत्मतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा।
   ॐ ह्रीं विद्यातत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा।
   ॐ क्लीं शिवतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा।
   ॐ ऐं ह्रीं क्लीं सर्वतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा।
2. तैत्तिरियोपनिषद् - 11/1
3. तैत्तिरियोपनिषद् - 1/11
4. ब्रह्म सत्यं जगत्सत्यं मिथ्या मायैव केवलम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करा पाता। जैसा कि युजर्वेद में कहा है- **सत्य (ज्ञान) का मुख स्वर्ण-पात्र से ढका हुआ है। सत्य (ज्ञान के दर्शन) के लिए, हे साधक! तू उसे हटा दे** [1]। यह अनुभव हमें व्यावहारिक जीवन में भी होता है, यहाँ अपराध करने पर भी अपराधी अधिकारियों को रिश्वत देकर अपनी अपराध वृत्ति को छुपा लेता है, असत्य बोल कर स्वार्थ-सिद्धि कर लेता है, किन्तु असत्य क्षणिक फलदायी होने के कारण कालान्तर में दुष्परिणामों का जनक होता है। ये दुष्परिणाम केवल अपराध-वृत्ति के लोगों को ही प्रभावित नहीं करते अपितु उनकी सन्ततियों को भी उसके परिणाम भोगने पड़ते हैं अथवा उनकी सन्ततियों में भी ये दोष देखे जा सकते हैं, अर्थात् कुमार्गगामी की सन्तति भी कुमार्गगामी ही होती है, उन से सदाचरण की अभिलाषा नहीं की जा सकती है। इसके साथ ही साथ दूषित वातावरण से ग्रस्त समाज में उठने बैठने से भी मानव का अन्तःकरण मालिन्य से आच्छन्न होता है। इसीलिए अनादिकाल से **सद्-संगति** की महिमा का गुण-गान होता आया है। मुण्डकोपनिषद् ने पापाचार के उन्मूलन में **सत्य** के योग को निरूपित करते हुए कहा है - **यह अन्तःकरण में विद्यमान ज्योतिर्मय शुभ आत्मा निश्चय ही सत्य-भाषण, तप, ब्रह्मचर्य और यथार्थ ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है, सर्वदा दोष रहित साधक ही इसे देख पाते हैं** [2]। इसीलिए ऋषियों ने अनादिकाल से तप और स्वाध्याय

---

1. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

ईशावास्योपनिषद् - 15

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ओ३म् खं ब्रह्म॥

यजुर्वेद - 40/17

2. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

मुण्डकोपनिषद् - 3/1/5

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का महत्त्व प्रतिपादित किया है- **ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च...**[1]। तपश्चर्या द्वारा ही मानव आत्म - शुद्धि को प्राप्त कर सकता है, जिसके लिए महर्षियों ने **ऋत** के अनुपालन का मार्ग प्रशस्त किया है।

ऋग्वेद में कहा गया है कि **जो पाप कर्म करने में प्रसिद्ध हैं, जो पापमय जीवन वाले हैं, जो ज्ञान से द्वेष करने वाले हैं, जो कच्चा माँस खाने वाले हैं, जिनका रूप भयंकर है, जो बहुत खाऊ हैं, वे सभी राक्षस हैं, इनका नाश अवश्य करना चाहिए**[2]। इस अपौरुषेय वाक्य द्वारा यह शिक्षा मिलती है कि विश्व में **सदाचरण** का ही महत्त्व है। सदाचारी व्यक्ति ही समाज में प्रतिष्ठा और स्नेह को प्राप्त करता है। सदाचार ऋत (सत्य) से अनुप्राणित है। इस सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित नैतिक मूल्यों और उदात्त आचार-व्यवहार से सम्बन्धित विषय वस्तु आचरणीय है, जिसमें सत्य से सम्वेष्टित वाणी की महिमा को चित्रित किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में प्रथम अध्याय के षष्ठ-खण्ड में कहा गया है कि दीक्षित यजमान को सत्य ही बोलना चाहिए- **ऋतं वाव दीक्षा सत्यं दीक्षा तस्माद दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्।** इसी प्रकार के अन्य वचन भी हैं, यथा- **विदुषा सत्यमेव वदितव्यम्, अवत्येनं सत्यमनृतं हि नास्ति।** जो अंहकार से युक्त हो कर बोली जाती है, वह राक्षसी वाणी है- **यां वै दृप्तो वदति, यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाक्।** इसलिए मानव को सदैव सत्य वचन का ही अभ्यास करना चाहिए। जैसा कि शतपथब्राह्मण में कहा गया है- देवगण सदैव सत्य कथन रूप वृत्त का पालन करते हैं। अतः उनकी महिमा सारा संसार गान करता है। इस प्रकार जो मनुष्य हमेशा सत्य बोलता है, उसको भी समाज में उत्तम प्रतिष्ठा मिलती है। सत्य बोलने वाला मनुष्य

---

1. तैत्तिरीयोपनिषद् - 1/9
2. इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यघं तपुर्यस्तु चरुरग्निवाँ इव।
बह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने ॥

ऋग्वेद - 7/104/2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देवतुल्य हो जाता है। **सत्ववान् सात्त्विकः सत्यः सत्यधर्मपरायणः**[1], ये शब्द नारायण के वाचक हैं। अतः इनके अनुशीलन का सदैव उपदेश दिया जाता रहा है। **वाचं मे तर्प्पयत**[2] तथा **वाचं मे पिन्न**[3] इत्यादि श्रुति वचनों द्वारा ईश्वर आराधना में यही मङ्गल कामना की गई है। वक्ता और श्रोता दोनों पर ही वचनों का हृदय - स्पर्शी प्रभाव पड़ता है, इसके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है- **सत्यं वद। प्रियं वद। सत्यमप्रिय मा वद। प्रियं चासत्यं मा ब्रूहि**[4]। इसी उद्देश्य से आचार्य अध्ययनार्थी को शुद्ध स्पष्ट और स्वरानुसार उच्चारण का अभ्यास करने का निर्देश देता है।

ऋचं वाचं प्र पद्ये[5] में प्रयुक्त **प्र-पद** धातु का अर्थ-शरण लेना, प्राप्त होना, आगे बढना और उन्नति करना आदि है। इसलिए यहाँ **ऋचं प्र पद्ये** के अर्थ में ऋचा की शरण लेता हूँ, ऋचा को प्राप्त करता हूँ अथवा ऋचा का आश्रय लेकर उन्नति प्राप्त करने में कामयाब होता हूँ। ऋचा को प्राप्त करना वाणी का अवलम्बन करने के पश्चात् ही होता है, क्योंकि **ऋचा अथवा ऋग्वेद** शब्दराशि होने के कारण वाणी की शक्ति द्वारा ही उसके पास मनुष्य पहुँच सकता है। ऋग्वेद का स्वरूप सूक्त रूप है। **सूक्त** उत्तम भाषण, सुभाषण अथवा सुभाषित को कहते हैं। उत्तम भाषण से वाणी की शुद्धि होती है। ऋग्वेद में सूक्त अर्थात् उत्तम भाषण और उत्तम विचार युक्त वाक्य हैं। उनकी शरण लेने से वाणी और आत्मा की शुद्धि होती है। इसीलिए कहा गया है कि -**भद्रं वद गृहेषु च। भद्रं वद पुत्रैः**[6], अर्थात् अपने-अपने घरों में कल्याणकारक भाषण किया करो। लड़कों के साथ उत्तम भाषण करो। तभी वास्तविक

---

1. महाभारत (अनुशासन पर्व) - विष्णु सह. श्लोक - 106
2. शुक्ल यजुर्वेद - 23/48
3. यजुर्वेद - 14/17
4. तैत्तिरीयोपनिषद्
5. यजुर्वेद - 36/1
6. ऋग्वेद - 2/43/2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूप में **ऋत** का संचार हो पायेगा। अथर्ववेद में भी कहा गया है-**वाचं वदत भद्रया** [1] अर्थात् परस्पर कल्याण करने वाला भाषण ही करो। बुरा वक्तव्य देने से अनर्थ होता है, अनर्थ समस्त झगडों का मूल है। आपसी रागद्वेष और झगड़ों से बचने के लिए ही ऋषियों ने अपनी वाक् - शक्ति को लेकर ऋग्वेद के सूक्तों की शरण में जाने का निर्देश दिया है। क्योंकि ऋग्वेद के सूक्त ही ऐसे सशक्त साधन हैं, जिनके आत्मसात् करने से वाणी में शुद्धता और आत्माभ्युदय का मार्ग प्रशस्त होता है।

आत्माभ्युदय मनस् शक्ति से अनुप्राणित है। मानसिक उद्विग्नता असन्तोष, अराजकता और किं कर्त्तव्य विमूढ़ता का कारण है। जिसके कारण व्यक्ति अपना सन्तुलन खो बैठता है और आत्म-हत्या जैसे जघन्य कृत्य को अपना हथियार बना जीवन-लीला को समाप्त कर बैठता है। इसीलिए अनादिकाल से ऋषि-मुनियों ने चित्त की एकाग्रता के लिए यौगिक साधना [2] पर बल दिया है। इस सम्बन्ध में उनकी यह धारणा रही है कि बिना चित्त को एकाग्र किये व्यक्ति अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं हो सकता है [3]। व्यक्ति का स्वरूपावस्थित होना परमाह्लाद की अवस्था मानी गई है। जिसे प्राप्त करने के लिए ऋषि-मुनियों ने मन-कर्म और वचन में शुद्धता का विकास करने का निर्देश दिया है। व्यवहार में भी देखा जाता है कि निजस्वार्थ के मोहजाल में फंस कर व्यक्ति कहीं न कहीं छोटी-बड़ी गलती करता हुआ कुमार्ग पर चलने के लिए बाध्य हो जाता है। यही बाध्यता उसके मन-मस्तिष्क को विकृत करती हुई आत्म-शुद्धि का कारण बनती है। इस विषमता से बचने के लिए ऋषि-मुनियों ने अन्तःस्थल की शुद्धता पर बल दिया है। अन्तःस्थल की शुद्धता के निखार के लिए **मा ह्वाः** [4] अर्थात् कुटिल न

---

1. अथर्ववेद - 3/3/3
2. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। पतञ्जल योग - प्रदीप - 1/2
3. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। पतञ्जल योग - प्रदीप - 1/3
4. यजुर्वेद - 1/2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बनो, जो भी कुछ करना हो सरलता पूर्वक करो। **अहं अनृतात्.....**[1] अर्थात् मैं असत्य का त्याग कर सत्य के निकट पहुँचता हूँ। मैं इस व्रत का पालन करूँगा। यह मेरे लिए सुगम हो और इसमें मुझे यश मिले। मानव जाति इस सत्य-व्रत को अङ्गीकार करे, क्योंकि सत्य-निष्ठ आचरण का व्यवहार करने वाला व्यक्ति निर्दोष होता है और श्रेष्ठ कर्म के द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस् प्राप्त करता है। यही मानव-जीवन का चरमोत्कृष्ट लक्ष्य है, जिसकी परिणति के लिए आचार्य शिष्य के हृदय-स्पर्शन की भावना से **मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु** [2] का उपदेश देता है। जिसका मुख्य उद्देश्य मनस्-शक्ति को उभारने के लिए शिष्य को अपने मनोभावों के अनुरूप ढ़ालना है, जिससे उसका आत्मिक विकास हो सके। क्योंकि **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः** के अनुसार मन से ही संसार-बन्धन होता है और वही मोक्ष के लिए भी साधन है। इसीलिए षोडश संस्कारों में **अन्न-प्राशन** नामक संस्कार का अपना वैशिष्ट्य है।

आत्म-तत्त्व के विकास के लिए जितना महत्त्व मनस्-तत्त्व का है, उतना ही ज्ञानेन्द्रियों का भी। इसीलिए महर्षियों ने जहाँ वाणी की शुद्धता के लिए **ऋत** वचन के अभ्यास को महत्त्व दिया है तथा आत्म-शुद्धि के लिए **मनस्-शक्ति** के विकास की प्रक्रिया को विकसित किया है, वहीं दूसरी ओर ज्ञानेन्द्रियों के शोधन का भी निर्देश दिया है, जिसमें व्यक्ति के वैयक्तिक विकास की समग्रता के भाव ही परिलक्षित होते हैं, जिसे मानवता का उत्कृष्ट लक्ष्य माना गया है। इस लक्ष्य-सिद्धि के लिए उन्होंने मानव-जाति को उपदेश दिया है कि **अच्छी बातें ही कानों**

---

1. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।
यजुर्वेद - 1/5

2. ॐ मम व्रते ते हृदयं दधामि,ममचित्तमनुचित्तं तेऽअस्तु।
मम वचमेकमना जुषस्व बृस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥
पारस्करगृह्यसूत्र - 1/8/8

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से सुनों और अच्छी ही बातें आखों से देखो[1], क्योंकि इन सब का मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है, जिसे आत्मा का स्वामी कहा गया है।

यजुर्वेदीय मन्त्र में आत्म-शुद्धि के लिए ज्ञानेन्द्रियों के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए उनकी शुद्धि की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। इसीलिए तो कहा गया है कि- **मैं तेरी वाणी को शुद्ध करता हूँ। तेरे प्राणों को शुद्ध करता हुँ। तेरी आँखों को शुद्ध करता हूँ। तेरे कानों को शुद्ध करता हूँ। तेरी नाभि को शुद्ध करता हूँ। तेरे आचरण और पैरों को शुद्ध करता हूँ**[2]। इस अपौरुषेय वेद वाक्य द्वारा मानव-व्यक्तित्व के आचरण में शुद्धता की प्रधानता को प्रतिपादित किया गया है। इसके साथ ही साथ ऋषि-मुनियों ने यह भी समझाने का प्रयास किया है कि आत्म-शुद्धि के लिए आत्म-निरीक्षण की आवश्यकता होती है। बिना आत्म -निरीक्षण के व्यक्ति अपने अच्छे-बुरे कर्मों का मूल्याङ्कन नहीं कर सकता है। यदि व्यक्ति को आत्म-उन्नति के शिखर पर पहुँचना है, तो उसे दूसरों के छिद्रान्वेषण करने से पूर्व अपने आप में झाँक कर देखना चाहिए। दूसरों के छिद्रान्वेषण से तो व्यक्ति का वैयक्तिक ह्रास ही होता है। दूसरों में दोषों को खोजते-खोजते उन्हें अपनी त्रुटियों का बोध ही नहीं हो पाता और वे ये समझने लगते हैं कि मुझ से अच्छा व्यक्ति दूसरा कोई नहीं है। मन में इस तरह से पनपे भाव ही दोषों को जन्म देते हुए व्यक्ति को अवनति की ओर ले जाते हैं। अतः दोषों से बचने के लिए ही पूर्वाचार्यों ने अपनी न्यूनताओं को जानने के लिए आत्म-परीक्षण का उपदेश दिया है और बृहस्पति की उपासना

---

1. भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवां सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
ऋग्वेद - 1/89/8, यजुर्वेद - 25/2/1

2. वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि।
चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि।
नाभिं ते शुन्धामि.....चरित्राँस्ते शुन्धामि॥
यजुर्वेद - 6/14

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में कहा है कि **जो मेरे चक्षु, हृदय और मन में छिद्र अर्थात् दोष हों, वे बृहस्पति की कृपा से दूर होकर मेरी सब इन्द्रियाँ निर्दोष हो** [1]। इस मन्त्र में व्यक्ति के वैयक्तिक निर्माण के लिए तीन अवस्थाएँ आचरणीय है -

(क) अपने दोषों को जानना।

(ख) ज्ञानियों की सहायता से अपने दोषों को दूर करना और शुद्ध होना तथा

(ग) ईश्वर की कृपा से कल्याण को प्राप्त करना।

इन तीनों आचरणीय अवस्थाओं के लिए वैदिक वाङ्मय स्पष्ट निर्देश देता है। यज्ञ-अनुष्ठानों की विधा के द्वारा व्यक्ति का इन आचरणीय गुणों के अनुपालन का प्रशिक्षण दिया जाता है। जिन पारिवारिक परिप्रेक्ष्य में यम-नियमों पर आधारित आध्यात्मिक वातावरण का प्रभाव होता है, उस परिवार के सदस्यों में धर्माचरण की समस्या उत्पन्न नहीं होती अर्थात् उस परिवार के सभी सदस्यों में स्वतः ही सु-संस्कार जागृत हो जाते हैं। इसीलिए अनादिकाल से शिक्षा-शास्त्र के व्यापक प्रयोजनों में आचार शिक्षा को महत्ता प्रदान की गई है। क्योंकि कहा भी गया है- **आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः** अर्थात् आचारहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते हैं। अतः व्यक्ति के वैयक्तिक विकास के लिए सर्वप्रथम उसके आचरण की ओर ध्यान देना चाहिए। इसके लिए अनादिकाल से ही जप, पूजा-पाठ, ऋत के अनुशीलन और सत्य-व्रत के अनुपालन की शिक्षा पर बल दिया जाता रहा है।

आध्यात्मिक-प्रशिक्षण - मानव का साध्य-तत्त्व वैयक्तिक, सामाजिक और जागतिक शक्ति है। वैयक्तिक शक्ति से आध्यात्मिक भाव की,

---

1. यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः।

यजुर्वेद - 36/2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सामाजिक शक्ति से आधिभौतिक भाव की वृद्धि होती है, जिसके विषय में हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं तथा जागतिक शक्ति से आधिदैविक भाव की अभिवृद्धि होती है, जिसमें आध्यात्मिकता का पुट सन्निहित रहता है। बिना आध्यात्मिक भावों की अभिवृद्धि के मानव की चित्त-वृत्ति सत्य-अनुष्ठान की ओर प्रवृत्त नहीं होती है। सत्य- अनुष्ठान यज्ञ, दान और त्याग की भावना पर आधारित होने के कारण सर्वोत्कृष्ट मानवीय धर्म के नाम से जाना जाता है, जिसमें कर्म की प्रधानता को महत्ता दी गई है। **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** के अनुसार यज्ञ सर्वश्रेष्ठ कर्म माना गया है, जिसमें अनासक्ति भाव मोक्ष फलदायक होता है। इसीलिए ऋषि-मुनियों ने जिन पाँच महायज्ञों [1] के अनुष्ठान की बात की है, उनमें से प्रथम किन्तु महत्त्वपूर्ण ब्रह्म-यज्ञ है, जिसका विषय-क्षेत्र स्वाध्याय और प्रवचन माना गया है, अन्न व जल से पितरों का तर्पण पितृ-यज्ञ कहलाता है, हवन देव-यज्ञ है, बलिवैश्वदेव भूत-यज्ञ तथा अतिथि-पूजन मनुष्य-यज्ञ है [2]। इन यज्ञों के प्रति, नित्य प्रतिदिन की आसक्ति माता-पिता और आचार्य के ऋण से उऋण होने में सहायक सिद्ध होती है। इसलिए यज्ञादि अनुष्ठानों की इस विधा को आधिदैविक **कार्य-क्षेत्र** के नाम से संज्ञित किया जाता है।

यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु के अनुसार **यज्ञ** का अर्थ देवपूजा, संगतिकरण और दान है। **यत् देवा अकुर्वन् तत् करवाणि** [3] अर्थात् जो देवों ने किया वह मैं करूँ, इस अभिलाषा से देवत्व अर्थात् श्रेष्ठ

---

1. पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति।
शतपथब्राह्मण - 11/5/6/7
अथातः पञ्च यज्ञाः। देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति।
आश्वलायन गृहसूत्र - 3/1/1-2

2. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
मनुस्मृति -3/70

3. शतपथब्राह्मण-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गुणों की अभिवृद्धि हेतु कामना करता हुआ, **देवार्चना** नामक यज्ञ का विधान करता है। **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**[1] मन्त्र के अनुसार देवताओं ने यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ को आरम्भ किया। क्योंकि जन सामान्य के कल्याण के लिए जिन धर्मों के अनुपालन का निर्देश वेदों में देवताओं ने दिया है, वे धर्म पूर्व में भी विद्यमान थे। इन धर्मों के परिपालन की विधा यज्ञ-चक्र द्वारा निर्दिष्ट की गई है, जिसमें मानव-मात्र की उन्नति और कल्याण की भावना का संदेश मिलता है। इस विशिष्ट गुण के कारण ही यज्ञ पुरुष को **परमात्मा** शब्द से जाना जाता है। जिसकी प्राप्ति के लिए ऋषियों ने श्रेष्ठों का सत्कार, परस्पर एकात्म के भाव और दोनों की सहायता का मार्ग प्रशस्त किया है। इन कर्मों में आसक्ति के द्वारा ही समस्त मानव जाति का कल्याण निहित है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अपौरुषेय शब्दराशि द्वारा ऋषियों ने देवार्चना का विधान किया है। देवार्चना के द्वारा मानव आत्म-शुद्धि को प्राप्त करता हुआ सत्कार्यों में प्रवृत्त होता है।

आत्म-शुद्धि का मूलाधार परमात्म-ज्योति से तादात्म्य स्थापित करना है, जिसके लिए वैदिक ऋषियों ने परब्रह्म स्वरूप परमात्मा की अर्चना का विधान किया है। **हृदा मतिं ज्योतिः प्रजानन्**[2] इस मन्त्र में परमात्म-पद की प्राप्ति के लिए मानव को अपने हृदय में आत्म-ज्योति को प्रज्वलित करने का निर्देश दिया है अर्थात् **ब्रह्मवद ब्रह्मेव भवति** के भावों को अपने हृदय में सजोये रखने के लिए सदैव परमात्म-चिन्तन में लगे रहने का निर्देश दिया है, जिसके कारण उसका मन मालिन्यादि दोषों से रहित होकर वाणी में झलकने लगता है तथा वाणी से पवित्र कार्य सम्पन्न होते दिखाई देने लगते हैं अर्थात् मन-वचन और कर्म से

---

1. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥
यजुर्वेद - 31/16

2. त्रिभिः पवित्रैरपुपोद्धयर्कं हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन्।
वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी पर्यपश्यत्॥
ऋग्वेद - 3/26/8

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पवित्र हुआ मानव आत्म-शुद्धि को प्राप्त करता हुआ परमाह्लाद की अवस्था में पहुँच जाता है। यही परमाह्लाद की अवस्था आध्यात्मिक चिन्तन का अन्तिम सोपान माना गया है, जिसे कैवल्य की प्राप्ति में अन्तिम सीड़ी की उपमा दी गई है।

कैवल्य-पद ज्ञानालोक की परमोत्कृष्ट अवस्था है, जिसकी प्राप्ति के लिए ऋषियों ने **ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरिण्यं भर्गो देवस्य धीमहि-धियो यो नः प्रचोदयात्**[1] नामक गायत्री-मन्त्र द्वारा बुद्धि और मन को सत्प्रेरणाप्रदाता स्वरूप ज्योतिर्मय-पुञ्ज भगवान भास्कार की स्तुति की है। क्योंकि इस सम्बन्ध में उनकी धारणा रही है कि बिना ज्ञानालोक के आत्म-ज्योति को प्रज्वलित नहीं किया जा सकता है। **वि जानन् तमसः ज्योतिर्वृणीत**[2] मन्त्र द्वारा इस बात को पुष्ट किया है, जिसमें कहा गया है कि ज्ञान से युक्त होकर ही मनुष्य अन्धकार को पार कर सकता है अर्थात् बुद्धि की संशयात्मक प्रवृत्ति से निवृत्त हो ज्योतिर्मय-पुञ्ज को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि **बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति** इस कथन के अनुसार बुद्धि ज्ञान के द्वारा ही शुद्ध होती है। उत्तम ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य का मस्तिष्क उत्तम होता है। उत्तम मस्तिष्क मानव के अभ्युदय और आत्म कल्याण का कारण माना गया है। इसीलिए यज्ञादि अनुष्ठानों में आत्म-शुद्धि के साथ-साथ मस्तिष्क के निर्विकार की भी कामना की गई है।

ब्रह्मणा सुवीर्यजनान् चितयेका[3] इस ऋग्वेदीय मन्त्र द्वारा ऋषियों ने ज्ञान के महत्त्व को ही प्रतिपादित किया है। जिसमें देवार्चना के रूप

---

1. ऋग्वेद - 3/62/10, यजुर्वेद - 3/35, सामवेद-1462।
2. ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्नारे स्याम दुरितादभीके।
   इमा गिरः सोमपाः सोमवृद्ध जुषस्वेन्द्र पुरुतमस्य कारोः॥
   ऋग्वेद - 3/39/7
3. वयमग्ने अर्वता वा सुवीर्यं ब्रह्मणा वा चितयेमा जनाँ अति।
   अस्माकं द्युम्नमधि पञ्च कृष्टिषूच्चा स्वर्णं शुशुचीत दुष्टरम्॥
   ऋग्वेद - 2/2/10

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में कामना की गई है कि हम अपने उत्कृष्ट ज्ञान से लोगों में श्रेष्ठ बनें। ज्ञान से श्रेष्ठता प्राप्त करना दैवी सम्पत्ति है और बल से श्रेष्ठता प्राप्त करना आसुरी सम्पत्ति। दैवी सम्पत्ति शाश्वत उन्नति का कारण है और आसुरी सम्पत्ति क्षणिक उन्नति पर शाश्वत विनाश का कारण है। इसलिए वेद हमें ज्ञान या दैवी सम्पत्ति के द्वारा ही उन्नति करने का उपदेश देता है। कारण, ज्ञान के द्वारा प्राप्त किया गया ऐश्वर्य अजेय होकर मनुष्य में आत्म-तत्त्व के रूप में आलोकित होता है।

आत्म-तत्त्व की अभिवृद्धि आध्यात्मिक चिन्तन का मूलाधार है। जिसके अनुशीलन से आत्म-बल प्राप्त होता है। आत्म-बल मानवीय क्रियाओं का मूलाधार है, किन्तु क्रियाओं के साधकतम करण तो पञ्च-कर्मेन्द्रियों के साथ उभयेन्द्रिय मन ही है। इसीलिए वैदिक प्रार्थनाओं के माध्यम से महर्षियों ने निर्देश दिया है- **जो परमात्मा आत्म-शक्ति का दाता और शारीरिक-बल प्रदाता है तथा जिसकी उत्तम शिक्षा का सब देवगण पालन करते हैं तथा जिसका आश्रय अमृत अर्थात् मोक्ष-सुख है और जिसका आश्रय न करना, भक्ति न करना ही मरण है, उस सुख रूप देव की हम लोग होम के पदार्थों से सेवा करें**[1]। कहने का तात्पर्य यह है कि बिना यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों के आध्यात्मिकता का विकास असम्भव है, जिससे आधिदैविक शक्तियों को प्राप्त किया जा सकता है। अतः आधिदैविक शक्तियों के सञ्चयार्थ यज्ञादि अनुष्ठानों को सम्पादित करते हुए अभीष्ट देव से निवेदन किया है - **हमारी चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों, हृदय और मन में न्यूनता अथवा हीनता छिपी हुई है, उसको दूर करते हुए परम पिता परमेश्वर हमारा कल्याण करें**[2]। इस प्रकार की

---

1. य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
यजुर्वेद - 25/13

2. यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृष्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः।
यजुर्वेद - 36/2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनेकानेक कामनाओं के द्वारा आत्म-शक्ति को सञ्चित करता हुआ श्रेष्ठ गुणों की अभिवृद्धि हेतु **देवार्चना** नामक विधि द्वारा आध्यात्मिक भावों को मानव अपने में विकसित करता है।

स ज्योतिषां ज्योतिः [1] इस मन्त्र द्वारा महर्षि ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि तेज से तेज की अभिवृद्धि होती है, यह भी यज्ञ ही है। एक दीप से दूसरा दीप प्रज्जवलित होता है। गुरु से शिष्य का ज्ञानदीप जलाया जाता है। विश्व की समस्त मानव-जाति का अभ्युदय एक की तेजस्विता से दूसरे का आत्म-प्रकाश होने से होता है। यज्ञ का हेतु यही है कि इससे सब तेजों का संगठन हो और सबकी तेजस्विता बढ़े। यही भावना समाज को श्रेष्ठता प्रदान करती है, संगतिकरण की आवश्यकता को जन्म देती है। संगतिकरण का अर्थ है-संगठन, सामाजिक संगठन से समाज की शक्ति का विस्तार होता है। **यज्ञबन्धु मनुष्यः चेतयत्** [2] द्वारा ऋषि ने संगतिकरण के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि **यज्ञ** अर्थात् संगठन के कार्यों से प्रेम करने वाला ही मनुष्य को ज्ञान दे सकता है। जिसमें त्याग भावना का आधिपत्य होता, है वही दूसरे के उत्कर्ष में अपना अभूतपूर्व सहयोग दे सकता है। त्याग अर्थात् दान का अर्थ केवल धन देना नहीं है, अपितु जिसके पास जो वस्तु नहीं है, वह उसको देकर उसका उद्धार करना भी दान ही है। जिसके द्वारा मानव यशस्विता को प्राप्त करता हुआ आध्यात्मिक भावना से भाषित होता है।

शारीरिक सम्पुष्टता - शरीर, मन और हृदय का समाहार ही मानव है। इनमें हृदय तीसरा किन्तु परमात्म तत्त्व की अनुभूति से भक्ति-स्थल माना गया है। मन और शरीर ये कार्य-स्थल कहे गये हैं। इस कारण विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के प्रवर्तकों ने उन्हें तीन धाम की संज्ञा प्रदान करते हुए हृष्ट-पुष्ट, दृढ़ और शक्तिशाली बनाने का निर्देश देकर संगठनात्मक शक्ति के स्वरूप का बोध कराया है। इस सम्बन्ध में

---

1. यजुर्वेद - 2/9
2. ऋग्वेद - 4/1/4

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऋषि-मुनियों की अवधारणा रही है कि मात्र सूक्ष्म-शक्ति के विकास से आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि की संरचना की तो जा सकती है किन्तु स्थूल-शक्ति के अभाव में उसका पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि हमें वैदिक वाङ्मय के अध्ययन के उपरान्त होती है, जहाँ ज्ञान-पक्ष के साथ-साथ आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया में शारीरिक सौष्ठव की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया है। इस सम्बन्ध में सभ्यता और संस्कृति की परिचायक संस्कृत भाषा में अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं, जिसमें शारीरिक सम्पुष्टता को प्रधानता दी गई है यथा - **शरीरमाध्यमेन हि खलु धर्मसाधनम्।** यजुर्वेद में भी शारीरिक सौष्ठव की ओर ध्यान देते हुए निर्देश दिया गया है कि **हे शिष्य! तुम स्वयं शम-दमादि गुणों को धारण करते हुए अपने शरीर का निमार्ण करो** [1]।

शारीरिक सबलता स्वास्थ्य लाभ का मूत्र मन्त्र ही नहीं है, अपितु व्यक्तित्व की पूर्णता का प्रथम सोपान है। जिसकी पुष्टि हमें यजुर्वेद के **हविर्धानं दृं ष्व** [2] इस मन्त्र से होती है, जिसमें कहा गया है कि काम, क्रोध, मद, लोभ आदि पाशविक प्रवृत्तियों के दमनार्थ शारीरिक सबलता पर अत्यधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। क्योंकि काम, क्रोध आदि पाशविक प्रवृत्तियाँ मानव चित्त को अशान्त करती हैं, चित्त की अशान्ति का प्रभाव शरीर पर पड़ता है, जिसके कारण शारीरिक दुर्बलता को प्राप्त करता हुआ मानव विभिन्न रोगों से ग्रस्त हो जाता है। उसके व्यवहार में चिड़-चिड़ापन झलकने लगता है तथा शारीरिक शिथिलता और कार्य में अरुचि आदि अनेक दोष दिखाई देने लगते हैं। इन दोषों से बचने के लिए ही जहाँ एक ओर अपौरुषेय शब्दावली द्वारा आध्यात्मिकता का

---

1. स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे।।
यजुर्वेद - 23/15

2. यजुर्वेद -1/9

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रशिक्षण प्रदान करते हुए आत्मिक-शुद्धि का उपदेश दिया गया है, वहीं दूसरी ओर शारीरिक सम्वर्धन के लिए स्पष्ट निर्देश भी दिये गये हैं - जैसा कि **स्वयं वर्धस्व तन्वं सुजात**[1] इस ऋग्वेदीय मन्त्र द्वारा शरीर के सम्वर्धन की कामना की गई है। अन्य स्थल पर **ऊर्जः न पात्**[2] मन्त्र द्वारा शारीरिक क्षमता की अभिवृद्धि की कामना की गई है। शारीरिक सबलता स्वस्थ मस्तिष्क का प्रतीक है, जिसका सम्बन्ध ज्ञान पक्ष से है। इसीलिए कहा गया है कि **स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है** अतः शारीरिक सबलता जय, यश और धन का प्रतीक है। जैसा की कहा गया है **जिसकी लाठी, उसकी भैंस** अर्थात् जो शारीरिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट और बलवान् है, वही शक्तिशाली है, बिना शारीरिक सौष्ठव के कुछ भी सम्भव नहीं है। शरीर में ऊर्जा, ओज और बल रहना चाहिए। जिसके संरक्षण के लिए ऋषि ने यहाँ **स्वयं यत्न करो, स्वयं प्रयत्न करो** का निर्देश दिया है।

इस निर्देश के पीछे यह अवधारणा रही है कि स्वयं द्वारा किया गया व्यायाम ही अपने शारीरिक सौष्ठव को बनाये रखने में सहायक सिद्ध होता है, न कि दूसरे द्वारा किया गया प्रयत्न अन्य के लिए फलदायक होता है। जैसे कि खाना कोई खाये और पेट किसी और का भर जाये, यह सम्भव नहीं है, इसीलिए व्यायाम कोई करे और शरीर किसी का सबल हो यह सम्भव नहीं है। एतदर्थ यहाँ **स्वयं तन्वं वर्धस्व** के द्वारा स्वयं के प्रयत्न द्वारा शारीरिक सबलता का उपदेश दिया है। क्योंकि विचार-उच्चार-आचार अच्छे रहने से शरीर अच्छा रहता है और शरीर बलवान् रहने से यश प्राप्त हो सकता है। इसीलिए स्थूल और सूक्ष्म शक्तियों के सम-विकास के सिद्धान्त को अपनाते हुए व्यक्तित्व विकास की बात का सर्वत्र समर्थन किया गया है।

शरीर की स्थूल और सूक्ष्म शक्तियों के सम-विकास का सिद्धान्त मनुष्य को तेजस्विता प्रदान करता है। इसीलिए ऋग्वेद के मन्त्र में कहा

1. ऋग्वेद - 7/8/5
2. ऋग्वेद - 7/16/1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गया है कि **बलवान् पवित्र वीर अपनी बुद्धि के द्वारा शुभ कर्मों को सम्पादित करता है, अपने तेज से प्रकाशित है और बहुत अन्न या सामर्थ्य प्राप्त करता है** [1]। कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य को विभिन्न आयामों द्वारा शारीरिक बल, अन्तर्बाह्य पवित्रता, बुद्धि और तेजस्विता को अपने में विकसित करना चाहिए। जिसके लिए ऋषियों ने खान-पान, आचार-व्यवहार और रहन-सहन पर बल देते हुए अन्न, बल, शुचिता, बुद्धि और तत्पश्चात् तेजस्विता के क्रम को निर्धारित किया है। कारण, योग्य अन्न न मिलने पर शरीर दुर्बलता को प्राप्त होता है, शुचिता का अनुपालन न करने पर शारीरिक सबलता धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है तथा बुद्धि-बल अर्थात् तर्क-वितर्क की शक्ति के क्षीण होने पर व्यक्ति के अभ्युदय के समस्त मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। मार्गों के अवरुद्ध होने पर तेजस्विता का ह्रास हो जाता है। इन विषम परिस्थितियों से बचने के लिए ही शारीरिक सम्वर्धन की ओर विशेष ध्यान देने का आग्रह किया गया है, जिसमें आचरण की शुद्धता के साथ-साथ शारीरिक अवयवों के सम-विकास की ओर ध्यान देने का निर्देश दिया गया है।

शारीरिक अवयवों के सम-विकास के सिद्धान्त की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए अर्वाचीन महर्षियों ने कहा है कि- शिर में नेत्र हैं, वे एक पक्के फल को देख कर मन को प्रेरणा देते हैं कि यह फल शरीर के लिए उपयोगी है, अतः फल प्राप्त करना चाहिए। मन शरीर को उस फल तक पहुँचाने के लिए पावों को आदेश देता है, जिसके फलस्वरूप पैर शरीर को उस फल वाले वृक्ष तक ले जाते हैं, शरीर को वृक्ष पर चढ़ाते हैं, तब फल को तोड़ने के लिए मन हाथों को आदेश देता है, आदेश की प्राप्ति पर हाथ आगे बढ़ते हैं और फल को तोड़ लेते

---

1. उषो न जारः पृथु पाजो अश्रेद् दविद्युतद् दीद्यच्छोशुचानः।
वृषा हरिः शुचिरा भाति भासा धिया हिन्वान उशतीरजीगः॥
ऋग्वेद - 7/10/1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं। तत्पश्चात् पैर शरीर को वृक्ष से नीचे उतारता है, छुरी की सहायता से हाथ उस फल को काटकर मुँह में ड़ालते हैं, मुँह उस फल को दाँतों की सहायता से चबाता है और बारीक करके पेट में भेजता है। पेट उस फल को पचाता है, उसका रक्त बनाता है और हृदय के पास भेजता है। हृदय उस रक्त को शरीर के सभी अङ्गों में भेजता है, जिससे शरीर हृष्ट-पुष्ट बनता है। किन्तु शारीरिक अवयवों में आपसी सहयोग न होने के कारण शरीर दुर्बल और रोगग्रस्त हो जाता है, जिसके कारण मानव में अकर्मण्यता आ जाती है तथा उसके व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है। व्यक्तित्व विकास के अवरोध की आशङ्का से आशङ्कित होकर ऋषि-मुनियों ने वैदिक-देवताओं से शारीरिक अवयवों के सम-विकास की कामना की है। सम-विकास की इस प्रक्रिया के अन्तर्गत कर्त्ता-क्रिया-कर्म की एकरूपता का विशेष ध्यान रखा गया है, जिसका दिग्दर्शन हमें मन, वचन, कर्म की एकरूपता में होता है[1], जिसे व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की संज्ञा प्रदान की गई है।

अनुशासनात्मक जीवन - सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः[2] इस उपनिषद् वाक्य के आलोडन से यह विदित होता है कि वैदिककालीन शिक्षण-परम्परा में अनुशासनात्मक जीवन का वैशिष्ट्य था, जिसके लिए जिज्ञासु गुरु-सान्निध्य में अन्तेवासी के स्वरूप को प्राप्त कर **सा शिक्षा या ब्रह्मगतिप्रदा** के लक्ष्य को प्राप्त करने में योगिक विधाओं द्वारा चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करता था। सत्य-निष्ठ अभिव्यक्ति, धर्माचरण के अनुरूप आचार-विचार और व्यवहार के साथ-साथ अध्ययन के प्रति निश्छल भाव वेदाध्यायी का परम कर्त्तव्य था, जिसमें अनुशासनात्मक जीवन पद्धति के बीज अङ्कुरित होते दिखाई देते थे।

---

1. यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति,
   यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति,
   यत्कर्मणा करोति, तदभिसंपद्यते।

2. तैत्तिरीयोपनिषद् - 1/11

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुशासनात्मक जीवन पद्धति को ऋषि-मुनियों ने आन्तरिक अनुशासन और बाह्य अनुशासन, के नाम से दो भागों में विभक्त किया था। इनमें से आन्तरिक अनुशासन को वेदों में ऋत कहा गया है[1]। प्रकृति में सूर्य-चन्द्रादि सभी इसी आन्तरिक अनुशासन से अनुशासित होते हुए मनुष्य को उस अनुशासन में चलने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। मनुष्य का इस आन्तरिक अनुशासन के नियम पर चलते रहना इन ऋषि-मुनियों को अभीष्ट था। अतः उन्होंने व्यक्ति के वैयक्तिक विकास के लिए आन्तरिक अनुशासन को अधिक महत्त्व प्रदान किया। इसी लिए योग के साधन मार्ग में शरीर के बाह्य अनुशासन के साथ-साथ मन के आन्तरिक अनुशासन को प्रधान माना गया। क्योंकि केवल शरीरिक बाह्य अनुशासन से व्यक्ति का अनुशासित रहना सम्भव नहीं है, जब तक कि उसका मन अनुशासित न हो। अतः उन्होंने व्यक्ति को आध्यात्मिक आधार पर यम-नियम- प्राणायाम-अध्ययन और तपश्चर्या की पद्धति द्वारा क्रमबद्ध स्वरूप में अनुशासित करने का प्रयत्न किया था, जिससे उसके वैयक्तिक विकास के साथ-साथ समाज के संगठित स्वरूप का संरक्षण भी होता दिखाई देता था। महर्षियों की इस विषय में यह अवधारणा रही होगी कि बिना अनुशासनात्मक जीवन में **विश्वं भवत्येकनीडम्** की परिकल्पना का मूर्त रूप सम्भव नहीं है। अतः जहाँ वैदिक-कालीन शिक्षण व्यवस्था में ज्ञान-पक्ष को महत्ता प्रदान की गयी, वहीं दूसरी ओर वैयक्तिक और सामाजिक उन्नयन के लिए अनुशासनात्मक जीवन-पद्धति को विकसित किया गया।

वैयक्तिक और सामाजिक जीवन-पद्धति के उन्नयन में विचार-विनिमय का प्रधान स्थान है, जिसमें भाषा के निबन्धन की विशेष आवश्यकता है। एतदर्थ व्याकरणशास्त्र शब्दानुशासन के विधान द्वारा शब्दों को अनुशासित करने की विधा का निर्धारण कर भाषा के प्रवाह को परिष्कृत करता है, जिससे भाषा में असाधु शब्दों के प्रयोग से बचा जा

---

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति - पृ. 234-237

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि शब्दानुशासन की व्यवस्था यदि व्याकरण शास्त्र नहीं देते तो भाषा के साधुत्व-असाधुत्व का निर्धारण न होता और असाधु शब्द भी भाषा में साधु शब्दों का स्थान ग्रहण कर लेते। जिससे समस्त लोक-व्यवहार ही विनष्ट हो जाता। ऐसा न हो, इसके लिए ऋषि-मुनियों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र - चाहे वह अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा हो, स्वास्थ संवर्धन से सम्बन्धित दैनिक-चर्या हो अथवा ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिए स्वाध्याय, सर्वत्र अनुशासन पर बल दिया है। क्योंकि उनका यह मानना है कि[1] बिना अनुशासनात्मक भावना के व्यक्ति विनीत नहीं हो सकता, क्योंकि **विनय** जीवन का सर्वोच्च आभूषण है और विनय ही अनुशासन का मूल है।

विनय आदि व्यक्तित्त्व के विकास में अपेक्षित गुणों के अभाव में केवल ज्ञान या विद्या को भी हमारे चिन्तन में हेय माना गया है। विद्या के साथ दुर्जनता को कभी भी ग्राह्य नहीं माना गया है। अतः ज्ञानार्जन के साथ व्यक्तित्त्व का विकास भी शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य है। श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ के चतुर्थ दीक्षान्त समारोह के अवसर पर संस्कृत के सम्मुन्नायक पद्मश्री अलङ्करण से विभूषित महामहोपाध्याय डॉ. मण्डन मिश्र ने अपने दीक्षान्त भाषण में इस तथ्य को बड़े ही महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है- शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य ज्ञान-सम्पादन ही नहीं अपितु शील एवं व्यक्तित्व का सम्पादन भी शिक्षा का प्रमुख प्रयोजन होता है। मन को प्रसन्न करने वाली एवम् आत्मा का विकास करने वाली शिक्षा ही वास्तव में गौरव प्रदान करती है। ऐसी शिक्षा का ही समादर एवम् उपदेश भारत में श्रेष्ठ महर्षियों एवं पूर्वजों ने किया था। इस प्रकार की शिक्षा से शिक्षित एवं दीक्षित छात्र ही जीवन तत्त्वों को जानने में एवं जीवन कलाओं को समझने में समर्थ होते हैं। ऐसे ही स्नातक संसार में जो कुछ सत्य, शिव एवम् सुन्दर है उसको देखने में अनुरक्त एवम् उसकी समालोचना करने में समर्थ होते हैं। ज्ञान एक विलक्षण शक्ति का नाम है **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'**

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते यथा' 'सा विद्या या विमुक्तये' इन आर्ष वचनों से परम पुरुषार्थ मोक्ष को सिद्ध करने वाली एवम् अधिष्ठात्री विद्या ही ज्ञान शक्ति की पर्याय है, ऐसा प्रमाणित होता है। इस शक्ति का निपुण निक्षेप तथा इसका नियमन शील पर आधारित है। आजकल के विश्वविद्यालयों में अनेक प्रकार की विद्याएँ नई वैज्ञानिक विधियों से प्रतिपादित की जा रही हैं, परन्तु स्वार्थ-परायणता नैराश्य-प्रवणता, छल एवम् छद्म में निपुणता का स्वाभविक रूप से विरोध करने के लिए जिन संस्कारों की नव-यौवन में आवश्यकता होती है, उनकी प्रतिष्ठा में तो हमारे शास्त्र ही समर्थ हैं, न कि आधुनिक विद्याएँ। यह भी अवश्य समझ लेना चाहिए कि ज्ञान, बुद्धि में संस्कार पैदा करता है और यह संस्कार शील रूपी सम्पत्ति को उत्पन्न करता है, इस संस्कार से ही मानव का व्यक्तित्व सुगठित होता है।

वस्तुतः शिक्षासंस्था ही मानवता की निर्माणस्थली है। समाज का एक साथ समुत्थान ही शिक्षा का वास्तविक फल है। शिक्षा के उत्थान के लिए छात्र एवं शिक्षक दोनों का संयुक्त प्रयास आवश्यक होता है। इनमें भी शिक्षक की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है क्योंकि वही छात्र को अपने अनुशासित व्यवहार के द्वारा शिक्षा के प्रति प्रोत्साहित करता है।

सामाजिकता का विकास - जागतिक संसार में व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व का कोई महत्त्व नहीं है, इस चिर-स्थायी सत्य की अवधारणा अनादिकाल से चली आ रही है, जिसे किसी भी रूप में झुठलाया नहीं जा सकता है। जब से मानव ने समुदाय, समाज और राष्ट्र के अभिन्न अङ्ग के रूप में अपने आप को समाहित कर लिया है तब से उसके स्वयं का अस्तित्व ही समाप्त हो गया है। आज व्यक्ति, व्यक्ति के लिए बाद में महत्त्वपूर्ण है, जब कि समाज के लिए पहले, आज सामाजिक हित संरक्षण व्यक्ति का प्रथम कर्तव्य बन गया है, जिसे आधिभौतिक कार्य क्षेत्र की उपमा दी जाती रही है। व्यक्ति की यह शक्ति जैसे-जैसे

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विकसित होती जाती है, वैस-वैसे ही उसके बाह्य कार्य क्षेत्र विस्तृत होते जाते हैं। उसके क्रमशः कुटुम्ब, परिवार, संघ, जाति, राष्ट्र, मानव-समाज, प्राणी-समष्टि इत्यादि कार्यक्षेत्र एक से एक उसकी अन्तःशक्ति के विकासानुसार विस्तृत होते जाते हैं। मनुष्य (व्यक्ति) सम्पूर्ण समष्टि के आधार से स्थित है। व्यक्ति की शक्ति का पूर्ण विकास होने से पूर्व वह व्यक्ति समष्टि के कार्य करने के लिए योग्य नहीं होता है। अतः व्यक्ति को अपनी योग्यता बढ़ाकर अपनी शक्ति का यज्ञ, समष्टि के हितार्थ करना चाहिए।

व्यष्टि रूप मानव और समष्टि रूप समाज का संरक्षण आपसी सहयोग, सद्भाव और समानुकूलन की भावना के विकास पर निर्भर है, ऐसा क्यों न हो, व्यवहार में भी देखा जाता है कि जन्म के समय से मानव-शिशु असहाय और परोन्मुखी होता है, उसके पास अपनी क्षुधा को अभिव्यक्त करने के लिए न तो कोई सांकेतिक भाव होते हैं और न ही कोई भाषा। जीवन-संरक्षण की इस विपरीत परिस्थिति में बालक को संरक्षित करती है, माता-पिता और भाई-बहन की **बुढ़ापे में सहारा बनेगा मेरा लाल** यह आकाखा, जिसमें कुटुम्ब, परिवार, समाज, और राष्ट्र के संघटित स्वरूप के भाव निहित हैं। ऋषि-मुनियों ने इन भावों को जन-मानस तक पहुँचाने के लिए अपौरुषेय शब्दावली के रूप में वैदिक-वाङ्मय का सहारा लिया है, जिसमें ऋग्वेद का **दशम मण्डल** और अथर्ववेद के **तृतीय काण्ड** में वर्णित संज्ञान और एकता सूत्र प्रमुख हैं।

इन सूक्तों में वर्णित विषय के सूक्ष्मतम अध्ययन से ज्ञात होता है कि बालक का प्रथम विद्यालय उसका स्वयं का अपना घर है, जहाँ माता-पिता शिक्षक के रूप में उसके व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से **आचार शिक्षा** का उपदेश देते हैं तथा घर को साफ-सुथरा बनाये रखने में सभी पारिवारिक सदस्यों का समान रूप से कर्त्तव्य है, यह निर्देश बालकों को सामाजिकता का प्रशिक्षण प्रदान करता है। प्रशिक्षण की इस

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विधा का मुख्य ध्येय सम्प्रेषण की भावना से सत् कर्मों में प्रवृत्ति रहा है, जिसमें संयम और सदाचार के बीज प्रारम्भिक अवस्था से ही विद्यमान रहते हैं। संयम और सदाचार की सम्पन्नता के लिए व्यक्ति को चारित्रिक पवित्रता और मन की शान्ति की आवश्यकता है, किन्तु जब तक कोई भी व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, एकाकी रहकर संयमित नहीं रह पायेगा, यह कठिन है। इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए सुन्दर समाज की परिकल्पना को मूर्त रूप देने के उद्देश्य से ही विवाह संस्कार के मध्यम से ऋषि-मुनियों ने गृहस्थाश्रम में स्त्री-पुरुष के प्रविष्ट होने का निर्देश दिया है।

गृहस्थाश्रम भारतीय समाज का मेरुदण्ड कहा जाता है। अन्य आश्रमों की स्थिति गृहस्थाश्रम पर ही निर्भर करती है। गृहस्थाश्रम द्वारा प्रदत्त इस महत्त्वपूर्ण योगदान के आधार पर ही ऋषि-मुनियों का मानना है कि जन-मानस पर पारस्परिक ऐक्य, सौहार्द और सद्-भावना के भाव अङ्कुरित किये बिना सुख-शान्ति और समृद्धि से परिपूर्ण पारिवारिक जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसलिए प्राणी मात्र में कौटुम्बिक भावना की अभिवृद्धि ही हमारी सामाजिकीकरण का मूलाधार है, जिसे जन-मानस तक पहुँचाने के लिए वेद मन्त्रद्रष्टा महर्षियों ने ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल द्वारा जन-समुदाय को पारस्परिक सहयोग के गूढ़ार्थ को समझाने का प्रयत्न किया है। इस दिशा में महर्षि ने अपौरुषेय शब्दावली द्वारा शिक्षा दी है कि **तुम्हारा संकल्प एक समान रहे और तुम्हारे हृदय एक विध-एक समान, हो तुम्हारे मन एक समान हो, जिससे तुम्हारे परस्पर कार्य पूर्ण रूप से संगठित हो**[1]। हृदय की एकरूपता के अभाव में सौमनस्यता के भाव आ ही नहीं सकते हैं, सौमनस्य, सामाजिकता का बीज मन्त्र माना गया है। इसीलिए जहाँ कहीं

---

1. समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
ऋग्वेद - 10/19/3

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऋषि ने सामाजिकता के भावों को विकसित करने की आवश्यकता समझी, वहीं हृदय के एकाकार और मन की एकरूपता का उपदेश देकर मानव को संगठित रूप में रहने का निर्देश दिया है। इस सम्बन्ध में उनकी यह अवधारणा रही है कि बिना संगठित भाव के मानव-समुदाय का उत्कर्ष सम्भव नहीं है। जिसकी पुष्टि इस ऋषि-वाक्य के द्वारा होती है, जिसमें उन्होंने पारिवारिक जीवन में एकरूपता लाने के साथ ही साथ समुदाय-समाज और राष्ट्र में भी उन्हीं भावों को विकसित करने के उद्देश्य से **व्यावहारिक जगत में मिलकर चलना, बोलना और सोचना चाहिए** ऐसा उपदेश दिया है[1], इन्हीं भावों में एकरूपता का विकास करने के उद्देश्य से ही आचार्य शिष्य को उसके चित्त के अनुरूप ढ़लने का उपदेश देता है, जिससे एकमनस् हो शिष्य गुरु के अनुरूप आचरण करता हुआ अपने आंप को आश्रम-व्यवस्था के अनुरूप ढ़ालने का प्रयत्न करता है, प्रयत्न की यह विधा उसमें सम-विकास के सिद्धान्त को विकसित करती हुई आश्रमवासियों के साथ सह-अस्तित्व के भाव को विकसित करती है।

ऋग्वेदीय महर्षियों द्वारा प्रतिपादित एकता और संघठनात्मक सूत्रों का अनुसरण करते हुए अथर्ववेदीय महर्षियों ने संज्ञान नामक सूत्र के माध्यम से पारिवारिक पृष्ठ-भूमि को सामाजिक प्रशिक्षण का आधार मानकर सहयोग पर आधारित सह-अस्तित्व का बोध कराने का प्रयत्न किया है। सह-अस्तित्व का आधार प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्त पर आधारित है, जहाँ व्यक्ति एक-दूसरे के हित संरक्षण के लिए निजस्वार्थ भाव का त्याग कर आपसी सहयोग की भावना से कार्य करता है, जिसके मूल में मन की एकरूपता का भाव ही सन्निहित रहता है। जैसा कि कहा भी गया है- **साथ-साथ चलने, कार्य करने वाले, एक समान गति वाले**

---

1. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथा पूर्वे संजानानां उपासते।।

ऋग्वेद - 10/19/2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जनों का मन स्वाभाविक रूप से समान हो जाता है। अमरत्व या दीर्घायुष्य की रक्षा करती हुई दिव्य शक्तियों का मनोभाव, जिस प्रकार एक जैसा शुभ होता है, उसी प्रकार समान भावना वाले देशहित के एक उद्देश्य में निरत जनों का मनोभाव भी शुभ ही हो [1]। इस मन्त्र में सामाजिक भावना को विकसित करने के उद्देश्य से ऋषि ने जैसे एक परिवार में सौमनस्य और सामञ्जस्य की कामना की है, वैसा ही सौमनस्य और सामञ्जस्य विश्वपरिवार में भी आकाखित है।

सौमनस्य और सामञ्जस्य के भावों को विकसित करने के उद्देश्य से ही ऋषियों ने अपौरुषेय शब्दावली द्वारा सामाजिकीकरण के भावों को जन-मानस तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में उनका यह मानना है कि बिना सामाजिकीकरण के मानव में **सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः** के भाव विकसित नहीं हो सकते हैं। इस आशंका के निराकरण हेतु ऋषि ने उपदेशात्मक शब्दावली द्वारा निर्देश दिया है- **तुम्हारा जल पीने का स्थान सब के लिए समान हो, अन्न का भाग भी सब के लिए एक हो, समान कार्य को एक धुरी के नीचे रह कर कार्य करने वाले तुम हो, उपासना भी सब मिलकर एक स्थान में ही करो, जैसे चक्र के आरे नाभि में जुड़े होते हैं, वैसे ही तुम अपने समाज में एक दूसरे के साथ मिलकर रहो** [2]। इस कथन द्वारा महर्षि ने जातीय और राष्ट्रीय उत्थान के कार्य में संलग्न व्यक्तियों को इस मन्त्र का जाप करने का निर्देश दिया है, क्योंकि जाति चक्र के समान है, अतः जिस प्रकार चक्र के आरे चारों ओर से एक ही धुरी से जुड़े रहते है, ठीक उसी प्रकार चारों वर्ण और उनसे सम्बन्धित

---

1. सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोभ्येकश्नुष्टोन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु॥

अथर्ववेद -3/30/7

2. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥

अथर्ववेद-3/30/6

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जातियाँ व सम्प्रदाय भी राष्ट्र की धुरी से जुड़े रहते हैं। किन्तु यदि चक्र के आरे असावधानी वश धुरी से थोड़े पृथक् हो जाते हैं तो चक्र विध्वंस के कगार पर पहुँच जाता है, ठीक उसी प्रकार यदि समाज में ऊँच-नीच और जातिय भेदभाव के बीज अङ्कुरित होने लगते हैं, तो वर्णों में असमानता से साम्प्रदायिक तनाव राष्ट्र को विध्वंश के कगार पर लाकर खड़ा कर देता है। जिसके परिणाम स्वरूप समाज और राष्ट्र के प्रत्येक क्षेत्र में अलगाववाद और अराजकता के बीज अङ्कुरीत होते दिखाई देने लगते हैं। इस आशङ्का से शङ्कित हुए ऋषि ने ज्ञान की प्रथम किरण के साथ ही विभिन्न देवी-देवताओं के उपासना क्रम में मानव-जाति को सौमनस्य और सामञ्जस्य पूर्ण व्यवहार के अनुपालन का उपदेश दिया है।

राष्ट्रानुराग - विश्व में राष्ट्रवाद की संकल्पना का प्रामाणिक उल्लेख वैदिक संहिताओं में मिलता है, जिसमें **माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः**[1] के उद्‌घोष द्वारा राष्ट्र और राष्ट्रियता के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। सम्बन्धों की इस परिचर्चा द्वारा मानव में एकाकी जीवन से विरक्ति और जीवन मूल्यों के संरक्षण के अभाव ने चिन्तन की नई विचारधारा को जन्म दिया। एतदर्थ भयाकुल हुए मानव ने जीवन-मूल्यों के संरक्षण हेतु राष्ट्रवाद के रूप में संघ-शक्ति को सहायक माना, जिसकी महत्ता का प्रतिपादन वैदिक ऋषियों ने विस्तार से किया है। **गणेन मा रिषण्यः**[2] ऋचा द्वारा ऋषि ने **संघ में, गण में रहने से तुम्हारा नाश नहीं होगा,** ऐसी परिकल्पना की है। जिसके मूल में सम्भवतः अनादिकाल में अकेले व छोटे-छोटे समूहों में रहने से मानव-जाति के समक्ष असुविधा और असुरक्षा की समस्या के भाव सन्निहित जान पड़ते हैं, जिसका समाधान करने के लिए ऋषियों ने मानव-मात्र को आदेश दिया है कि समूह में रहने से ही तुम्हारा

1. अथर्ववेद - 12/1/12
2. ऋग्वेद - 7/9/5

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कल्याण होगा अन्यथा हिंसक प्राणी तुम्हारा वध कर डालेंगे। इस प्रकार के अनेकानेक अनाहूत विघ्नों से बचने के लिए ऋषियों ने संघ-शक्ति के रूप में राष्ट्रवाद की परिकल्पना की है।

राष्ट्रवाद की इस परिकल्पना को मूर्त रूप देने के उद्देश्य से ऋषियों ने वैदिक संहिताओं में एकता और संज्ञान नामक सूक्तों की संरचना द्वारा मानव-जाति को सद्-भाव, सह-अस्तित्व और आपसी सहयोग में सन्निहित जन-कल्याण की भावना का उपदेश देने का प्रयत्न किया है, जिससे राष्ट्रवाद के बीज अङ्कुरित होने की सम्भावना सुदृढ़ होती दिखाई देती है **संगच्छध्वं संवदध्वं...**[1] अथवा **सहनाववतु सह नौ भुनक्तु...**[2] या **अहं राष्ट्री संगमनी...**[3] इत्यादि मन्त्र मानव-जाति में भावनात्मक आसक्ति का विकास करने के लिए राष्ट्र का प्रतिपादन करते हैं। वैदिक राष्ट्रवाद व्यक्ति को समूहों से, समूहों को गण से और गण को गणतन्त्र से जोड़कर उसकी प्रगति को एक मौलिक आभास देता है। वैदिक ऋषियों की यह कामना रही होगी कि मानव जाति न केवल शारीरिक और मानसिक रूप से परिपुष्ट हो अपितु वह जिस भू-भाग में निवास करें, वहाँ के समस्त भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण को स्वच्छ और समुन्नत बनाएँ। इस महनीय कार्य को सम्पादित करने के लिए वैदिक ऋषियों ने राष्ट्रवाद या राष्ट्रिय भावना का विस्तार से प्रतिपादन किया है, जिसका संक्षिप्त और सारगर्भित स्वरूप हमें वेदों की ऋचाओं में देखने को मिलता है, जिसमें राष्ट्रवाद के विवेचन के व्याज से संघ शक्ति को निरूपित किया है।

---

1. सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसी जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
ऋग्वेद - 10/191/2

2. कठोपनिषद् (शान्ति पाठ)

3. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्या वेशयन्तीम॥
ऋग्वेद - 10/25/3

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यजुर्वेद में **आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो...**[1] मन्त्र में राष्ट्र के सभी अङ्गों के साथ उसके उत्थान की प्रार्थना की गई है। राष्ट्र की सब से पहली आवश्यकता अज्ञानता को दूर करते हुए ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना है, जो शिक्षा से ही सम्भव है। उस समय में 64 विद्याओं के अध्ययन और अध्यापन का प्रचलन था और जो लोग इसमें अधिकारी विद्वान् थे तथा परम्परागत रीति से इन विद्याओं को पढ़ाते थे, उन्हें ब्राह्मण कहा जाता था। कहने का अभिप्राय यह है कि वैदिककालीन शिक्षा व्यवस्था में अध्ययन-अध्यापन **द्वि-जाति** अर्थात् ब्राह्मणों का मुख्य कर्म समझा जाता था, जैसा कि विभिन्न ऋचाओं में दिव्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रार्थना कि गई है कि हे ब्रह्म देव! हमारे राष्ट्र के ब्राह्मण ब्रह्म तेज से सम्पन्न हो। यहाँ ब्रह्म तेज का अर्थ उस दिव्य ज्ञान से है, जिसके माध्यम से व्यक्ति स्वार्थ और लालच को छोड़कर एक उदार राष्ट्रिय भावना के साथ सब के विकास और सब के कल्याण की कामना से समाज को जागृत करने का अनुष्ठान करता है।

राष्ट्र की दूसरी आवश्यकता उसकी सुरक्षा है, जिन लोगों के ऊपर राष्ट्र की रक्षा का भार सौपा जाता था, वे राजा, राज-पुत्र, राजन्य या क्षत्रिय कहलाते थे। इसीलिए महर्षियों ने इस मन्त्र में ब्रह्मदेव से अर्चना की है कि हमारे देश के राजन्य शूरवीर, धनुर्विद्या में निष्णात्, आधि-व्याधियों से मुक्त और महारथी हों। तात्पर्य यह है कि सर्व-शक्ति सम्पन्न और धीर-वीर व्यक्ति ही समाज और राष्ट्र की आन्तरिक तथा बाह्य उपद्रवों से रक्षा कर सकता है। इसके लिए महर्षि ने **दूणाशं क्षत्रमजरम्**[2] इस ऋचा द्वारा सैन्यबल के सदैव देदीप्त रहने की कामना की है।

---

1. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां...।
यजुर्वेद - 22/22

2. ऋग्वेद - 7/18/25

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस दृष्टि से **रक्षोहणा सभृता वीलुपाणी**[1] ऋचा द्वारा महर्षि ने सैनिक को संगठित रहते हुए देशद्रोहियों को नष्ट करने की कामना की है। इससे यह ध्वनित होता है कि संगठित भाव द्वारा ही राष्ट्र का रक्षण किया जा सकता है, अन्यथा राष्ट्र की विध्वंसक शक्तियाँ विभिन्न उत्पातों के द्वारा अशान्ति और अराजकता फैलाने में सक्रिय होने लगेंगी। ऐसा, वे न कर पायें, इसके लिए महर्षि ने राष्ट्र-संरक्षण में तत्पर लोगों को संगठित रहने का उपदेश दिया है। यह उपदेश राष्ट्रानुराग का ही बीज मन्त्र है, जिसमें राष्ट्र संरक्षण में तत्पर व्यक्तियों को संगठित होकर राष्ट्र को विध्वंसकारी शक्ति से विनिर्मुक्त रहने का उपदेश दिया है। जैसा कि ऋग्वेद के **सधमादो अरिष्टा**[2] इस मन्त्र द्वारा **संगठित रहने वाले संकट ग्रस्त नहीं होते,** ऐसा उपदेश दिया है अर्थात् अनाहूत विपदा का सामना करते हुए विजय श्री को प्राप्त करते हैं।

राष्ट्र की तीसरी आवश्यकता कृषि और उत्पादन है। इसके लिए सामाजिक लोगों को वैश्य कहा जाता है। राष्ट्र की सम्पन्नता के लिए अच्छी कृषि, प्रतिदिन की आवश्यकता से सम्बन्धित खाद्यान्न की आपूर्ति और संसाधनों का निर्माण अनिवार्य है। इसके लिए वैदिक ऋषियों ने दोहरी प्रार्थना की है, जिसमें एक ओर वे पर्जन्यों से प्रार्थना करते हैं कि जब-जब आवश्यकता हो तब-तब अच्छी वर्षा कीजिए, ताकि समस्त सम्पदा फले-फूले और इस राष्ट्र के निवासियों का योग:-क्षेम स्वाभाविक रूप से निर्वाध चलता रहे तथा दूसरी ओर उन्होंने कृषि-कार्य में लगे हुए लोगों के स्वस्थ और सकुशल रहने की प्रार्थना की है, ताकि राष्ट्र के उत्पादन में किसी प्रकार की कठिनाई या बाधा न आ सके।

राष्ट्र की चौथी आवश्यकता उसका कला-कौशल और शिल्प-निर्माण आदि है, जिन लोगों को यह दायित्व सौंपा गया है, उन्हें सेवक या शूद्र

---

1. ऋग्वेद - 7/73/4
2. ऋग्वेद - 7/43/5

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहते हैं। इस मन्त्र में इन लोगों के स्वस्थ रहने की भी कामना की है, ताकि राष्ट्र का निर्माण-कार्य लगातार चलता रहे।

इस मन्त्र में वर्णित राष्ट्र के सभी सामाजिक अङ्गों द्वारा राष्ट्र के समुन्नयन की जिस प्रकार कामना की जाती है उससे राष्ट्र की समृद्धि का विकास भी वैदिक ऋषि को अभिप्रेत है, यह भी स्पष्ट होता है। इसलिए दुग्ध प्रदान करती हुई गायें, भार-वहन में सक्षम बैल, सुन्दर स्त्रियाँ, शत्रुओं को जीतने की इच्छा रखने वाले योद्धा, सभ्ययुवक और निर्भय प्रजा की भी कामना की गई है। यह भाव एक अच्छे स्वच्छ राष्ट्र का निर्माण करने की प्रबल इच्छा को प्रदर्शित करते हैं। इस मन्त्र के अन्त में स्वस्थ पर्यावरण की कामना भी ऋषि ने प्रकट की है, ताकि राष्ट्र का जीवन-निर्वाह अबाधित गति से अक्षुण्ण बना रहे।

इस प्रकार एक समृद्ध राष्ट्र के जितने भी आवश्यक अङ्ग सम्भव हैं, उन सब के प्रति हमारा कर्तव्य क्या हो, इसे प्रदर्शित किया गया है। शिक्षा, सुरक्षा, आर्थिक समृद्धि और परिचर्या, ये सारे अङ्ग जब विकसित होगें, तभी राष्ट्र अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल होगा, इस ओर वैदिक ऋषि का संकेत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

राष्ट्र की समृद्धि में जिस प्रकार राष्ट्र का आन्तरिक विकास महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार बाह्य तत्त्वों से सुरक्षा भी अत्यावश्यक है। यदि राष्ट्र सुरक्षित न हो तो विकास की गति मन्द होती है, यह सत्य हम सब को विदित है। वैदिक ऋषि इस तथ्य से भी अवगत हैं और ऋग्वेद में एक प्रसिद्ध सूक्त में इस ओर संकेत करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं [1]। इसी तरह के अन्य अनेक उदाहरण वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं, जिनके द्वारा यह विदित होता है कि वैदिक महर्षियों ने राष्ट्र-शक्ति को सर्वोपरि महत्ता प्रदान की है। ऋग्वेद के कई मन्त्र मातृ-भूमि के प्रति हमारे कर्त्तव्यों का संकेत प्रदान करते दिखाई देते हैं। मातृ-भूमि के प्रति

---

1. ऋग्वेद - 1/80/1-16

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किसी प्रकार का प्रमाद या अपराध हम न करें, इस प्रकार का भाव भी ऋग्वेद के मन्त्रों से प्राप्त होता है। **अनागसो अदितये**[1] मन्त्र द्वारा महर्षि ने यह निर्देश दिया है कि **हम अपनी मातृ-भूमि के प्रति कोई अपराध न करें।** इससे राष्ट्र-भूमि के प्रति जागरूकता की भावना स्पष्ट होती है। यदि समाज या व्यक्ति राष्ट्रिय भावना से च्युत हो तो अवश्य वह मातृ-भूमि के प्रति अपराध या प्रमाद कर सकता है। वैदिक ऋषि ने उसे सजग किया है कि वह इस प्रकार का कोई कार्य न करे, जिससे राष्ट्र में अराजकता, वैमनस्य, आपसी असहयोग आदि की भावना बढ़ जाये। इसी संदर्भ में एक अन्य मन्त्र भी इस ओर संकेत करता दिखाई देता है- **मा मातरं ... पत्तवेकः**[2] वैदिक ऋषि यहाँ यह संकेत देता है कि अपनी मातृ-भूमि की अवनति न करो। इससे यह प्रगट होता है कि राष्ट्र की अवनति या उन्नति समाज और व्यक्ति के हाथ में है। वह राष्ट्र को उन्नति की ओर ले जा सकता है और अवनति की ओर भी। वैदिक ऋषि का अवनति की ओर न ले जाने का संकेत राष्ट्र-भक्ति की भावना को सर्वोपरि रखने की प्रेरणा प्रदान करता है। वैदिक ऋषि मातृ-भूमि को देवता स्वरूप मानते हुए प्रार्थना करता है **मा नो माता पृथिवी दुर्मतौ धात्**[3] अर्थात् हमारी मातृ-भूमि हमें दुर्गति से बचाए।

इस प्रकार एक ओर ऋषि मातृ-भूमि के प्रति अपराध न करने की शिक्षा देता है तथा दूसरी ओर मातृ-भूमि से अपने दुर्गुणों से बचने की प्रार्थना करता है। उसकी दृष्टि में मातृ-भूमि की सेवा ही राष्ट्र-भावना है। यह भी ऋग्वेद के मन्त्र में स्पष्ट होती है। ऋग्वेद के **उपसर्प मातरं भूमिम्**[4] इस मन्त्र से झलकता है, जिसमें महर्षि ने मातृ-भूमि की सेवा

---

1. ऋग्वेद - 5/82/6
2. ऋग्वेद - 4/18/1
3. ऋग्वेद - 5/42/6
4. ऋग्वेद - 10/18/10

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का निर्देश दिया है। **यतेमहि स्वराज्ये** [1] मन्त्र द्वारा भी यही भाव निष्पन्न होता है, जिसमें महर्षि ने नागरिकों को राज्य की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहने का निर्देश दिया है। उपर्युक्त समस्त सन्दर्भ राष्ट्र-भक्ति या राष्ट्रानुराग की भावना को पुष्ट करते हैं।

शिक्षा का वेदनिर्दिष्ट प्रयोजन **राष्ट्रानुराग** इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि वैदिक शिक्षा-पद्धति केवल व्यक्ति की उन्नति की ओर ध्यान नहीं देती अपितु सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र की उन्नति की ओर भी ध्यानाकर्षण करती है। भारतीय चिन्तन केवल व्यक्ति को केन्द्रित करता है और समाज या राष्ट्र को केन्द्रित नहीं करता, ऐसा चिन्तन त्रुटिपूर्ण है। उपर्युक्त राष्ट्रानुराग का विश्लेषण इस बात को स-प्रमाण सिद्ध करता है कि वैदिक ऋषि व्यक्ति के साथ समष्टि के उन्नयन की ओर भी कितने जागरूक थे। यदि व्यक्तिगत उन्नति ही वैदिक शिक्षा का प्रयोजन होती तो राष्ट्रानुराग की भावना का संकेत वेदों में कदापि प्राप्त न होता। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक शिक्षा-पद्धति अपने आप में परिपूर्ण है और व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए उपयुक्त है।

वैदिक ऋषि इस बात से पूर्णतः परिचित थे कि व्यक्ति और समाज की अभ्युन्नति के बिना समृद्ध राष्ट्र की कल्पना अतिशयोक्ति है। एतदर्थ ऋषि-मुनियों ने वैदिक वाङ्मय के माध्यम से जहाँ एक ओर व्यक्ति और समाज की अभ्युन्नति के लिए दिशा-निर्देश दिये हैं, वहीं दूसरी ओर इनके संरक्षण और सम्वर्द्धन के लिए राष्ट्र-पुरुष की परिकल्पना के अनन्तर राष्ट्रानुराग की भावना को विवेचित किया है, जिसमें सुसंगठित समाज का परिदृश्य ही झलकता है।



1. ऋग्वेद - 5/66/6

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अध्याय 4

वेदकालीन शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया

मानव व्यवहारों में अपेक्षित परिवर्तन लाने हेतु जिन विशेष परिस्थितियों का विद्यालय-प्राङ्गण और कक्षा-कक्ष में निर्माण किया जाता है, उनका उद्देश्य अध्येता की स्मृति शक्ति को विकसित करते हुए बौद्धिक-व्यवहारों में परिवर्तन द्वारा उसके मौलिक, काल्पनिक और समीक्षात्मक चिन्तन-स्तर को विकसित करना है। विकास की इस शृंखला को शिक्षाविदों ने **स्मृति-स्तर, बोध-स्तर और चिन्तन-स्तर** के रूप में तीन भागों में विभक्त किया है। जिसकी परिपुष्टि ब्रह्मसूत्र के इस वचन द्वारा मिलती है, जिसमें कहा गया है कि - प्राणी मात्र को श्रुति वचनों से आत्म-तत्त्व के विषय में मनोयोग पूर्वक श्रवण करना चाहिए। दर्शन शास्त्रों के अनुसार युक्ति-पूर्वक चिन्तन करना चाहिए तथा चिन्तन द्वारा समुपलब्ध आत्म-स्वरूप विषयक समाधि ज्ञान द्वारा आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए[1]। यही ज्ञान की परम सीमा है, जिसके लिए शास्त्रज्ञों ने स्वाध्याय और प्रवचन का उपदेश दिया है[2]।

स्वाध्याय और प्रवचन ये दोनों शिक्षणाभ्यास के साधन हैं, जिनके द्वारा सम्पूर्ण ज्ञानात्मक प्रक्रिया को ऋषि-मुनियों ने चार कालों

---

1. आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
ब्रह्मसूत्र - 1/1/23

2. ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा। तप इति तपोनित्यः पौरूशिष्टः स्वाध्यायप्रवचने एवेति नामो मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः।
तैत्तिरीयोपनिषद् - 1/9

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आगम-काल, स्वाध्याय-काल, प्रवचन-काल, और व्यवहार-काल में विभक्त किया है। आगम-काल ज्ञान-ग्रहण अवस्था का समय कहलाता है तथा स्वाध्याय से तात्पर्य-**वर्ण-राशि रूप वेद का विधिवत् अर्थबोध-ग्रहण करना है**। इस प्रकार आगम और स्वाध्याय काल में उपनीत बालक गुरु-अनुकम्पा से वेदोच्चारण की शैली से ही परिचित नहीं होता, अपितु वेदार्थ का अनुशीलन करते हुए स्व तत्त्व की जागृति द्वारा अपने आप को उसके अनुरूप बनाने का प्रयत्न भी करता है। इस प्रकार आगम और स्वाध्याय काल दोनों में एकरसता है, जिसके अन्तर्गत वेदाध्यायी गुरु-मुख से श्रुत मन्त्र के अर्थ ज्ञान के साथ उसी रूप में स्वर और लय के साथ उच्चारण पूर्वक स्वकीय अध्ययन को आगे बढ़ाता है। किन्तु **स्वाध्याय** की सार्थकता प्रवचन पर आधारित है, जिसके लिए प्रवचन-काल और व्यवहार काल की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। प्रवचन काल के अन्तर्गत स्वाध्यायी आचार्य द्वारा प्राप्त ज्ञान को शिष्य-प्रशिष्य तक पहुँचाने का कार्य करता है, जिससे ज्ञानार्जन की सार्थकता सदैव बनी रहती है। अन्तिमकाल व्यवहार-काल है, इस अवस्था में जिज्ञासु समुदाय को ज्ञानार्पण की विधि द्वारा तत्त्वान्वेषी बनाया जाता है, जिसके लिए प्रवचन और व्यवहार काल को एक ही समय में सम्पन्न किया जाता है। जिसके लिए बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है- **आत्मनो वा अरे दर्शनेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्**[1]।

श्रवण मनन और निदिध्यास शिक्षणाभ्यास के प्रमुख अङ्ग हैं, जिन्हें स्वाध्याय और प्रवचन नामक प्रक्रिया के द्वारा अध्येता में विकसित किया जा सकता है। विकास की इस प्रक्रिया में स्वाध्याय और प्रवचन दोनों का ही समान रूप से महत्त्व है, एक को अनदेखा करने से दूसरे की सार्थकता संदिग्ध बन जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि केवल **स्वाध्याय** जो कण्ठस्थीकरण अर्थात् आत्मानुशीलन की शिक्षण-प्रक्रिया पर आधारित है, से अधिगम का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो पाता,

1. बृहदारण्यकोपनिषद् - 2/4/5

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसके लिए अध्येता को विषय-वस्तु के अर्थ-बोध हेतु भी उद्यत होना पड़ता है तथा प्राप्त ज्ञान के आधार पर जन-समुदाय में सामाजिक चेतना को जागृत करने के लिए क्रियापक्ष के रूप में **प्रवचन** की विधा को अपनाना पड़ता है, तब कहीं जाकर अधिगम के उद्देश्य की प्राप्ति होती है, जिसके लिए मन्त्रद्रष्टा महर्षियों ने सृष्टि के प्रारम्भ से ही स्वाध्याय और प्रवचन की अनिवार्यता पर बल दिया है। व्यावहारिक पक्ष से भी यदि देखा जाये तो महर्षि का यह चिन्तन सारगर्भित प्रतीत होता है, जिनमें इन भावों को प्रधानता दी गई है कि बालक के अन्तर्निहित संवेगों की अभिव्यक्ति केवल मात्र प्रवचन की प्रणाली द्वारा ही सम्भव हो सकती है[1]। इसके लिए ऋषि-मुनियों ने कथोपकथन की प्रणाली को अधिगम की प्रक्रिया में समाहित किया है, जो वास्तव में पूर्व सञ्चित अनुभवों के आधार पर प्राप्त ज्ञान को नवीन अनुसंधानों की ओर प्रवृत्त करती है। प्रश्नोपनिषद् इस प्रणाली का महत्त्वपूर्ण भाग है, जिसमें (गुरु) महर्षि पिप्पलाद सुकेश, शिबिकुमार, सत्यकाम, सौर्यायणी आदि अपने शिष्यों के प्रश्नों का उत्तर देते हुए **आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक** सभी प्रकार के सन्तापों की शान्ति का मार्ग प्रशस्त करते हुए उनकी जिज्ञासा को शान्त करते हैं। जिज्ञासु की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए जिस **प्रश्नोत्तर** विधि को ऋषि ने अपनाया है, वह कथोपकथन की ही विधि है और उसकी सार्थकता स्वाध्याय और प्रवचन की प्रणाली पर आधारित है।

स्वाध्याय और प्रवचन नामक शिक्षणाभ्यास की इस प्रणाली में गुरु के सान्निध्य का महनीय योगदान है। बिना गुरु की अनुकम्पा के छात्र की संशयात्मक वृत्ति का विनाश सम्भव नहीं है, जैसा की प्रश्नोपनिषद् द्वारा ज्ञात होता है कि शिष्य (जिज्ञासु) परब्रह्मतत्त्व स्वरूप

---

1. ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैव्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायना भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठा परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपासन्ना।

प्रश्नोपनिषद् - 1/1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परमात्मा के विषय में अपनी जिज्ञासा के समाधान हेतु महर्षि पिप्पलाद को सान्निध्य प्रदान करने की विनति करते हैं[1] तथा विनीत छात्रों को अपना सान्निध्य प्रदान कर उनकी ब्रह्म-ज्ञान विषयक जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार तत्त्वान्वेषी की सहायता में गुरु का अपना विशिष्ट महत्त्व है, जिसे **दूरस्थ-शिक्षा-प्रणाली**[2] में भी महत्ता प्रदान की गई है। इस विषय में हिन्दी-साहित्य में वर्णित यह उक्ति भुलाई नहीं जा सकती, जिसमें कहा गया है-

गुरु गोविन्द दोउ खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताय॥

कहने का तात्पर्य यह है कि गुरु अपने अलौकिक तेज से समीप में आए हुए जिज्ञासु बालक के अन्तःकरण में विद्यमान सन्ताप का हरण कर उसे सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करता है, जिससे वह आत्मनिर्भरता को प्राप्त करता हुआ अपने आश्रितों का भरण-पोषण और जिस समुदाय का वह अभिन्न अंग है, के कल्याण में सतत प्रयत्नशील रहता हुआ आत्माभ्युदय को प्राप्त करता है। एतदर्थ अनादिकाल से ही गुरु के महिमामण्डित स्वरूप को पूर्वाचार्यों ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश के नाम से अलङ्कृत किया है- **गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।**

अलङ्करणमयी इस उक्ति द्वारा गुरु का वह आलौकिक तेज झलकता है, जिसके द्वारा वह समीप में आये हुए जिज्ञासु की जिज्ञासा का समाधान प्रदान कर बुद्धि की संशयात्मक प्रवृत्ति का प्रक्षालन करता है। इसीलिए कहा भी गया है कि **गुरु बिनु ज्ञान कहाँ ते लाऊँ।** ज्ञानालोक द्वारा शिष्य को उपकृत करने के कारण यह क्रिया अन्तःप्रक्रिया के रूप में अभिव्यक्त की गई है, जिसके द्वारा शिक्षक छात्रों को अनेकों

---

1. तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति।

   प्रश्नोपनिषद् - 1/2

2. Distance Education

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकार की शाब्दिक अभिप्रेरणा प्रदान करता है। अभिप्रेरणा प्रदायक इस प्रणाली को वैदिककालीन शिक्षा-व्यवस्था में **गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण** की विधा के रूप में इङ्गित किया गया है, जिसके माध्यम से वेदों की रक्षा के लिए अध्यापन की मौखिक प्रक्रिया का उदय हुआ। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत सर्वप्रथम गुरु स्वर-वर्णादि की उच्चारण-प्रक्रिया का बोध कराते हुए मन्त्रों का सु-स्पष्ट उच्चारण करता था, तत्पश्चात् शिष्य गुरु मुख से श्रुत मन्त्र का उसी रूप में शुद्धोच्चारण पूर्वक अभ्यास करता था। इस क्रम से मन्त्र के उच्चारण को तब तक दोहराया जात था, जब तक कि शिष्य मन्त्र को पूर्ण रूप से ग्रहण न कर ले । इसके साथ ही साथ गुरु इस बात की ओर भी विशेष ध्यान देता था कि शिष्य उनके द्वारा उच्चारित मन्त्र का विधिवत् उच्चारण कर रहा है अथवा नहीं। जब तक गुरु इस बात से पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं हो जाता था कि शिष्य द्वारा उच्चारित मन्त्र का स्वर ठीक है, तब तक वह शिष्य को अगला पाठ नहीं पढ़ाता था।

वेदाध्ययन के लिए **गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण** परम्परा की विधि का उल्लेख ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में मिलता है, जिसमें आचार्य शौनक ने वर्ण-पद-सन्धि-स्वर-छन्द और क्रम-पाठ से सम्बन्धित सिद्धान्तों को विवेचित करने के साथ-साथ अध्यापन के व्यावहारिक पक्ष को **वेद** रूप अपौरुषेय शब्दावली को संरक्षित करने की विधा के रूप में निरूपित किया है। निरूपण की इस अवधारणा के पीछे आचार्य शौनक की यह इच्छा रही होगी कि वेदाध्ययन के इच्छुक लोगों को मौखिक परम्परा की विशेषताओं का बोध हो जाये तथा आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत लिपि के अभाव में किस तरह हमारे ऋषि-मुनियों ने सांस्कृतिक धरोहर रूप वैदिक वाङ्मय का संरक्षण और संवर्द्धन करते हुए अग्रिम पीढ़ी को हस्तान्तरित करने के उद्देश्य से मौखिक विधा का सृजन किया था, जिसमें गुरु की प्रधानता को किसी भी रूप में नकारा नहीं जा सकता है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेदाध्ययन के अधिकारी - ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में जहाँ एक ओर वेदाध्ययन की प्रणाली के विषय में चर्चा की गई है, वहीं दूसरी ओर वेदों के अध्ययन और अध्यापन के अधिकारी के विषय में भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। आचार्य शौनक ने वेद के अध्ययन और अध्यापन के अधिकार के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य देते हुए कहा है कि पात्रता-अपात्रता का ध्यान किये बिना किसी भी व्यक्ति को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए और न ही कोई सामान्य व्यक्ति वेद का अध्यापक बन सकता है। इसके लिए आचार्य को यह अधिकार दिया गया है कि अध्ययन के प्रति इच्छुक बालक को अन्तेवासी के रूप में प्रतिष्ठित करने से पूर्व इस सम्बन्ध में उसकी पात्रता का मूल्याङ्कन अवश्य कर लेना चाहिए, जिससे ऐसा न हो कि अनधिकारी को वेद के अध्ययन के लिए प्रवेश मिल जाये। इस सम्बन्ध में आचार्य शौनक ने शिष्य की पात्रता के विषय में स्पष्ट निर्देश दिये हैं। ऋग्वेद में वेदाध्ययन की पात्रता रखने वाले वेदाध्यायी के लिए शिक्षमाण [1] शब्द का प्रयोग किया है।

वेदाध्ययन के अधिकारी का पात्रता - यद्यपि आचार्य शौनक ने ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में वेदाध्ययन के लिए किसे योग्य माना जाए, इस सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत नहीं दिया है, फिर भी इतना अवश्य निर्दिष्ट किया है कि गुरु उन्हीं बालकों को अन्तेवासी के रूप में अपना सान्निध्य प्रदान कर वेद की विभिन्न शाखाओं का पाठ पढ़ाये, जिनके मन में गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा और तपश्चर्या व्रत को धारण करने की क्षमता विद्यमान हो [2]। वास्तव में वही व्यक्ति वेदाध्ययन का अधिकारी समझा जाता है, जिसमें गुरु के प्रति पूर्ण आस्था के साथ-साथ धर्मशास्त्र द्वारा निर्दिष्ट मर्यादाओं के अनुपालन के भाव झलकते हों। **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति** [3] इस उपनिषद् वाक्य द्वारा वेद के अध्ययन के

---

1. शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः। ऋग्वेद - 7/103/5
2. गुरुः शिष्येभ्यस्तदनुव्रतेभ्यः। ऋग्वेद - प्रातिशाख्य
3. कठोपनिषद् - 2/15

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अधिकारी के लिए कहा गया है कि- **जिस पद का वर्णन सभी वेद करते हैं वही पद सब को अभीष्ट है, वही अध्यात्म है। सभी वेद-वाक्यों का यही एक ध्येय है। जो यह जानता हो वही वेद समझा सकता है और यह न जानने पर समझना चाहिए कि वह वेद जानने में अक्षम है। वेदाध्ययन की योग्यता (पात्रता) का निश्चय करने से पूर्व आचार्य को मानव में अन्तर्निगूढ ढंग की जो सुप्त ब्रह्म-शक्तियाँ हैं, उन्हें जान लेना चाहिए**[1], तत्पश्चात् बालक को ब्रह्मचारी के रूप में वरण करना चाहिए अर्थात् वेदाध्ययन का अधिकार प्रदान करना चाहिए। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के मन्त्र में एक ऐसे ब्रह्मचारी का उल्लेख किया गया जो विद्याग्रहण करने के लिए सर्वत्र ब्रह्मज्ञानियों के पास जाता हुआ देवताओं का अङ्ग बनता है[2]।

वेदाध्ययन की पात्रता रखने वाले व्यक्ति में सत्कर्म की प्रेरणा सत्कर्म का संरक्षण, ज्ञान से पवित्रता तथा वाणी का माधुर्य होना चाहिए। पात्रता-अपात्रता के विभेद अर्थात् कौन- वेदाध्ययन का पात्र है? और किसे विद्यादान नहीं करना चाहिए? इस सम्बन्ध में आचार्य के सम्मुखोपस्थित हो स्वयं **विद्या** अर्थात् वाक्-देवी निवेदन करती है कि **मैं तुम्हारी निधि हूँ, मुझ से ही तुम धनी हो, अतः मेरी रक्षा करो अर्थात् जिसमें दूसरों के दोषान्वेषण की प्रवृत्ति हो और कुटिलता तथा विभिन्न इन्द्रियों एवं मन पर नियन्त्रण नहीं हो, ऐसे व्यक्ति को मुझे मत दो**[3]। क्योंकि ऐसा करने से मेरा अनादर होगा और मुझ

---

1. ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
   अथर्ववेद - 10/7/17

2. ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
   ऋग्वेद - 10/109/5

3. विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
   असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥
   निरुक्त - 2/4/1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में निहित शक्तियाँ निरर्थक सिद्ध होंगी अर्थात् अनधिकारी को दिया गया ज्ञान सार्थक न बन विध्वंशकारी शाक्तियों को बढ़ावा देगा, जिससे लोक-शक्ति और राष्ट्र के विध्वंश होने की सम्भावना प्रबल होती दिखाई देगी। ऐसा न हो इसके लिए **विद्या** स्वयं अनधिकारी को दान देने का निषेध करती है। निरुक्तकार यास्क ने विद्यासूत्र में विद्यार्थी के स्वरूप और उसकी पात्रता का विश्लेषण करते हुए कहा है कि - **जो शिष्य विद्या को घृणा की दृष्टि से देखता है अर्थात् प्राप्त ज्ञान का उपहास करते हुए उसका प्रयोग विध्वंसकारी प्रवृत्तियों के विकास के लिए करता है तथा कुटिल और असंयमी है अर्थात् धर्मशास्त्र प्रतिपादित आचार संहिता के अनुरूप अपना जीवन व्यतीत नहीं करता, ऐसे शिष्य को विद्यादान नहीं देना चाहिए**[1], क्योंकि उससे समाज में सदैव अशान्ति और भय का वातावरण बने रहने की सम्भावना रहती है, किन्तु जो पवित्र, ध्यानमग्न, बुद्धिमान्, ब्रह्मचारी, गुरु के प्रति सत्यभाषी और गुरु सान्निध्य में प्राप्त ज्ञान का संरक्षण और संवर्द्धन संग्रहीत धन की भांति करता है, उसे ही शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वेदाध्ययन से पूर्व आचार्य वेदाध्ययन के लिए आश्रम में आगन्तुक की पात्रता का निरीक्षण करते हुए प्रवेश प्रदान करते थे, जिसका आधार सत्यवादिता, अध्ययन के प्रति उत्सुकता और संस्कारसम्पृक्तता था।

इस सम्बन्ध में औपनिषदिक साहित्य में वर्णित **सत्यकाम** की कथा स्मृत हो आती है, जिसमें उसकी अध्ययन के प्रति अदम्य उत्साह और सत्यनिष्ठ आचरण की वृत्ति का बोध होता है। कथा के माध्यम से अधिकारी की पात्रता के विषय से स्पष्ट किया गया है कि सत्यकाम नामक बालक में अध्ययन के प्रति अदम्य भाव थे, इन्हीं भावों से प्रेरित

---

1. असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्।... यमेवविद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नाम्। यस्ते न द्रुह्यत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्।

निरुक्त - 2/1/4

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होकर वह गुरु के आश्रम में वेदाध्ययन के लिए आता है, जहाँ आचार्य उसे आश्रम में प्रवेश देने के समय उसकी पारिवारिक पृष्ठ-भूमि की जानकारी प्राप्त करने के लिए उससे उसके गोत्र आदि के विषय में प्रश्न करता है, जिसके उत्तर में वह बालक अपनी अनभिज्ञता दर्शाते हुए आचार्य से निवेदन करता है कि मुझे इस विषय में मेरी माता ने कुछ भी नहीं बताया। जिज्ञासु की इस स्पष्टोक्ति से प्रभावित हो उसमें निहित सात्त्विक भावना और अध्ययन के प्रति अदम्य भाव को देखते हुए आचार्य ने उसे शिष्यत्व प्रदान करते हुए आश्रम में प्रवेश की अनुमति दे दी [1]। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वेदाध्ययन से पूर्व आचार्य वेदाध्ययन के लिए आश्रम में आगन्तुक की पात्रता का निरीक्षण करते हुए प्रवेश प्रदान करते थे, जिसका आधार सत्यवादिता, अध्ययन के प्रति रुचि और संस्कारसम्पृक्तता था। मुण्डकोपनिषद् में विद्या-ग्रहण की योग्यता को निर्धारित करते हुए महर्षि ने कहा है कि **शरण में आये हुए वेदाध्ययन के इच्छुक ऐसे बालकों को जो पूर्णतः शान्त और निश्चल हों, सांसारिक भोगों से सर्वथा वैराग्य हो जाने के कारण जिनके चित्त में किसी भी प्रकार की चिन्ता, व्याकुलता या विकार नहीं रह गए हों, जिसने अपने मन, बुद्धि और समस्त इन्द्रियों को भली-भाँति वशीभूत कर लिया हो, को विद्यादान देने में आपत्ति नहीं करनी चाहिए**[2]। महर्षियों द्वारा प्रतिपादित पात्रता के निर्धारण-सम्बन्धित नियमों के आधार पर आश्रम में अध्ययनार्थ आगन्तुक को आचार्य द्वारा शिष्यत्व प्रदान करना चाहिए।

विद्यारम्भ संस्कार- उपनीत हुए छात्र को पात्रता के आधार पर शिष्यत्व प्रदान करने की प्रक्रिया को **दीक्षा** नाम से अभिहित किया जाता है, तन्त्रालोक के अनुसार शिष्य का समर्पण और गुरु का वात्सल्य, इन

---

1. छन्दोग्योपनिषद् -
2. तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुष वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।

मुण्डकोपनिषद् - 1/2/13

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दोनों सात्त्विक भावनाओं के संगम को **दीक्षा** कहते हैं। योगिनीहृदय के अनुसार गुरु की कृपा और शिष्य की श्रद्धा, इन दोनों धाराओं का मिलना **दीक्षा** है। एतदर्थ कहा जा सकता है कि **दीक्षा** द्वारा ज्ञान, शक्ति और सिद्धि का दान तथा अज्ञान, पाप और दुर्भाग्य का क्षय होता है। जैसा कि कहा भी गया है- **दीक्षा दिव्य ज्ञान को देने वाली और समस्त पापों का क्षय करने वाली होती है** [1]। अतः **दीक्षा** एक ऐसा व्यावहारिक प्रशिक्षण है, जिसके द्वारा गुरु अपने शिष्य में प्रसुप्त ज्ञान और शक्तियों को उद्‌बोधित करता है, जिसे संस्कारों की परिगणना के प्रसङ्ग में **विद्यारम्भ संस्कार** के रूप में निरूपित किया गया है। संस्कारी बनाने के निमित्त इस संस्कार के सम्पादन हेतु माता-पिता अथवा अभिभावक अपने बालक को गुरु के सन्निकट ले जाते हैं, जहाँ आचार्य उपनयन संस्कार द्वारा ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में तीन रात्रि तक रखकर उसे कलुषित संस्कारों से मुक्त करता हुआ द्वितीय जन्म प्रदान करता है [2]। यहाँ प्रयुक्त **रात्रि** शब्द अन्धकार का वाचक है, अन्धकार अज्ञान का बोधक है। जिसे तीन भागों में विभक्त किया गया है-

(क) स्थूल-सूक्ष्म और सृष्टि विषयक।

(ख) आत्मा के विषय में और

(ग) आत्मा के सम्बन्ध में।

इन तीनों अज्ञानों से मुक्त कराना ही विद्याध्ययन का परम उद्देश्य है, जो **रात्रीस्तिस्त्र** शब्द से स्पष्ट होता है। जिसके लिए आचार्य

---

1. दीयते ज्ञानमित्यर्थं क्षीयते पाशबन्धनम्।
अतो दीक्षेति देवेशि कथितस्तत्वचिन्तकैः॥

योगिनी - तन्त्र - 3/6

2. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं ज्ञातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

अथर्ववेद - 11/5/7

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेदाध्ययन की पात्रता रखने वाले अध्ययनार्थी को **गायत्री मन्त्र** से उपदिष्ट कर अन्तेवासी का स्तर प्रदान करता है।

आचार्य की योग्यता - कलुषित संस्कारों से मुक्ति प्रदाता के रूप में विख्यात आचार्य की महिमा अवर्णनीय है, फिर भी नीतिकारों ने आचार्य के स्वरूप और उसमें निहित गुणों को विवेचित करने का प्रयास किया है।

आचार्यवान्पुरुषो वेद[1], मनु के इस वचन के अनुसार आचरण से बद्ध शिक्षक (आचार्य) ही संस्कृति का पोषक, समाज का पथ-प्रदर्शक और राष्ट्र का भाग्य विधाता होता है। अतः आचार्य को आचार-विचार से युक्त होना चाहिए। आचार्य को गुरु, शिक्षक, पथ-प्रदर्शक आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता रहा है। इन सम्बोधनों के आधार पर **आगम-तन्त्रसार** में गुरु शब्द के व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि- गुरु शब्द में गकार ज्ञान सम्पत्ति का रेफ सत्त्व तत्त्व का और उ कार शिव-तादात्म्य को बोधक है, गुरु सच्चिदानन्द है, अतः उसका ध्यान परमावश्यक है[2]। उसे माता-पिता की पदवीं से अलङ्कृत कर **सर्वदेवमय**[3] सिद्ध किया गया है। **सर्वदेवमय** स्वरूप की संसिद्धि के लिए अथर्ववेद में आचार्य (गुरु) को निर्देश दिया गया है कि- **वह ज्ञानी तेजस्वी और रक्षक बन कर समाजोत्थान के लिए कार्य करते हुए यशस्वी हों**[4]। इससे हमारी वर्णाश्रम-व्यवस्था के

---

1. छान्दोग्योपनिषद् - 6/14/2
2. गकारो ज्ञानसम्पत्तौ रेफः सत्वप्रकाशकः।
   उकारात् शिवतादात्म्यं दद्यादिति गुरुस्स्मृतः॥
   आगम - तन्त्रसार
3. गुरुर्ब्रह्मागुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
   गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
4. सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि।
   आप्नुहि श्रेयांसम् अति समं क्राम॥
   अथर्ववेद - 6/133/3

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्तर्गत ब्रह्मचर्याश्रम में गुरु का विशेष महत्त्व स्पष्ट दिखाई देता है। **वन** में स्थित अपने **आश्रम** में विद्यार्जन हेतु उपनीत शिष्य को अपनाकर गुरु अपने सान्निध्य से उस में व्याप्त स्थूल, सूक्ष्म और सृष्टि विषयक, आत्मा के स्वरूप से सम्बन्धित तथा आत्मा-अनात्मा से सम्बद्ध अज्ञान रूपी कलुषित भावों का प्रक्षालन कर उसे द्विजत्व [1] की उपाधि से सुशोभित करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि आचार्य उपनीत हुए छात्र-समुदाय को अपने आलौकिक तेज द्वारा न केवल ज्ञान-सरिता के अथाह सागर में निमज्जन कराते हुए उसे भौतिक संसाधनों को उपलब्ध कराने में सहायक सिद्ध होता है, अपितु आध्यात्मिक क्रिया द्वारा सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर से तादात्म्य स्थापित करने की योग्यता प्रदान कर उसे आत्म-शक्ति के विकास के लिए सचेत करता है। इसीलिए निरुक्तकार आचार्य यास्क ने कहा है- **गुरु शिष्य का उपकारक और सत्य मार्ग का प्रदर्शक है** [2]। यास्काचार्य द्वारा की गई **गुरु** शब्द की इस व्युत्पत्ति की पुष्टि हमें अथर्ववेदीय मन्त्र से होती है, जिसमें तत्त्ववेत्ता सर्वशक्ति-सम्पन्न आचार्य के स्वरूप को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि- **आचार्य ज्ञान का अथाह सागर होता है, जो अपने शिष्य को पृथ्वी से लेकर आकाश तक की गम्भीर और छिपी शक्तियों का ज्ञान कराने वाला अद्वितीय व्यक्ति होता है** [3]। इन्हीं गुणों के कारण **गुरु** के गौरवान्वित स्वरूप को महत्ता प्रदान की जाती रही है।

---

1. जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
   विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रियं उच्यते॥

2. गुरुः शिष्योपकर्त्ता सत्पथस्य च प्रदर्शकः।
   निरुक्त

3. आचार्यस्तपक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।
   ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति॥
   अथर्ववेद - 11/5/8

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गुरु की योग्यता के विषय में **ऋग्वेद-प्रातिशाख्य** के प्रणेता आचार्य शौनक ने कहा है कि **जो व्यक्ति पद-पाठ और क्रम-पाठ के भेद को जानता है, जो संहिता पाठ में विचक्षण है तथा उदात्त आदि स्वर और ह्रस्व आदि मात्रा को विशेष रूप से जानता है, वह आचार्य के स्थान को प्राप्त करे**[1]। क्योंकि तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत स्वर-वर्णादि उच्चारण की प्रक्रिया को वेदाङ्ग के रूप में निरूपित **शिक्षा** के अन्तर्गत समाहित किया गया था तथा आश्रम-प्रणाली के व्यवस्थापकों को यह दायित्व सौंपा गया था कि देव-वाणी के रूप में प्राप्त अपौरुषेय वेदराशि का लिपि के अभाव में संरक्षण और संवर्द्धन जिस किसी प्रकार से सम्भव हो, किया जाय। इसके लिए पूर्वाचार्यों ने गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण की विधा, जिसमें स्वरों के उच्चारण की प्रक्रिया की प्रधानता है[2], को अपना कर वेदराशि को संरक्षित रखा। इसी उद्देश्य से तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था में आचार्य शौनक ने **स्वर-वर्णादि** के उच्चारण में निपुणता को आचार्य का विशिष्ट गुण माना है। इसके अतिरिक्त नैतिक आचरण का मूल्याङ्कन करते हुए ऋषि शौनक (आचार्य) ने कहा है कि **अध्यापन के समय जो जितेन्द्रिय रहे, वही वेदों का अध्यापन करे**[3]। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अध्ययन-अध्यापन की प्रक्रिया में आचरण की महत्ता है, इसीलिए कहा गया है कि **आचार्यः आचारं ग्राहयति** अर्थात् जो आचार को शिष्य के चरित्र में उतार देता है, उसे आचारवान् बना देता है, वही आचार्य, गुरु और शिक्षक है। इस व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ के आधार पर वैदिककालीन शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया में ज्ञान का सञ्चार

---

1. पदक्रमविभागज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः। स्वरमात्राविशेषज्ञो गच्छेदाचार्यसम्पदम्॥
ऋग्वेद - प्रातिशाख्य - 8/2

2. स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा।
ऋग्वेदभाष्य भूमिका पृ. - 49

3. परायणं वर्तयेद् ब्रह्मचारी।
ऋग्वेद - प्रातिशाख्य - 15/1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करने वाले व्यक्ति के लिए **ब्रह्मन्** शब्द का प्रयोग श्रुति-स्मृति वाक्यों में मिलता है, जिससे यह ध्वनित होता है कि शिक्षा-प्रदान का कार्य ब्राह्मणों के अधीन था[1]। ऋग्वेद के मन्त्र में **शिक्षक** के लिए **शाक्त**[2] शब्द प्रयुक्त किया गया है। यद्यपि शिक्षक के लिए आचार्य शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में नहीं मिलता, किन्तु अथर्ववेद में यह शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। काठक संहिता में आचार्य को ब्रह्मचारी का प्रजापति कहा गया है[3]।

वेदाध्ययन के समय उपवेशन-व्यवस्था - वेदाध्ययन की प्रक्रिया में **गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण** की विधा अन्तःक्रिया पर आधारित होने के कारण **गुरु-शिष्य** सम्बन्धों के महत्त्व को प्रतिपादित करती है, जिसके लिए **पारस्करगृह्यसूत्र** में प्रतिज्ञा वाक्य **ॐ मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु**[4] के द्वारा गुरु शिक्षार्थी को आत्मानुगामी होने का आदेश देता है। आत्मानुगामी होने के समय गुरु-शिष्य सम्बन्धों के मध्य कोई व्यवधान उपस्थित न हो जाये, इसके लिए शिक्षणाभ्यास के समय दोनों के लिए यथोचित आसनादि की व्यवस्था का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में मिलता है। कहने का अभिप्राय यह है कि गुरु और शिष्य किस दिशा में किस प्रकार बैठ कर अध्ययन-अध्यापन करें, जिससे गुरु-मुख से उच्चारित शब्दों को शिष्य भली-भाँति सुन सके और गुरु अपने शिष्य की सम्पूर्ण चेष्टाओं का मूल्याङ्कन करते हुए आवश्यकतानुसार स्पष्ट निर्देश दे सके। इस सम्बन्ध में आचार्य शौनक ने ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में स्पष्ट उल्लेख किया है कि गुरु निम्नलिखित में से किसी एक प्रशस्त दिशा-पूर्व, उत्तर या उत्तर-पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठ कर

---

1. विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि।
ब्राह्मणसंहिता - 3/9
2. शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
ऋग्वेद - 7/103/5
3. आचार्यो ब्रह्मचारिणः प्रजापतिः।
काठक संहिता - 51/6, 138/23
4. पारस्करगृह्यसूत्र 1/8/8

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिष्यों के लिए अध्यापन करें[1]। इसके साथ ही साथ शिष्य के बैठने के स्थान का भी उल्लेख आचार्य शौनक ने किया है। इस सम्बन्ध में आचार्य का मानना है कि एक शिष्य हो तो गुरु के दाहिनी ओर, दो शिष्य हों तो गुरु के दोनों तरफ[2] और यदि शिष्य बहुत हों तो वे जहाँ-जहाँ स्थान हो, वहाँ-वहाँ बैठें[3]। शांखायनगृह्यसूत्र में भी ऋषि ने कहा है कि - गुरु पूर्व या उत्तर मुख बैठता है, शिष्य उसके दाहिने उत्तराभिमुख बैठता है, यदि दो से अधिक शिष्य हो तो स्थान के अनुसार जैसा चाहें बैठ सकते हैं। शिष्य को उच्चासन पर नहीं बैठना चाहिए और न गुरु के साथ उसी आसन पर बैठना चाहिए, उसे अपने पैर नहीं फैलाने चाहिए, अपनी बाहु से घुटनों को पकड़कर भी नहीं बैठना चाहिए। किसी वस्तु का सहारा भी नहीं लेना चाहिए। उसे अपने पाँवों को गोदी में नहीं रखना चाहिए और न उन्हें कुल्हाड़ी की भाँति पकड़ना चाहिए[4]। क्योंकि ऐसा करने से एक तो अध्येता में निष्क्रियता बनी रहती है, अध्ययन के प्रति ध्यान केन्द्रित नहीं हो पाता तथा दूसरी बात यह है कि पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके बैठने पर एक तो गुरु द्वारा उच्चारित पाठ को शिष्य भली-भाँति सुन पायेगें और दूसरा कारण यह है कि इससे गुरु की सम्पूर्ण दृष्टि शिष्यों पर पड़ती रहेगी, जिससे की अन्तःक्रिया के रूप में गुरु-शिष्य सम्बन्धों के मध्य कोई अवरोध उत्पन्न नहीं हो पायेगा।

---

1. परायणं वर्तयेद् ब्रह्मचारी गुरु शिष्येभ्यस्तदनुव्रतेभ्यः।
अध्यासीनो दिशमेकां प्रशंस्तां प्राचीमुदीचीमपराजितां वा ॥
ऋग्वेद - प्रातिशाख्य 15/1.

2. एकः श्रोता दक्षिणतो निषीदेह द्वौ वा। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य - 15/2

3. भूयांसस्तु यथावकाशम्। ऋग्वेद प्रातिशाख्य - 15/3

4. शांखायनगृह्यसूत्र - 4/8

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गुरु की शिष्य द्वारा अभ्यर्चना- गुरु के आदेश से यथा-स्थान आसन ग्रहण करने के उपरान्त सभी शिष्य गुरु के चरणों को स्पर्श करते हुए **पाठ** के प्रारम्भ से पूर्व **भगवन् पढ़ाइयें**[1] इन शब्दों द्वारा अभ्यर्चना करते हैं। इस अभ्यार्चना के सम्बन्ध में गुरु **ओ३म्** शब्द से शिष्यों को सम्बोधित करता हुआ पाठ को प्रारम्भ करता है। वेदाध्ययन के समय गुरु द्वारा उच्चारित **ओ३म्** शब्द तीन मात्राओं का होते हुए उदात्त होता है अथवा चार मात्राओं का होता है और इसका पहला आधा भाग अनुदात्त होता है व छः मात्राओं का होता है, तब वह द्व्युदात्त होता है[2]। **ओ३म्** पद के ये तीनों उच्चारण ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में अवश्य ही प्रचलित रहे होंगे। वास्तव में **ओ३म्** शब्द का अर्थ **हाँ** है, जिसे वेदाध्ययन प्रारम्भ करने की स्वीकृति के रूप में गुरु उच्चारित करता है। उच्चारण में आये अन्तर के उत्तर में आचार्य का यह मत है कि जिस प्रकार हाँ का उच्चारण अनेक प्रकार से होता आया है, उसी प्रकार गुरु भी **ओ३म्** शब्द का उच्चारण अनेक प्रकार से करते आये होंगे।

वेदाध्ययन के प्रारम्भ में सर्वदा **ओ३म्** शब्द का उच्चारण अवश्य करना चाहिए अर्थात् **ओ३म्** के उच्चारण के बिना पाठ का प्रारम्भ नहीं करना चाहिए, ऐसा आचार्य शौनक का मत है[3]। स्वाध्याय के आदि में प्रयुक्त **ओ३म्** अक्षर का परवर्ती पाद अथवा अर्धर्च के प्रथम पद के साथ सन्धि नहीं करनी चाहिए[4]। इस सन्दर्भ में अन्य अनेक आचार्यों

---

1. भूयांसस्तु यथाकाशम्। ऋग्वेद प्रातिशाख्य - 15/4

2. स ओ३मिति प्रस्वरति त्रिमात्रः प्रस्वर स्थाने स भवत्युदात्तः।
चतुर्मात्रो वार्धपूर्वानुदात्तः षण्मात्रो वा भवति द्विस्वरः सन्॥
ऋग्वेद-प्रातिशाख्य - 15/5

3. मुखं स्वाध्यायस्य भवेत्। ऋग्वेद प्रातिशाख्य - 15/6

4. न चैतत्संदध्यात्स्वाध्यायगतं परेण। ऋग्वेद - प्रातिशाख्य - 15/7

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ने भी शौनकाचार्य जैसे ही सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया है। इस सम्बन्ध में उनका यह मानना है कि वेदाध्ययन के प्रारम्भ और अवसान के समय **ओ३म्** इस शब्द का उच्चारण अवश्य किया जाना चाहिए, क्योंकि ऐसा न करने पर अध्ययन में विशृंखलता आ जाती है। इस **ओ३म्** शब्द के उच्चारण की विधा के पीछे मनोवैज्ञानिक अवधारणा भी कार्य करती दिखाई देती है। जिसमें **सत्यं शिवं सुन्दरम्** द्वारा व्यवहार में शुद्धता लाने के प्रयास के साथ-साथ विचारों में भी शुद्धता लाने का प्रयास किया जाता है। जिसके लिए वैदिक वाङ्मय के अनेक स्थलों में देव-स्तुति द्वारा प्रार्थना की गई है। जिसका मुख्य उद्देश्य विचारों में शुद्धता और अभिव्यक्ति में सुस्पष्टता का विकास रहा है[1]। इसके साथ ही साथ **पाठ** की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए **चित्त** की एकाग्रता को विकसित करने के उद्देश्य से भी गुरु **ओ३म्** शब्द को उच्चारित करता है, जिससे कक्षा में आने से पूर्व इधर-उधर भटकते हुए अध्येता के भावों को पाठ की ओर केन्द्रित करने में आचार्य को सफलता मिलती है और शिष्य इस सम्बोधन को सुन कर अध्ययन के लिए **सावधान** हो जाते हैं। इन उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिककालीन शिक्षा-व्यवस्था में शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया का आरम्भ **ओ३म्** शब्द के उच्चारण के साथ होता है। वैदिककालीन शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया सम्बन्धित नीति निर्धारकों ने जिस प्रकार शिक्षणाभ्यास के प्रारम्भ के अवसर पर **ओ३म्** शब्द के उच्चारण के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए उसे गुरु और तत्पश्चात् शिष्य द्वारा उच्चारित करने का निर्देश दिया है, उसी प्रकार पढ़ने के उपरान्त शिष्य को गुरु के पाँव छूने चाहिए और **महोदय अब हमने पाठ समाप्त कर लिया,** यह

---

1. शुन्ध्युवं प्रेष्ठां मति प्र भरस्व। ऋग्वेद - 7/88/1
अन्यत्र - भी
यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति।
यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति।
यत्कर्मणा करोति तदभि संपद्यते।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहकर चला जाना चाहिए, किन्तु कुछ शिक्षाविदों और नीति निर्धारकों का मानना है कि-गुरु को **"जाओ अब हम समाप्त करें**, ऐसा कहना चाहिए।

वस्तुतः शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया में पाठ के प्रारम्भ और अन्त में उच्चारित **ओ३म्** शब्द के महत्त्व को विवेचित करते हुए ऋषि-मुनियों ने कहा है कि **ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म** इत्यादि श्रुति-स्मृति वाक्यों की उपदेशात्मक शैली द्वारा **ॐकार** को समस्त देव - मण्डल का प्रतीक मानते हुए **सत्यं शिवं सुन्दरम्** की परिकल्पना से **सृष्टि, स्थिति और लय** का संविधायक स्वीकार किया गया है। जिसके मूल में गुरु का यह ध्येय रहा होगा कि शिष्य आध्यात्मिक मूल्यों की अभिवृद्धि के लिए आध्यात्मिक धरातल पर सृष्टि-ज्ञान प्रक्रिया द्वारा ब्रह्मतादात्म्य-स्थापना के लिए प्रशिक्षित हो सके।

वेदाध्यापन विधि - वेदाध्ययन की प्रक्रिया में अर्थबोध से कहीं अधिक आवश्यकता उच्चारणगत दोष के परिहार की है, जिससे त्वष्टा की बाधा[1] की पुनरावृत्ति नहीं हो पाय, जैसा कि **इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व स्वाहा** का उच्चारण अन्तोदात्त की अपेक्षा आद्युदात्त स्वर में हो गया, जिसके फलस्वरूप वृत्रासुर का विनाश और इन्द्र की वृद्धि हुई [2]। इस प्रकार अर्थ के अनर्थ होने से बचने के लिए शिक्षा-शास्त्रज्ञों ने वर्णोच्चारण की विधा को स्पष्ट करने का सफल प्रयत्न किया और साथ ही साथ **उदात्तस्य स्थाने अनुदात्तं ब्रूते खण्डिकोपाध्यायः तस्मै शिष्याय चपेटिकां ददाति**[3] के द्वारा यह निर्देश दिया कि गुरु उदात्त के स्थान पर अनुदात्त स्वर का उच्चारण करने वाले शिष्य के मुँह पर चपेटा मार

---

1. पाणिनीय शिक्षा - 6/1/223, 6/2/1
2. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
   स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात् ।।

   पाणिनि शिक्षा - 52
3. पतञ्जलि महाभाष्य - 1/1/1 'वृद्धिरादैच्' पर लिखित भेदव्यत्वात् स्वरस्य की व्याख्या।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर उसके उच्चारण में संशोधन कराये। व्याकरण महाभाष्य की यह स्पष्टोक्ति वेदाध्ययन की प्रक्रिया में उच्चारण विधा की सार्थकता को अभिव्यक्त करती है। इस सम्बन्ध में सायणाचार्य ने ऋग्वेद भाष्य भूमिका में **स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा** [1] के द्वारा उपदेश दिया है, जिसमें गुरुमुख से उच्चारित शब्दों के अनुच्चारण का विधान है, जिसके कारण **वेद** को **अनुश्रव** नाम से इङ्गित किया गया है। **अनु पश्चात् श्रूयते यः स अनुश्रवः**[2] इस व्युत्पत्ति के द्वारा **वेद** के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह वस्तु जो गुरु के उच्चारण के अनन्तर सुनी जाय और शिष्य उसी के समान उसका ठीक उच्चारण करे, उसे श्रुति कहते हैं। इसकी परिपुष्टि **अनुब्रुवाणो अध्येति** इस श्रुति वाक्य से होती है, जिसमें शिष्य गुरु के पीछे-पीछे बोलता हुआ अध्ययन करता है, ऐसा निर्देश दिया गया है।

वेदाध्ययन की उच्चारणविधा के सम्बन्ध में पूर्वमीमांसाचार्यों ने एक मत से यह निर्णय दिया है कि **गुरु के मुख से उच्चारित वेदराशि को उसी रीति (वर्ण तथा उदात्तादि स्वर के अनुकरण) से उच्चारण करने को अध्ययन** [3] **कहते है** [4]। इस अध्ययन परम्परा में श्रवण और तन्मूलक तदनुसारी उच्चारण की मुख्यता है। अत एव वेद के लिए **श्रुति** [5] शब्द भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। भारत के शैक्षणिक इतिहास के अवलोकन से ज्ञात होता है कि **वैदिक मन्त्राक्षरों के**

---

1. ऋग्वेद भाष्य-भूमिका - पृ. 49
2. गुरुमुखादनुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः। सां. त. कौ. - 2
3. स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। शतपथ ब्राह्मण - 11/5/7/10
4. गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणमध्ययनम् ।
   गुरूक्तं श्रृणुयान्मन्त्रं तूष्णीं पश्चादनूच्चरेत् ॥
   सम्प्रदाय प्रबोधिनी शिक्षा - 18
5. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः। मनुस्मृति - 2/10

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उच्चारण की शिक्षा में गुरुमुख से उच्चारित वर्णों का शिष्य द्वारा तदनुकूल उच्चारण रूप अध्ययन प्रचलित था[1]। जिसके लिए **राष्ट्रीय सांदीपनी वेद विद्या प्रतिष्ठान** कृतसंकल्प है, जो विभिन्न **वेद विद्यालयों** के माध्यम से श्रुति-परम्परा को संरक्षण प्रदान करने के लिए अनुदान प्रदान कर रहा है। वेदाध्ययन की श्रुति-परम्परा की जो शाखाएँ वर्तमान में दिखाई दे रही हैं, उनके अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था के लिए यह संस्था कार्य कर रही है, जिसके प्रेरणा-स्रोत के रूप में श्रीमती इंदिरा गाँधी, डा. किरीट जोशी एवं डॉ. मण्डन मिश्र प्रतिष्ठा प्राप्त हैं।

श्रुति-परम्परा के अन्तर्गत शिष्य की क्षमता के अनुसार गुरु मन्त्रांश या पूरे मन्त्र का उच्चारण करता है, तदनन्तर गुरु के उच्चारण का पूर्ण अनुकरण करता हुआ शिष्य उस मन्त्रांश या मन्त्र का उच्चारण करता है [2], ऐसा इस विधा को स्पष्ट करते हुए शिक्षा-शास्त्र के आचार्यों ने निर्देश दिया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शब्दों के शुद्ध-अशुद्ध उच्चारण के परिणामों को व्यक्त करते हुए निर्देश दिया है कि जो कुशल व्यक्ति व्यवहार के समय शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण करता है वह **वाग्योगवित्** (शब्दों की उपयुक्त संघटना का जानकर) इस लोक में विजय और परलोक में अनन्त फल को प्राप्त करता है तथा इसके विपरीत अपशब्दों के प्रयोग से व्यक्ति दूषित (पाप का भागी) होता है [3]। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विचाराभिव्यक्ति की कला में शब्दों के ठीक-ठीक उच्चारण का महनीय योगदान है।

---

1. वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा ॥
मीमांसा न्याय प्रकाश

2. संस्थायां शिष्यसामर्थ्यमपेक्ष्य गुरुणा पुरा।
कण्डिकाभागतोऽर्द्धा वा विश्लिष्याध्याप्यते पुरा ॥
सम्प्रदाय प्रबोधिनी शिक्षा - 18 (क)

3. यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥
पतञ्जालि महाभाष्य - पृ. 20

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एतदर्थ वेदाध्ययन की शिक्षण - विधि में वर्णोच्चारण की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था, जिससे अर्थ के अनर्थ होने से बचा जा सके। शिक्षा - ग्रन्थों के अनुसार अध्येता शिष्य की शारीरिक और मानसिक स्थिति को सुस्पष्ट करने के उद्देश्य से निर्देश देते थे कि जिस प्रकार कच्छप (कछुआ) अपने हाथ-पैर आदि अङ्गों को अपने में समेट कर स्वस्थ, भय शून्य और शान्त चित्त हो जाता है, ठीक उसी प्रकार शिष्य को भी अध्ययन-काल में अपने अङ्गों को शरीर के दायरे में रख कर निर्भय और शान्त मन से अध्ययन के लिए सज्जित होना चाहिए[1], तब कहीं जा कर वह वर्णों का शुद्ध रूप से उच्चारण कर पायेगा।

वर्णोच्चारण के विषय में शिक्षा-ग्रन्थों का यह निर्देश है कि जिस वृत्ति और सवन से वर्णोच्चारण प्रारम्भ करें, उसी वृत्ति और सवन से वर्णोच्चारण का समापन भी करें। यहाँ **वृत्ति** का अर्थ वर्णोच्चारण की गति तथा सवन से तात्पर्य है- उच्चारण के समय हृदय-कण्ठ और शिर स्थित गतिशील वायु के स्वन (नाद) की एकरूपता। उपर्युक्त कथन का फलितार्थ यह है कि बालक को अध्यापन कराते समय शिक्षक इस बात की ओर विशेष ध्यान दे कि वर्णोच्चारण में वृत्ति-लय की एकरूपता हो तथा सवन-शब्दोच्चारण की प्रक्रिया में आन्तरिक वायु की गति और नाद की एकरूपता बनी रहे। इन दो बातों के ध्यान में रखने पर वर्णों का उच्चारण, उनके वास्तविक स्वरूप और लय में हो पायेगा, जो कि पाठ विधि के लिए नितान्त आवश्यक है।

वैदिक शिक्षण पद्धति का यह सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण सूत्र है, जिसके लिए गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण की अपरिहार्य आवश्यकता है। गुरु अथवा शिक्षक ही बालक को प्रारम्भिक शिक्षा देते समय इन दो बातों पर निगरानी और नियन्त्रण रखते हैं। जहाँ उच्चारण विधा में नियन्त्रण

---

1. कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य चेष्टां दृष्टिं दृढं मनः।
स्वस्थः प्रशान्तो निर्भीको वर्णानुच्चारयेद्बुधः॥

याज्ञवल्क्य शिक्षा 22-23

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का अभाव रहता है, वहाँ उच्चारण गत अनेक दोष झलकने लगते हैं। उच्चारण में भाषागत दोषों के परिहार हेतु ही वर्तमान शिक्षाविदों ने भी भाषा शिक्षण के समय आदर्शवाचन व अनुकरण वाचन की परम्परा को महत्ता प्रदान की है, जिसके कारण वर्णोच्चारण की प्रक्रिया में गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण की विधा को महत्त्व दिया गया है, जिससे शब्दों के उच्चारण को साधा जा सके। फलस्वरूप इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि जब बालक उच्चारण विधा का अनुपालन करते हुए मातृभाषा से पृथक् अन्य देशी-विदेशी भाषायें सीखता है, तो उसके वास्तविक लय और उचारण को तत्काल आत्मसात् कर लेता है तथा उस भाषा को उसी की प्रकृति के अनुरूप बोलने में समर्थ हो जाता है। आजकल उच्चारण की इस वैज्ञानिक सूक्ष्मता पर प्रायशः ध्यान नहीं दिया जाता, जिसके कारण बालक अपनी मातृभाषा को छोड़कर अन्य किसी भाषा को उसी की प्रकृति में शुद्ध रूप से बोलने में अपने आपको असमर्थ पाता है।

वेदाध्ययन के समय गुरु-शिष्य संवाद की प्रक्रिया- वेदाध्ययन की प्रक्रिया में **गुरु** और **शिष्य** ये दो महत्त्वपूर्ण घटक हैं, जिनमें संवाद की अन्तःप्रक्रिया सतत चलती रहती है। इन दोनों में से एक के भी निष्क्रिय हो जाने पर अध्ययन-अध्यापन की प्रक्रिया शिथिल पड़ जाती है। अधिगम की प्रक्रिया में इन दोनों के समान महत्त्व को इङ्गित करते हुए आचार्य शौनक ने निर्दिष्ट किया है कि शिष्य के द्वारा प्रार्थित गुरु अध्यापन प्रारम्भ करता है[1]। गुरु दाहिनी ओर बैठे हुए शिष्य के लिए प्रथम प्रश्न (तीन ऋचाओं) का उच्चारण करता है[2]। जब गुरु दो पदों

---

1. प्रचोदितोऽभिक्रमते यथास्य। क्रमः प्रेस्ताद्विहितस्तथैव ॥

ऋग्वेद-प्रातिशाख्य - 15/8

2. दक्षिणाम प्रथमं प्रश्नमाह प्रदक्षिणं तत ऊर्ध्वं परीयुः ॥

ऋग्वेद-प्रातिशाख्य - 15/20

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के समूह अथवा इससे अधिक का उच्चारण कर लेता है, तब प्रथम शिष्य गुरूच्चारित प्रथम पद का प्रत्युच्चारण करता है[1]।

शिक्षणाभ्यास की सुविधा के लिए सूक्त को विभक्त कर अन्वितियों के आधार पर अध्यापन कराने का निर्देश भी आचार्य शौनक ने दिया है। उनके मतानुसार द्विपदा अर्थात् दो पादों वाली ऋचा रूपी दो-दो अर्धर्चों को एक ऋचा में मिलाते हुए अन्य द्विपदाओं को पृथक् करते हुए उच्चारण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि दो-दो पादों वाली ऋचाओं के सूक्त में-

1. प्रारम्भ से लेकर दो-दो द्विपद ऋचाओं की एक-एक चतुष्पदा ऋचा बना लेनी चाहिए।

2. यदि सूक्त में द्विपदा ऋचाएँ सम-संख्यक हैं, तो दो-दो द्विपदाओं की चतुष्पदा बनाने में कोई कठिनता नहीं होगी।

3. यदि सूक्त में द्विपदा ऋचाएँ विषम संख्यक हैं, तो दो-दो द्विपदा ऋचाओं की चतुष्पद ऋचाएँ बनाने पर एक अन्तिम ऋचा अवशिष्ट रह पायेगी। उस एक द्विपदा को पूर्ण ऋचा कर लेना चाहिए। अन्विति के इस क्रम से अध्ययन करते हुए एक-एक प्रश्न (तीन ऋचाओं) का अध्यापन कराते हुए ऋचाओं का उच्चारण करें।

इस प्रकार गुरु-शिष्य के मध्य की इस अन्तःप्रक्रिया द्वारा नित्य-प्रतिदिन के पाठ को समाप्त करता हुआ अर्थात् शिष्य की ज्ञान-पिपासा को शान्त करता हुआ अग्रिम दिन के पाठ की पूरी तैयारी के लिए निर्देश देता है। निर्देश की यह प्रक्रिया उपाकर्म तथा अध्यायोत्सर्जन तक चलती रहती है, अन्त में मूल्याङ्कन के द्वारा शिष्य का परीक्षण सम्पन्न होने पर अध्ययन का कार्य पूर्ण होता है।

---

1. अभिक्रान्ते द्वैपदे वाधिके वा। पूर्वं पदं प्रथमः प्राह शिष्यः॥
ऋग्वेद-प्रातिशाख्य - 15/10

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यद्यपि संवाद की इस प्रक्रिया में गुरुमुखोच्चारण की विधा का प्राधान्य रहा है, फिर भी विषय को सुस्पष्ट करने के उद्देश्य से **प्रश्नोत्तर** प्रक्रिया को अधिगम के समय महत्ता प्रदान की जाती है। इस सम्बन्ध में वैदिक शिक्षा पद्धति के विशेषज्ञों की मान्यता रही है कि प्रश्न और परिप्रश्न के माध्यम से विषय की जटिलता को सुस्पष्ट किया जा सकता है। अर्थात् विषय को विश्लेषणात्मक प्रक्रिया द्वारा बोधगम्य बनाते हुए सुस्पष्ट किया जा सकता है, जिससे की अधिगम का उद्देश्य पूर्ण हो सके। इसका संकेत हमें वैदिक संहिताओं में भी प्राप्त होता है। अश्वमेध यज्ञ के प्रसङ्ग में बह्योद्य का संवाद प्रश्न, अनुप्रश्न और परिप्रश्न विधि का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस संवाद में होता अध्वर्यु से यह प्राथमिक प्रश्न करता है–

कः स्विदेकाकी चरति ?
कः उ स्विज्जायते पुनः ?
किं स्विद्धिमस्य भेषजम् ?
किं वावपनं महत्[1] ?

इसके उत्तर में अध्वर्यु इन प्राथमिक प्रश्नों का क्रमशः बोधात्मक उत्तर इस प्रकार देता है–

सूर्य एकाकी चरति।
चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजम्।
भूमिरावपनं महत्[2]।

तदनन्तर विषय के विश्लेषणार्थ अनु-प्रश्न, इस प्रकार किये जाते हैं–

---

1. यजुर्वेद - 23/45
2. यजुर्वेद - 23/46

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किं स्वित् सूर्यसमं ज्योतिः ?
किं समुद्रसमं सरः ?
किं स्वित् पृथिव्यै वर्षीयः ?
कस्य मात्रा न विद्यते [1] ?

इन प्रश्नों का समाधान विषय की विश्लेषणार्थक प्रक्रिया द्वारा होता इस प्रकार देता है–

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः ।
द्यौः समुद्रसमं सरः ।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् ।
गोस्तु मात्रा न विद्यते [2]।

तदनन्तर ब्रह्मोद्य संवाद प्रक्रिया में ब्रह्मा नामक ऋत्विक् उद्गाता से विषय की विस्तृत जानकारी के लिए परि-प्रश्न करता है, यथा–

पृच्छामि त्वा चितये देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ ।
येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्टस्तेषु विश्वं भुवनमा विवेशाꣳ [3]॥

तदनन्तर उद्गाता उसकी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए विषय की व्याख्या के द्वारा समाधान प्रस्तुत करता है। उपर्युक्त परि-प्रश्न में जिज्ञासित ब्रह्म की सर्वव्यापकता को इस ऋचा द्वारा प्रतिपादित करता है–

अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विंश्वं भुवनमा विवेश ।
सद्यः पर्येमि पृथिवीमुत द्यामेकेनाङ्गेन दिवो अस्य पृष्ठम् [4] ॥

---

1. यजुर्वेद – 23/47
2. यजुर्वेद – 23/48
3. यजुर्वेद – 23/49
4. यजुर्वेद – 23/50

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार लघु प्रश्न से प्रारम्भ कर के विषय के स्थूल से सूक्ष्म तक ज्ञान के विश्लेषणार्थ होता, अध्वर्यु, बह्मा और उद्गाता आदि ऋत्विक् परस्पर ज्ञान का विनिमय करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वैदिक संहिता ग्रन्थों में वर्तमान शिक्षण प्रणाली के समान ही विषय की गम्भीरता को स्पष्ट करने के लिए लघु-प्रश्न, अनुप्रश्न, परि-प्रश्न तथा व्याख्या आदि के माध्यम से ज्ञान कराया जाता है।

वेद-पाठ-संरक्षण-विधि - प्राचीन महर्षियों ने गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण विधि से अधीत वैदिक संहिताओं के स-स्वर पाठ परम्परा को संरक्षित रखने और उन्हें स्वर-गत एवं वर्ण-गत सम्भावित दोषों से मुक्त रखने के लिए विकृति पाठों का विधान किया, जो विश्व साहित्य में एक अनूठा प्रयोग है। इसके अन्तर्गत दो पदों से लेकर कई पदों तक के क्रम-व्युत्क्रम- संक्रम पाठों का विधान है। ये विधान आठ प्रकार के हैं जिन्हें **अष्ट-विकृति पाठ** कहा जाता है।

लब्ध ग्रन्थ के अनुसार महर्षिव्याडि ने विकृतिपाठ के लक्षण प्रस्तुत किये हैं[1]। जिनमें मुख्यतया अष्ट विकृतिपाठों[2] का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है- जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ, एवं घन। मधुसूदन मुनि के मतानुसार इन अष्ट विकृतियों के प्रवर्तक पृथक्-पृथक् माने गये हैं। उनके अनुसार पदपाठ-रावण द्वारा, क्रमपाठ-बाभ्रव्यऋषि द्वारा, जटापाठ-व्याडि ऋषि द्वारा, मालापाठ-वसिष्ठ ऋषि द्वारा, शिखापाठ-भृगु द्वारा, रेखापाठ - अष्टावक्र द्वारा, ध्वजपाठ-

---

1. शैशिरीये समाम्नाये व्याडिनैव महर्षिणा।
जटाद्याविकृतिरष्टौ लक्ष्यन्ते नाति विस्तरम् ॥

2. जटामालाशिखारेखाध्वजोदण्डोरथोघनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विश्वामित्र द्वारा, दण्डपाठ-पराशर द्वारा, रथपाठ-कश्यप द्वारा एवं घनपाठ-अत्रिमुनि द्वारा प्रवर्तित किया गया है[1]।

उक्त विकृतिपाठों का प्रवर्तन वेद मन्त्रों के स्वरूप की रक्षा के लिये किया गया है। यद्यपि इनका कर्मकाण्ड में कोई विशेष प्रयोजन नहीं है तथापि इनके पारायण से वेद का मूलस्वरूप अक्षुण्ण बना रहता है, और पाठक को इसका अलौकिक फल भी मिलता है। शास्त्रों में उन पाठों के पारायण से अनेक प्रकार के फलों का उल्लेख आया है[2]। संहिता पाठ करने से सूर्यलोक, पदपाठ से चन्द्रलोक एवं क्रमपाठ से परमपद की प्राप्ति होती है। पराशर ऋषि के मतानुसार संहितापाठी-स्वर्गगामी, पदपाठी- महर्लोकगामी क्रमपाठी-जनलोक-तपलोक और सत्यलोक को प्राप्त करता है तथा जटापाठी-वैकुण्ठलोकवंासी होता है[3]। वराहपुराण के प्रमाणानुसार जटा आदि आठ विकृतियों के अध्ययनाध्यापन करने वालों को द्विजश्रेष्ठ एवं पङ्क्तिपावन कहा गया है[4]। मार्कण्डेय ऋषि के अनुसार क्रमपाठ का विज्ञानी और मन्त्र-ब्राह्मणों में पारङ्गत तथा जटापाठ-पारायण व्यक्ति को विष्णुलोक की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा गया है[5]।

---

1. भगवान् संहितां प्राह पदपाठन्तु रावणः। बाभ्रव्यर्षिः क्रमं प्राह जटां व्याडीरवोचत्॥
मालापाठं वसिष्ठश्च शिखापाठं भृगुस्तथा। अष्टावक्रोऽकरोद्रेखां विश्वामित्रोऽब्रवीद् ध्वजम्॥
दण्डं पराशरोऽवोचत् कश्यपो रथमब्रवीत्। घनमत्रिर्मुनिः प्राह विकृतीनामयं क्रमः॥
मधुशिक्षायाम्

2. संहिता नयते सूर्यं पदं च शशिनः कलाः।
क्रमं च नयते सूक्ष्मं यत्तत्पदमनामयम्॥
या. शि.

3. संहितावित् स्वर्गगामी पदवेदी महर्गतिः।
क्रमी जनो-तपो-सत्यगामी वैकुण्ठभुग् जटी॥
पराशरः

4. जटादिविकृतीनां ये पारायणपरा नराः।
महात्मानो द्विजश्रेष्ठास्ते ज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः॥
वराहपुराण

5. क्रमाध्ययनसम्पन्नो मन्त्रब्राह्मणपारगः।
जटापारायणपरो विष्णुलोके महीयते॥
मार्कण्डेयः

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"विकृतिपाठ-क्रम"

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अष्ट विकृति पाठों का सुगम उपाय - पदपाठ करते समय, पदों की गणना, संख्यानिर्देश पूर्वक करनी चाहिये। ऐसा करने पर विकृतिपाठ करते समय, पदों के अनुलोम विलोम पाठ करने में सुविधा होती है। इसका उदाहरण निम्नलिखित है-

संहितापाठ -

ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ।।1।।

पद पाठ -

1	2	3	4	5	6
ओषधयः।	सम्।	वदन्ते।	सोमेन।	सह।	राज्ञा।
7	8	9	10	11	12
यस्मै।	कृणोति।	ब्राह्मणः।	तम्।	राजन्।	पारयामसि [1]।।

क्रमपाठ- क्रमपाठ में क्रमशः दो दो पदों का पाठ होता है [2]। जैसे 1+2, 2+3, 3+4, 4+5, 5+6, आदि संख्या वाले पद साथ पढ़े जाते है।

उदाहरण -

1	2	2	3	3	4	4	5	5	6
ओषधयः	सम्।	सं	वदन्ते।	वदन्ते	सोमेन।	सोमेन	सह।	सह	राज्ञा।
6	6	7	8	8	9	9	10		
राज्ञेति	राज्ञा।	यस्मै	कृणोति	कृणोति	ब्राह्मणः।	ब्राह्मणस्तम्।			
10	11	11	12	12	12				
तं	राजन्।	राजन्	पारयामसि।	पारयामसीति	पारयामसि [3]।।				

---

1. ऋ. सं. 10/17/22
2. 'क्रमः स्मृति प्रयोजनः' शुक्लयजुः प्रातिशाख्य 4/1/82
3. द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरमावसानादपृक्तवर्जम्। शुक्लयजुः प्रातिशाख्य 4/18/3

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

1. जटा पाठ का लक्षण- जटा पाठ करते समय अनुलोम विलोम से तीन बार क्रमपाठ को पढ़ना पड़ता है। विलोम पाठ करते समय पद पाठ की तरह सन्धि का पाठ, अनुलोम पाठ करते समय क्रम पाठ के समान सन्धि का पाठ करें[1]। इसमें पदों पर निर्दिष्ट अङ्कानुसार -1-2, 2-1, 1-2 संख्या वाले पदों को नियमानुसार पढ़ना चाहिये। जैसे- अनुलोम 1-2, विलोम 2-1[2]। अनुक्रम, उत्क्रम, व्युत्क्रम, अभिक्रम, सङ्क्रम, ये पांच क्रम हैं। अतः जटा पाठ को पञ्च सन्धि[3] कहा जाता है।

1 2 2 1 1 2 3 3 2 2 3
ओषधयः सं समोषधयः ओषधयः सम्।। सं वदन्ते वदन्ते सं सं वदन्ते।।

3 4 4 3 3 4 4 5 5 4 4 5
वदन्ते सोमेन, सोमेन वदन्ते, वदन्ते सोमेन।। सोमेन सह सह सोमेन सोमेन सह।।

5 6 6 5 5 6 6 6
सह राज्ञा, राज्ञा सह, सहं राज्ञा।। राज्ञेति राज्ञा।।

7 8 8 7 7 8 8 9 9 8 8 9
यस्मै कृणोति, कृणोति यस्मै, यस्मै कृणोति।। कृणोति ब्राह्मणो ब्राह्मणः कृणोति कृणोति ब्राह्मणः।।

9 10 10 9 9 10 10 11 11 10 10 11
ब्राह्मणस्तं, तं ब्राह्मणो ब्राह्मणस्तं।। तं राजन् राजंस्तम् तं राजन्।।

11 12 12 11 11 12 12 12
राजन्पारयामसि, पारयामसिराजन्, राजन्पारयामसि।। पारयामसीति पारयामसि।।

---

1. अनुलोमविलोमाभ्यां त्रिवारं हि पठेत् क्रमम्।
विलोमे पदवत् सन्धिः अनुलोमे यथा क्रमम्।।
क्रमे यथोक्ते पदजातमेव द्विरभ्यसेदुत्तरमेव पूर्वम्।
अभ्यस्य पूर्वञ्च तथोत्तरे पदेऽवसानमेवञ्च जटामिधीयते।।

2. क्रमं यथोक्तं प्रब्रूयाद् व्युत्क्रमेण क्रमेणच।
स लक्षणं सर्वसन्धौ जटा सा प्रोच्यते बुधैः।।

3. अनुक्रमश्चोत्क्रमश्च व्युत्क्रमोऽभिक्रमस्तथा।
सङ्क्रमश्चेति पञ्चैते जटायां कथिताः क्रमाः।।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उदाहरण

(1) अनुक्रम - ओषधयः सम्।
(2) उत्क्रम - सं सं।
(3) व्युत्क्रम - समोषधयः।
(4) अभिक्रम - ओषधय ओषधयः।
(5) सङ्क्रम - ओषधयः सम्।

2. मालापाठ- अष्टविकृतियों के क्रम में द्वितीय विकृति, मालासंज्ञक होती है। माला के दो भेद होते हैं- क्रममाला [1] और पुष्पमाला [2]।

मन्त्र के आधे भाग से प्रारम्भ कर अन्त तक एवं अन्त से पुनः प्रारम्भ तक क्रमपाठ को पढ़ने से क्रममाला पाठ बन जाता है। जैसेः- 1-2, 6-6, 2-2, 6-5, 3-4, 5-4 तक।

क्रममाला -

ओषधयः सं।	1	2	राज्ञेति राज्ञा।
सं वदन्ते।	3	4	राज्ञा सह।
वदन्ते सोमेन।	5	6	सह सोमेन।
सोमेन सह।	7	8	सोमेन वदन्ते।
सह राज्ञा।	9	10	वदन्ते सं।
राज्ञेति राज्ञा।	11	12	समोषधयः।
यस्मै कृणोति।	13	14	पारयामसीति पारयामसि।
कृणोति ब्राह्मणः।	15	16	पारयामसीति राजन्।
ब्राह्मणस्तम्।	17	18	राजँस्तम्।

---

1. ब्रूयात् क्रमविपर्यासावर्धर्चस्यादितोन्ततः।
अन्तं चादिं नयेदेवं क्रममालेति गीयते॥

2. माला मालेव पुष्पाणां पदानां ग्रन्थिनी हि सा।
आवर्तन्ते त्रयस्तस्यां क्रमव्युत्क्रमसङ्क्रमाः॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तं राजन्।	19	20	तं ब्राह्मणः।
राजन् पारयामसि।	21	22	ब्राह्मणः कृणोति।
पारयामसीति पारयामसि।	23	24	कृणोति यस्मै।

पुष्पमाला- पुष्पमाला का पाठ जटावत् ही होता है परन्तु यहाँ केवल प्रत्येक दो पदों पर विराम किया जाता है। जैसे -ओषधयः सम्। समोषधयः। ओषधयःसम्।

1.	ओषधयः सम्	समोषधयः	ओषधयः सम्
2.	सं वदन्ते	सं-वदन्ते	सं वदन्ते
3.	वदन्ते सोमेन	सोमेन वदन्ते	वदन्ते सोमेन
4.	सोमेन सह	सह सोमेन	सोमेन सह
5.	सह राज्ञा	राज्ञा सह	सह राज्ञा
6.	राज्ञेति राज्ञा		
7.	यस्मै कृणोति	कृणोति यस्मै	यस्मै कृणोति
8.	कृणोति ब्राह्मणः	ब्राह्मणः कृणोति	कृणोति ब्राह्मणः
9.	ब्राह्मणस्तम्	तं ब्राह्मणः	ब्राह्मणस्तम्
10.	तं राजन्	राजंस्तम्	तं राजन्
11.	राजन्पारयामसि	पारयामसि राजन्	राजन्पारयामसि
12.	पारयामसीति पारयामसि		

3. **शिखापाठ** - जटापाठ को पढ़कर उसके आगे एक अग्रिम पद जोड़ने पर शिखापाठ हो जाता है। जैसेः- 1-2, 2-1, 1-2-3, 2-3, 3-2, 2-3-4, 3-2, 3-2, 3-2-4, 4-5, 5-4, 4-5-6, 5-6, 5-6, 6-5, 6-6, 7-8, 8-7, 7-8-9, 8-9, 8-9, 9-8, 8-9-10, 9-10, 10- 9, 9-10-11, 10-11-11-10, 10-11-12, 11-12, 12-11, 11-12-12-12 [1]।

राजन्पारयामसि, पारयामसि राजन्, राजन् पारयामसि।
पारयामसीति पारयामसि।

---

1. पदोन्तरां जटामेव शिखामार्याः प्रचक्षते

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उदाहरण -

1	2	3	1	2	3	
ओषधयः	सम्,	समोषधयः,	ओषधयः	सम्	-	वदन्ते।

2	3	3	2	2	3	4	
सं	वदन्ते	वदन्ते	सं,	सं	वदन्ते	-सोमेन।	

3	4	4	3	3	4	5	
वदन्ते	सोमेन,	सोमेन	वदन्ते	वदन्ते	सोमेन	-सह।	

4	5	5	6	6	5	6	
सोमेन	सह,	सह	सोमेन,	सोमेन	सह	-राज्ञा।	

5	6	6	5	5	6	6	6	
सह	राज्ञा	राज्ञा	सह	सह	राज्ञा,	राज्ञेति	राज्ञा।	

7	8	8	7	7	8	9	
यस्मै	कृणोति,	कृणोति	यस्मै,	यस्मै	कृणोति	-ब्राह्मणः।	

8	9	9	8	8	9	10	
कृणोति	ब्राह्मणः	ब्राह्मणः	कृणोति,	कृणोति	ब्राह्मणम्	-तम्।	

9	10	9	9	10	11	
ब्राह्मणस्तम्,	तं	ब्राह्मणो,	ब्राह्मणतम्,		राजन्।	

10	11	11	10	10	11	
तं	राजन्,	राजस्तम्,	तं	राजन्,	-पारयामसि।	

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

4. रेखापाठ - विकृति पाठों के क्रम में चतुर्थ विकृतिपाठ, को रेखा पाठ कहते हैं। संहिताक्रम से दो, तीन, चार तथा पांच पदों के पाठ करने पर पुनः उसके विलोम एवं अनुलोम पाठ को रेखापाठ कहते हैं[1]।

मन्त्र का पूर्वार्द्ध उदाहरणः-

(पदद्वयम्) - ओषधयः सम्। समोषधयः। ओषधयः सम्।

(पदत्रयम्) - सं वदन्ते सोमेन। सोमेन वदन्ते सम्। सं वदन्ते।

(पदचतुष्कम्) - वदन्ते सोमेन सह राज्ञा।
राज्ञा सह सोमेन वदन्ते।

मंत्र के उत्तरार्द्ध का उदाहरण-

यस्मै कृणोति। कृणोति यस्मै। यस्मै कृणोति॥
कृणोति ब्राह्मणस्तम्। तं ब्राह्मणः कृणोति। कृणोति ब्राह्मणः॥
ब्राह्मणस्तम् राजन् पारयामसि। पारयामसि राजस्तं ब्राह्मणः।
ब्राह्मणस्तम्॥ तं राजन्। राजन् पारयामसि। पारयामसीति पारयामसि॥

इस प्रकार सम्पूर्ण मन्त्र में क्रमशः दो, तीन, चार, पांच, छः, व सात पदों के क्रम से पाठ किया जाता है।

5. ध्वजपाठ- क्रमपाठ को एक बार आदि से तथा एक बार अन्त से पढ़ा जाए तो ध्वजपाठ होता है[2]।

आदिक्रम से		अन्तक्रम से	
1	ओषधय सम्।	2	पारयामसीति पारयामसि।
3	सं वदन्ते।	4	राजन् पारयामसि।
5	वदन्ते सोमेन।	6	तं राजन्।

---

1. क्रमाद् द्वित्रिचतुष्पञ्चपदक्रममुदाहरेत्।
पृथक् पृथग्विपर्यस्य लेखामाहुः पुनः क्रमात्॥

2. ब्रूयादादेः क्रमं सम्यगन्तादुच्चारयेद्यदि।
वर्गे वा ऋचि वा यस्य पठनं स ध्वजः स्मृतः॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

7	सोमेन सह।	8	ब्राह्मणस्तं।
9	सह राज्ञा।	10	कृणोति ब्राह्मणः।
11	राज्ञेति राज्ञा।	12	यस्मै कृणोति।
13	यस्मै कृणोति।	14	राज्ञेति राज्ञा।
15	कृणोति ब्राह्मणः।	16	सह राज्ञा।
17	ब्राह्मणस्तम्।	18	सोमेन सह।
19	तं राजन्।	20	वदन्ते सोमेन।
21	राजन् पारयामसि।	22	सं वदन्ते।
23	पारयामसीति पारयामसि।	24.	ओषधः सम्।

6. दण्डपाठ- मंत्र के आधे भाग से पाठ को प्रारम्भ कर क्रम पाठ करे, पुनः विलोम क्रम से एक-एक पद को जोड़े, इसके बाद में पुनः विलोम पाठ करें। इस प्रकार पूरे आधे मन्त्र का एक-एक पद लेकर आगे बढते हुए अनुलोम विलोम पाठ करने से दण्डपाठ होता है[1]।

उदाहरण-

मंत्र का पूर्वार्द्ध-

1. ओषधयः सम्। समोषधयः।
2. ओषधयः सम्। सं वदन्ते। वदन्ते समोषधयः।
3. ओषधयः सम्। सं वदन्ते। वदन्ते सोमेन।। सोमेन वदन्ते समोषधयः।
4. ओषधयः सम्। सं वदन्ते। वदन्ते सोमेन।। सोमेन सह। सह सोमेन वदन्ते समोषधयः।
5. ओषधयः सम्। सं वदन्ते। वदन्ते सोमेन।। सेमेन सह। सह राज्ञा।। राज्ञा सह सोमेन वदन्ते समोषधयः। ओषधयः सम्। सं वदन्ते। वदन्ते सोमेन।। सोमेन सह। सह राज्ञा।। राज्ञेति राज्ञा।

---

1. क्रममुक्त्वा विपर्यस्य पुनश्च क्रममुत्तरम्।
अर्धचर्चादेवमुक्तोऽयं क्रमदण्डोऽभिधीयते ।।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मन्त्र का उत्तरार्ध-

1. यस्मै कृणोति।। कृणोति यस्मै।
2. यस्मै कृणोति। कृणोति ब्राह्मणः। ब्राह्मणः कृणोति यस्मै ।
3. यस्मै कृणोति। कृणोति ब्राह्मणः। ब्राह्मणस्तम् ।। तं ब्राह्मणः कृणोति यस्मै ।
4. यस्मै कृणोति। कृणोति ब्राह्मणः। ब्राह्मणस्तम्। तं राजन्। राजंस्तं ब्राह्मणः कृणोति यस्मै।
5. यस्मै कृणोति। कृणोति ब्राह्मणः। ब्राह्मणस्तम्। तं राजन्। राजन् पारयामसि।। पारयामसि राजंस्तं ब्राह्मणः कृणोति यस्मै। यस्मै कृणोति। कृणोति ब्राह्मणः।। ब्राह्मणस्तम्। तं राजन्। राजन् पारयामसि।। पारयामसीति पारयामसि।

7. रथपाठ- एकपाद या आधी ऋचा के दो-दो पदों को जहाँ एक साथ दण्डपाठ उच्चारण किया जाता है, उसे रथपाठ कहते हैं [1]। रथपाठ तीन प्रकार का होता है। कहीं-कहीं दो प्रकार के रथ का ही प्रचलन है।

(1) द्विचक्ररथ (2) त्रिचक्ररथ (3) चतुश्चक्ररथ।

द्विचक्ररथ आधी ऋचा से त्रिचक्ररथ प्रत्येक पाद से एवं चतुश्चक्ररथ चार पाद वाले मन्त्र का ही होता है।

---

1. पादशोऽर्धर्चशो वापि सहोक्तं दण्डवद्रथः।
अर्थः- पादे पादे अर्द्धर्चे वा क्रमविपर्यासौ दण्डवत्सह
उक्तो चेत् स विकृतिविशेषो रथः, इन्युच्यते।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्विचक्ररथ का उदाहरण - (एक ही मन्त्र के आधा से पाठ)

1) द्विचक्ररथः (आधे मंत्र का)

		पूर्वार्धः	(उत्तरार्धः)	
1.	(1)	ओषधयः सं।	यस्मै कृणोति।	(प्रथम एकपात्क्रमः)
		समाषेधयः।	कृणोति यस्मै	(व्युत्क्रमः)
2.	(1)	ओषधयः। सं	यस्मै कृणोति।	(द्वितीयो द्विपात्क्रमः)
	(2)	सं वदन्ते।	कृणोति ब्राह्मणः।	(द्वितीयो द्विपात्क्रमः)
		वदन्ते समोषधयः।	ब्राह्मणः कृणोति यस्मै।	(व्युत्क्रमः)
3.	(1)	ओषधयः सं।	यस्मै कृणोति।	(तृतीयस्त्रिपात्क्रमः)
	(2)	सं वदन्ते।	कृणोति ब्राह्मणः।	(तृतीयस्त्रिपात्क्रमः)
	(3)	वदन्ते सोमेन।	ब्राह्मणस्तम्।	(तृतीयस्त्रिपात्क्रमः)
		सोमेन वदन्ते	तं ब्राह्मणः।	
		समोषधयः।	कृणोति यस्मै।	(व्युत्क्रमः)
4.	(1)	ओषधयः सं।	यस्मै कृणोति	(चतुर्थश्चतुष्पात्क्रमः)
	(2)	सं वदन्ते।	कृणोति ब्राह्मणः।	(चतुर्थश्चतुष्पात्क्रमः)
	(3)	वदन्ते सोमेन।	ब्राह्मणस्तम्।	(चतुर्थश्चतुष्पात्क्रमः)
	(4)	सोमेन सह।	तं राजन्।	(चतुर्थश्चतुष्पात्क्रमः)
		सह सोमेन	राजंस्तं ब्राह्मणः	
		वदन्ते समोषधयः।	कृणोति यस्मै।	(व्युत्क्रमः)
5.	(1)	ओषधयः सं।	यस्मै कृणोति।	(पञ्चमः पञ्चपात्क्रमः)
	(2)	सं वदन्ते।	कृणोति ब्राह्मणः।	(पञ्चमः पञ्चपात्क्रमः)
	(3)	वदन्ते सोमेन।	ब्राह्मणस्तम्।	(पञ्चमः पञ्चपात्क्रमः)
	(4)	सोमेन सह।	तं राजन्।	(पञ्चमः पञ्चपात्क्रमः)
	(5)	सह राज्ञा।	राजन् पारयामसि।	(पञ्चमः पञ्चपात्क्रमः)
		राज्ञेति राज्ञा।	पारयामसीति पारयामसि।	(समाप्तिः)

विशेष - द्विचक्र रथपाठ दो मन्त्रों को एक साथ भी किया जाता है। इस में भी दो भेद हो जाते हैं। प्रथम दोनों मन्त्र के पहले दो शब्दों

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का क्रमपाठ कर फिर विलोम पाठ करें। फिर दोनों मन्त्रों के दो पदों का क्रमपाठ करके पुनः विलोम पाठ करें। जैसे –

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्[1] ।।
अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रभिरासया। अकारि रत्नधातमः[2] ।।

1. अग्निमीळे। अयं देवाय ।।
ईळेऽग्निम् । देवायायम् ।।

2. अग्निमीळे। इळे पुरोहितम् ।। अयं देवाय । देवाय जन्मने ।
पुरोहितमीळेऽग्निम् । जन्मने देवायायं ।।

3. अग्निमीळे । इळेपुरोहितम् । पुरोहितम् यज्ञस्य ।। अयं देवाय ।
देवाय जन्मने। जन्मने स्तोमः।। यज्ञस्य पुरोहितमीळेऽग्मि्।। स्तोमो जन्मने देवायायम् ।।

4. अग्निमीळे । इळेपुरोहितम् ।। पुरोहितम् यज्ञस्य ।
पुरोहितमिति पुरःऽहितम् । यज्ञस्य देवम् ।। अयं देवाय ।
देवाय जन्मने । जन्मने स्तोमः । स्तोमो विप्रेभिः ।।
देवं यज्ञस्य पुरोहितमीळेऽग्निम् ।। विप्रेभिः स्तोमो जन्मने देवायायम् ।।

5. अग्निमीळे । इळेपुरोहितम् ।। पुरोहितम् यज्ञस्य ।
पुरोहितमिति पुरःऽहितम् । यज्ञस्य देवम् ।। देवमृत्विजम् ।।
अयं देवाय । देवाय जन्मने। जन्मने स्तोमः। स्तोमो विप्रेभिः ।
विप्रेभिरासया ।। ऋत्विजं देवं यज्ञस्य पुरोहितमीळेऽग्निम् ।।
आसया विप्रेभिः स्तोमो जन्मने देवायायम् ।।

6. अग्निमीळे । इळेपुरोहितम् ।। पुरोहितम् यज्ञस्य।
पुरोहितमिति पुरःऽहितम् । यज्ञस्य देवम् ।। देवमृत्विजम् ।।
अयं देवाय । देवाय जन्मने। जन्मने स्तोमः। स्तोमो विप्रेभिः ।
विप्रेभिरासया ।। ऋत्विजमित्यृत्विजम् । आसयेत्यासया।।

7. होतारं रत्नधातमम्। अकारि रत्नधातमम् ।।
रत्नधातमं होतारम् । रत्नधातमोऽकारि ।।

---

1. अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ऋग्वेद 1/1/1

2. अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया ।
अकारि रत्नधातमम् । ऋग्वेद 1/20/1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होतारं रत्नधातमम्। अकारि रत्नधातमम्॥
रत्नधातममिति रत्नऽधातमम्। रत्नधातम इति रत्नऽधातमम्॥

द्वितीय प्रकार से द्विचक्ररथ- इसमें दोनों मन्त्रों का क्रमपाठ पर्याय से होता है। जैसे-

1. (i) अग्निमीळे। अयं देवाय॥
   इळेऽग्निम्। देवायायम्॥
2. (i) अग्निमीळे। अयं देवाय॥
   (ii) ईळे पुरोहितम्। देवाय जन्मने॥
   पुरोहितमीळेऽग्निम्। जन्मने देवायायम्॥
3. (i) अग्निमीळे। अयं देवाय॥
   (ii) ईळे पुरोहितम्। देवाय जन्मने॥
   (iii) पुरोहितं यज्ञस्य। जन्मने स्तोमः॥
   यज्ञस्य पुरोहितमीळेऽग्निम्॥ स्तोमो जन्मने देवायायम्।
4. (i) अग्निमीळे। अयं देवाय॥
   (ii) ईळे पुरोहितम्। देवाय जन्मने॥
   (iii) पुरोहितम् यज्ञस्य। जन्मने स्तोमः॥
   पुरोहितमिति पुरःऽहितम्।
   (iv) यज्ञस्य देवं। स्तोमो विप्रेभिः॥
   देवं यज्ञस्य पुरोहितमीळेऽग्निम्॥
   विप्रेभिः स्तोमो जन्मने देवायायम्॥
5. (i) अग्निमीळे। अयं देवाय॥
   (ii) ईळे पुरोहितम्। देवाय जन्मने॥
   (iii) पुरोहितम् यज्ञस्य। जन्मने स्तोमः॥
   पुरोहितमिति पुरःऽहितम्।
   (iv) यज्ञस्य देवम्। स्तोमो विप्रेभिः॥
   (v) देवमृत्विजम्। विप्रेभिरासया॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऋत्विजं देवं यज्ञस्य पुरोहितमीळेऽग्निम्।
आसया विप्रेभिः स्तोमो जन्मने देवायायम्।

6. (i) अग्निमीळे। अयं देवाय ।।
(ii) ईळे पुरोहितम्। देवाय जन्मने ।।
(iii) पुरोहितम् यज्ञस्य। जन्मने स्तोमः ।।
पुराहितमिति पुरःऽहितम्।
(iv) यज्ञस्य देवम्। स्तोमो विप्रेभिः ।।
(v) देवमृत्विजम्। विप्रेभिरासया ।।
(vi) ऋत्विजमित्यृत्विजम्। आसयेत्यासया ।।

7. होतारम् रत्नधातमम्। अकारि रत्नधातमः ।।
रत्नधातमम् होतारम्। रत्नधातमोऽकारि ।।
होतारं रत्नधातमम्। अकारि रत्नधातमम् ।।
रत्नधातममिति रत्नऽधातमम्।
रत्नधातम इति रत्नऽधातमम् ।।

त्रिचक्ररथ- इस में तीनों पादों के क्रमशः दो दो पदों का क्रम एवं व्युत्क्रम पाठ होता है। जैसे-

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा [1]।।

	(प्रथमः पादः)	द्वितीयः पादः)	(तृतीयः पादः)
1. (i)	विष्णोः कर्माणि।	यतो व्रतानि।	इन्द्रस्य युज्यः। (1 म. क्रमः)
	कर्माणि विष्णोः।	व्रतानि यतः।	युज्यः इन्द्रस्य। (व्युक्रमः)
2. (i)	विष्णोः कर्माणि।	यतो व्रतानि।	इन्द्रस्य युज्यः। (2 य. क्रमः)

1. ऋग्वेद संहिता - 1/12/19

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर्माणि पश्यत।	व्रतानि पस्पशे।	युज्यः सखा। (2 य. क्रमः)
पश्यत कर्माणि विष्णोः।	पस्पशे व्रतानि यतः।	सखा युज्यः इन्द्रस्य। (व्युक्रमः)
(1 मः पादः) विष्णोः कर्माणि।	कर्माणि पश्यत।	पश्यतेति पश्यत। (समाप्तिः)
(2 यः पादः) यतो व्रतानि।	व्रतानि पस्पशे।	पस्पश इति पस्पशे। (समाप्तिः)
(3 यः पादः) इन्द्रस्य युज्यः।	युज्यः सखा।	सखेति सखा। (समाप्तिः)

चतुश्चक्ररथ - चारपाद वाले मन्त्र के चारों पादों से दो-दो पदों के क्रम व्युत्क्रम पाठ को चतुष्पादरथ कहते हैं। जैसे -

(प्रथम पादः)	(द्वितीयः पादः)	(तृतीयः पादः)	(चतुर्थः पादः)
1. (i) ओषधयः सम्।	सोमेन सह।	यस्मै कृणोति।	तं राजन्। (प्रथम क्रम)
समोषधयः।	सह सोमेन।	कृणोति यस्मै।	राजंस्तम्। (व्युत्क्रमः)
2. (i) ओषधयः सम्।	सोमेन सह।	यस्मै कृणोति।	तं राजन्। (द्वितीयक्रमः)
संवदन्ते।	सह राज्ञा।	कृणोति ब्राह्मणः	राजन्पारयामसि। (द्वितीयक्रमः)
वदन्ते समोषधयः।	राज्ञा सह सोमेन।	ब्राह्मणः कृणोति यस्मै।	पारयामसि राजंस्तम्। (व्युत्क्रमः)
(प्रथमः पादः)	ओषधय सम्।	संवदन्ते। वदन्त इति वदन्ते। (समाप्तिः)	
(द्वितीयः पादः)	सोमेन सह।	सह राज्ञा। राज्ञेति राज्ञा।	(समाप्तिः)
(तृतीयः पादः)	यस्मै कृणोति।	कृणोति ब्राह्मणः।	ब्राह्मण इति ब्राह्मणः। (समाप्तिः)
(चतुर्थः पादः)	तं राजन्।	राजन्पारयामसि।	पारयामसीति पारयामसि (समाप्तिः)

8. घनपाठ- घनपाठ दो प्रकार से किया जाता है। जिसे घन और घनबल्लभ कहते हैं। इनके भी दो-दो भेद होते हैं:-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

घन के दो भेद-

1. अन्त से आदि एवं आदि से अन्त तक प्रथम प्रकार का पाठ।
2. शिखा को उच्चारण करके पुनः विपरीत क्रम से अनन्तर पुनः उन्हीं पदों का पाठ किया जाता है।

घनवल्लभ पाठ के भी दो भेद होते हैं-

(1) पञ्चसन्धियुक्तघनपाठ।

(2) पञ्चसन्धियुक्तघनपाठ का अनुलोम एवं विलोम पाठ।

प्रथम घन -

क्रमपाठ विधि से आधी ऋचा के अन्त से प्रारम्भ तक पाठ करके एवं उसी क्रम विधान से अन्त तक ले जाय, तब प्रथम घन होता है[1]।

उदाहरण - 5-6, 4-5, 3-4, 2-3, 1-2, 2-3, 3-4, 4-5, 5-6,

(क) पूर्वार्धस्य (अन्तादादि पर्यन्तम्) अन्त से आदि पर्यन्त।
राज्ञेति राज्ञा। सह राज्ञा। सोमिन सह। वदन्ते सोमेन। सं वदन्ते।
ओषधयः सम् आदि से अन्त तक।

सं वदन्ते। वदन्ते सोमेन। सोमेन सह। सह राज्ञा। राज्ञेति राज्ञा।

(ख) अन्त से आदि पर्यन्त।
पारयामसीति पारयामसि। राजन् पारयामसि। तं राजन्। ब्राह्मणस्तम्।
कृणोति ब्राह्मणः। यस्मै कृणोति।

आदि से अन्त तक

---

1. अन्तात्क्रमं पठेत्पूर्वं आदिपर्यन्तमानयेत्।
आदिक्रमं नयेदन्तं घनमाहुर्मनीषिणः॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कृणोति ब्राह्मणः। ब्राह्मणस्तम्। तं राजन्। राजन् पारयामसि। पारयामसीति पारयामसि।

द्वितीय प्रकार का घन- शिखा को पढ़कर, उसको विपरीत क्रम से लौटाकर पुनः उन्हीं पदों को पढ़ने से द्वितीय प्रकार का घन पाठ होता है [1]।

प्रथम –

ओषधयः सम् समोषधयः ओषधयः सं वदन्ते वदन्ते समोषधयः ओषधयः सं वदन्ते सं वदन्ते वदन्ते सं सं वदन्ते सोमेन सोमेन वदन्ते सं सं वदन्ते सोमेन

वदन्ते सोमेन सोमेन वदन्ते वदन्ते सोमेन सह सह सोमेन वदन्ते वदन्ते सोमेन सह सोमेन सह सह सोमेन सोमेन सह राज्ञा राज्ञा सह सोमेन सोमेन सह राज्ञा सह राज्ञा राज्ञा सह सह राज्ञा।। राज्ञेति राज्ञा

द्वितीय-

यस्मै कृणोति कृणोति यस्मै यस्मै कृणोति ब्राह्मणो ब्राह्मणः कृणोति यस्मै यस्मै कृणोति ब्राह्मणः।।

कृणोति ब्राह्मणो ब्राह्मणः कृणोति कृणोति ब्राह्मणस्तं तं ब्राह्मणः कृणोति कृणोति कृणोति ब्राह्मणस्तम्।। ब्राह्मणस्तं तं ब्राह्मणो ब्राह्मणस्तं राजन् राजंस्तं ब्राह्मणो ब्राह्मणस्तं राजन्।

तं राजन् राजंस्तं तं राजन् पारयामसि पारयामसि राजंस्तं तं राजन् पारयामसि राजन् पारयामसि पारयामसि राजन् राजन् पारयामसि पारयामसीति पारयामसि।।

---

1. शिखामुक्त्वा विपर्यस्य तत्पदानि पुनः पठेत्।
अयं घन इति प्रोक्तः इत्यष्टौ विकृतीः पठेत्।।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

घनवल्लभ- पञ्चसन्धियुक्तघनपाठ को प्रथम घनवल्लभ कहते हैं। इसी को अनुलोम एवं विलोम पाठ करने से द्वितीय घनवल्लभ होता है। क्रमादिपञ्चसन्धि का विस्तारपूर्वक विवेचन पहले किया जा चुका है, अतः यहाँ केवल उदाहरण मात्र प्रस्तुत करते हैं, जैसे-

परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु ।
इच्छन्ती रूरूचक्षसम् [1] ।।

1. परा मे। मे मे। मे परा। परा परा। परा मे ।।
परा मे, मे परा, परा मे, यन्तिः यन्ति मे परा, परा मे यन्ति ।।

2. मे यन्ति। यन्ति यन्ति। यन्ति मे। मे मे। मे यन्ति ।।
मे यन्ति, यन्ति मे, मे यन्ति, धीतयोः धीतयो यन्ति मे, मे यन्ति धीतयः ।।

3. यन्ति धीतयः। धीतयो धीतयः। धीतयो यन्ति। यन्ति यन्ति। यन्ति धीतयः ।।
यन्ति धीतयो, धीतयो यन्ति, यन्ति धीतयो, गावोः ।। गावो धीतयो यन्ति, यन्ति धीतयो गावः ।।

4. धीतयो गावः। गावो गावः। गावो धीतयः। धीतयो धीतयः। धीतयो गावः ।।
धीतयो गावो, गावो धीतयो, धीतयो गावो, नः । न गावो धीतयो, धीतयो गावो न ।।

5. गावो न। न न। न गावः। गावो गावः। गावो न।
गावो न, न गावो, गावो न, गव्यूती – र्गव्यूतीर्न गावो, गावो न गव्यूतीः ।।

6. न गव्यूतीः। गव्यूतीर्गव्यूतीः। गव्यूतीर्न। न न। न गव्यूतीः ।
न गव्यूतीः, गव्यूतीर्न, न गव्यूतीरन्वनु गव्यूतीर्न, न गव्यूतीरनु ।।

7. गव्यूतीरनु । अन्वनु । अनु गव्यूतीः । गव्यूतीर्गव्यूतीः । गव्यूतीरनु ।
गव्यूतीरन्वनु गव्यूतीर्गव्यूतीरनु।। अन्वित्यनु ।।

8. इच्छन्तीः उरुचक्षसम्। उरुचक्षसमुरुचक्षसम्।
उरुचक्षसमिच्छन्तीः । इच्छन्तीरिच्छन्तीः। इच्छन्तीरुरुचक्षसम् ।
इच्छन्तीरुरुचक्षसंउरुचक्षसमिच्छन्तीः इच्छन्तीरुरुचक्षसम् ।।
उरुचक्षंसमित्युरुऽचक्षसम् ।।

---

1. ऋग्वेद 1/25/16

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रुति परम्परा में उच्चारणविधा की प्रधानता के आधार पर ऋषि मुनियों ने विकृतिपाठ के विधान को प्रस्तुत कर, शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया में एक नयी दिशा प्रदान की, जिसके फलस्वरूप उच्चारण विधा में स्खलन दोष से निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ एवं यह विधा गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण की परम्परा को संरक्षित करती हुई उच्चारण दोष के परिहार का मार्ग प्रस्तुत करती है। वैदिक शिक्षा पद्धति की विशेषता रही है कि गुरु एवं शिष्य का अध्ययन एवं अध्यापन क्रम में तादात्म्यभाव उत्पन्न करना। अष्टविकृति पाठ-वस्तुतः विकृति नहीं करता अपितु मूलपाठ की प्रकृति का संरक्षण करता है, जो विश्व की अनूठी विधा है। इसी के कारण वेद के मूलपाठ में कोई प्रक्षेप सम्भव नहीं हो पाया। यदि यही विधा रामायण और महाभारतादि ग्रन्थों के लिए अपनायी गयी होती तो, इन ग्रन्थों के मूलरूप में भी विकार उत्पन्न नहीं होते।

वैदिककालीन शिक्षण पद्धति की विशेषताएँ एवं उनसे लाभ-

(i) वैदिक शिक्षा अपने आप में एक सम्पूर्ण व्यवस्था थी। वह छात्र को जीवन की प्रत्येक स्थिति के लिए तैयार करती थी और उसके व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी विकास करती थी। बालक का शरीर, मन, बुद्धि, अध्यात्म सभी शिक्षा द्वारा परिष्कृत किये जाते थे। गुरु के घर में या आश्रम में रह कर बालक घर तथा आश्रम के आवश्यक कार्यों का सम्पादन कर प्रायोगिक प्रक्रिया से ज्ञान प्राप्त करता था तथा गुरु के निकटतम सम्पर्क और अन्तेवासित्व के माध्यम से गुरु के आदर्श चरित्र का अध्ययन कर उसके अनुकरण द्वारा अपना चरित्र निर्माण करता था।

(ii) शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया में आचार्य का विशिष्ट महत्त्व था। **गुरुर्ब्रह्मागुरुर्विष्णुः...** इत्यादि स्तुति के आधार पर आचार्य को देवत्व की उपाधि प्राप्त थी।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(iii) गुरु-शिष्य में व्यक्तिगत सम्बन्ध था और शिष्यों पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता था। शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया में इस वैशिष्ट्य के कारण शिष्य को अन्तेवासी का स्वरूप प्राप्त था।

(iv) शिष्य-गुरु के कुल के सदस्य के रूप में रहता था।

(v) अन्तेवासी के रूप में शिष्य के लालन-पालन और पोषण का दायित्व गुरु का था।

(vi) शिक्षण मौखिक था तथा पुस्तकों की सहायता सर्वथा नहीं ली जाती थी।

(vii) पद, क्रम, जटा तथा अन्य रूपों में वेद का अध्ययनाध्यापन होता था। त्वष्टा की गाथा इस विषय में प्रसिद्ध है। उसने **इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व** के उच्चारण में गड़बड़ी कर दी और इन्द्र के विरोध में अग्नि प्रज्वलित करने की अपेक्षा उसे बुझ जाने में योग दिया[1]।

(viii) शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया में विशेषत: उच्चारण की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था।

(ix) विद्यारम्भ-संस्कार को **अक्षरस्वीकरणम्**[2] भी कहते हैं, इससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा का आरम्भ वर्णमाला सीखने से होता था।

(x) उपनिषदों में वर्णित अक्षर शब्द ब्रह्म के साथ ही वर्णों की ओर भी सङ्केत करता है। छान्दोग्योपनिषद् में मात्राओं का और ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ में ओ३म पद के अ. उ. म् से बने

---

1. मन्त्रो हीन: स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु: स्वरतोऽपराधात्॥
पाणिनीय शिक्षा - 52

2. एन्शिएंट इंडियन एजुकेशन, पृ. 173

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होने का उल्लेख है। इन ग्रन्थों में ध्वनियों और पदों के उच्चारण की चर्चा है।

(xi) वैदिक वाङ्मय में अनेक ध्वनियों के सङ्केत हैं। इन ध्वनियों में कोई विकार या परिवर्तन न हो, इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया है। लेख-बद्ध किये बिना ध्वनियों में परिवर्तन को रोका नहीं जा सकता। ऋग्वेद में गायत्री आदि अनेक छन्द हैं। संहिता - ग्रन्थों में पदों, अक्षरों, मात्राओं की संख्या गिनाई गई है। स्थान-स्थान पर अङ्कों का उल्लेख है, जिसका बोध बिना लिपि के सम्भव नहीं है। एतदर्थ वेदों के अनेक मन्त्रों से लिखने की परम्परा की पुष्टि होती है[1]।

(xii) प्राच्य शिक्षणाभ्यास की समयावधि का विशेष उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी उपाकर्म और उत्सर्जन क्रिया की ओर विशेष सङ्केत किया गया है, जिसमें उपाकर्म विधान शिक्षा - सत्रारम्भ के रूप में श्रावणी पूर्णिमा को होता था तथा उत्सर्जन शिक्षा सत्र की समाप्ति की ओर सङ्केत करता है, जो पौष मास की पूर्णिमा को निर्धारित किया गया है।

(xiii) अनध्याय के विषय में भी पर्याप्त सङ्केत मिलते हैं। नियमित अवकाश प्रतिपदा, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावास्या को निर्धारित किये गये हैं[2], जब कि उपद्रव, आक्रमण, लूटमार, दुर्घटना, दैवी आपत्ति आदि आकस्मिक घटनाओं के घटने पर विद्यालय में अनध्याय का विधान किया गया है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने 37 अनध्याय गिनाये हैं।

(xiv) वेदाध्ययन का तात्पर्य केवल मन्त्रों को कण्ठस्थ कर लेना नहीं प्रत्युत अर्थ भी समझना था।

---

1. ऋग्वेद -1/164/41, 6/53/5-8/10/71/4 .
2. मनुस्मृति - 4/113-114, बौधायन धर्मसूत्र 1/11/42,43

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(xv) अनुशासन कठोर था, संवेगों और इच्छाओं पर संयम किया जाता था।

(xvi) वैदिककालीन शिक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत अनुशासन के उद्देश्य से इन्द्रिय-निग्रह पर अत्यधिक बल दिया जाता था, जिसे क्रमशः स्वाध्यायरूप तप, समयरूप तप और मन के साथ इन्द्रियों की एकाग्रतारूप तप की संज्ञा दी गई थी।

(xvii) **'सा विद्या या विमुक्तये'** वैदिककालीन शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था, जिसमें आत्माभ्युदय सम्बन्धित वैयक्तिक गुणों के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया गया था।

(xviii) अध्ययन के लिए कोई शुल्क निर्धारित नहीं था। इस सम्बन्ध में **बृहदारण्यकोपनिषद्** में निर्देश दिया गया है कि जनक ने याज्ञवल्क्य को एक सहस्र गौएँ, एक हाथी और एक बैल देना चाहा तो यज्ञवल्क्य ने कहा- मेरे पिता का मत था कि बिना पूर्ण पढ़ाये शिष्य से कोई पुस्कार नहीं लेना चाहिए[1]। **दक्षिणा परितोषो वै गुरूणां सद्भिरुच्यते**[2], महाभारत के इस वाक्य द्वारा भी यह ज्ञात होता है कि शिक्षणाभ्यास के लिए कोई निर्धारित शुल्क नहीं था।

(xix) वैदिककालीन शिक्षण - व्यवस्था में मूल संस्कृति के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए विशेष प्रयास किये जाते थे, जिसके लिए विशेषतः वैदिक साहित्य, दर्शन, व्याकरण तथा इनकी सहायक शाखाएँ ही पढ़ी-पढ़ाई जाती थीं।

(xx) **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**[3]**'** के मतानुसार कार्यानुभव की प्रणाली पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

---

1. हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति।
बृहदारण्यकोपनिषद् - 4/1/2

2. महाभारत (आश्वमेधिक) 56/21

3. शतपथ ब्राह्मण 1/7/1/5

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(xxi) छात्र के नैतिक उत्थान के लिए आध्यात्मिक वातावरण का सृजन किया जाता था, जिसके लिए यज्ञानुष्ठान आदि को शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया में विशेष महत्त्व दिया जाता था।

(xxii) आत्मिक-उत्थान के साथ-साथ स्वास्थ्य शिक्षा की ओर ध्यान देते हुए व्यक्ति के सामाजिकीकरण का प्रयास किया जाता था। जैसा कि **सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः** इस श्रुति वाक्य के द्वारा महर्षि ने सभी प्राणियों का सुख, निरोगी काया, कल्याणप्रद पदार्थ और समस्त दुःखों के विनाश के लिए सृष्टिकर्ता परब्रह्म परमेश्वर से प्रार्थना की है।

(xxiii) व्यक्ति के मन-वचन और कर्म की शुद्धता की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था।

(xxiv) **यज्ञबन्धुः मनुष्यः चेतयत्**[1] मन्त्र द्वारा वैदिककालीन शिक्षा के उद्देश्य को निर्धारित करते हुए ऋषि ने संगतिकरण के महत्त्व को प्रतिपादित किया है, जो सामाजिकीकरण के विकास की ओर ध्यान आकृष्ट करता है।

(xxv) **संगतिकरण-पाठ** के माध्यम से वैदिक ऋषियों ने परिवार, देश और राष्ट्र सभी में सुव्यवस्था बनी रहे और सभी अपने नियत कर्त्तव्य पथों पर चलते हुए अभ्युन्नति को प्राप्त हो, इसके लिए वर्ण विभाजन का सूत्रपात किया।

(xxvi) वर्ण-व्यवस्था के निर्धारण का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को सामूहिक हित की ओर ले जाना था, इसके लिए वैदिक शिक्षा के अन्तर्गत तप और त्याग के प्रशिक्षण द्वारा अनिष्ट और कुसंकल्पों के विध्वंश के लिए व्यक्ति को इस योग्य

---

1. ऋग्वेद - 4/1/9

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बनाया जाता था, जिससे वह समाज के अभ्युदय में उपयोगी सिद्ध हो सके।

(xxvii) मानवता की अभिवृद्धि के लिए विशृंखलित समाज को मालाकार में गुम्फित करने के उद्देश्य से मैत्री, सदाचार, उच्च विचार, नैतिकता, दया, करुणा, और अहिंसा का प्रशिक्षण आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि के अन्तर्गत दिया जाता था। इस सम्बन्ध में वैदिक ऋषियों की अवधारणा थी कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता और मानवीय समानता की उदात्त भावना के बिना उच्च आदर्शों वाले समाज का निर्माण सम्भव नहीं है। इसके लिए वैदिककालीन शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया में धार्मिक शिक्षा को प्रधानता दी गई है।

(xxviii) **माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः**[1] इस उक्ति द्वारा वैदिक ऋषियों ने सामाजिकीकरण की भावना से राष्ट्रोन्नयन में योगदान का उपदेश दिया है।

(xxix) वैदिककालीन शिक्षा-व्यवस्था राजकीय निमन्त्रण से सर्वथा मुक्त थी, परन्तु आश्रम के लिए अपेक्षित आर्थिक सहायता तथा सुरक्षा उपलब्ध कराना राज्य का उत्तरदायित्व था। इस प्रकार वैदिककालीन शिक्षा राज्य के अनपेक्षित बन्धनों से मुक्त रहने के कारण अपने आदर्शों पर अडिग थी।

वैदिककालीन शिक्षण पद्धति के दोष -

(i) गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण की विधा में अध्येता की अपेक्षा गुरु की प्रधानता के कारण शैक्षणिक वातावरण में भय के वातावरण के कारण शैक्षणिक प्रक्रिया पूर्णतः अमनोवैज्ञानिक थी।

---

1. अथर्ववेद - 12/1/12

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(ii) बालक की रुचि, आवश्यकता और योग्यता पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था, जिसके कारण यह प्रक्रिया पूर्णतः अमनोवैज्ञानिक थी।

(iii) इस प्रणाली के अध्येता से अत्यधिक स्मृति व्यायाम कराया जाता था।

(iv) कण्ठस्थीकरण की प्रधानता के कारण इस विधा द्वारा अध्येता तोते की तरह रटन्तु तो बन सकता था, किन्तु व्यावहारिक ज्ञान के अभाव में उसकी सार्थकता का लाभ नहीं ले सकता था।

(v) वेदाध्ययन के विधान में जप-तप और कर्म-काण्ड की प्रधानता होने के कारण स्वाध्यायी में अन्ध-विश्वास की भावना अपना घर बना लेती है।

(vi) स्वाध्यायी धर्म-भीरु बन कर जीवन की वास्तविकता से मुख मोड़ लेता है।

(vii) व्यावहारिक शिक्षा तथा प्रतिदिन काम आने वाले शिल्प आदि की पढ़ाई पर बहुत कम बल दिया जाता था।

(viii) अनुशासन कठोर और नीरस था। परिणामतः छात्र के चारों ओर भय के बादल मंडराने के कारण उसका बहुमुखी विकास नहीं हो पाता था।

(ix) गुरु द्वारा सदैव अंकुश किये जाने पर उसकी स्वयं की सोचने-समझने की शक्ति समाप्तप्राय दिखने लगती थी।

(x) बालकों को जातीय आधार पर अधिगम की प्रक्रिया में समाहित किये जाने पर समाज का विकास अवरुद्ध सा दिखाई देने लगता था।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(xi) इस व्यवस्था के अन्तर्गत जो महान् दोष झलकता है, वह है- वर्ग विशेष का प्राधान्य, जिसके कारण अन्य जनों के वेदाध्ययन से सम्बन्धित व्यवस्था में प्रवेश पर प्रतिबन्ध था। जिसके फलस्वरूप प्रतिबन्धित समाज का उत्थान अवरुद्ध सा होता दिखाई देता है। इस तरह की अनेक सामाजिक कुप्रथाओं ने समाज को विघटन के कगार पर ला कर खड़ा कर दिया है।

(xii) बालक के निजी व्यक्तित्व के विकास के स्थान पर गुरु के व्यक्तित्व के अनुकरण पर ही बालक का व्यक्तित्व निर्माण होता था। इस प्रकार बालक गुरु के व्यक्तित्व की छाया मात्र ही बन पाता था।

(xiii) बालक की अन्तर्निहित शक्तियों के विकास के लिए पर्याप्त अवसर उपलब्ध नहीं होते थे।

(xiv) शिक्षा में नये-नये प्रयोगों के अवसर कल्पित नहीं किये जाते थे।

(xv) पुरानी परम्परा के पालन पर ही अधिक बल दिया जाता था।

(xvi) सह-शिक्षा का अभाव होने के कारण नारी शिक्षा पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था।



Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अध्याय 5

वेदानुगामी शास्त्रों में शिक्षा

भारतीय भाषाओं के विस्तृत साहित्य का विपुल अंश वैदिक चिन्तन परम्परा से प्रभावित है। संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि वैदिक चिन्तन के तत्त्वों को विवेचित करने में इस भाषा के विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। भारतीय संस्कृति और दर्शन की वेदाश्रितता संस्कृत वाङ्मय के पर्यालोचन से स्पष्ट झलकती है। भारतीयदर्शन-परम्परा में आस्तिक और नास्तिक भेद का आधार वेद-प्रामाण्य रहा है। मीमांसा, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग दर्शन तो पूर्णतः वेदाश्रित हैं साथ ही साथ जैन और बौद्ध आदि नास्तिक दर्शनों में भी वैदिक चिन्तन का प्रभाव परिलक्षित होता है। आस्तिक दर्शनों से इन नास्तिक दर्शनों में अन्तर इतना ही है कि ये नास्तिक दर्शन अपने चिन्तन की प्रामाणिकता के लिए वेद को आधार बनाने की अनिवार्यता की अपेक्षा नहीं करते हैं। इन नास्तिक दर्शनों में प्रस्तुत विभिन्न उपदेश और मानवता के विकास के साधनों की चर्चा वैदिक वाङ्मय के समान ही प्राप्त होती है। इसी कारण वैदिक धर्म, बौद्धधर्म और जैन धर्म आदि नाम भेद को धारण करती हुई भारतीय संस्कृति में त्याग और तपस्या की प्रधानता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। विविधताओं से व्याप्त इस भारतीय चिन्तन परम्परा और संस्कृति में वेद-निरूपित त्याग की भावना का प्राधान्य समान रूप से स्वीकार किया जाता रहा है। वैदिक शिक्षा के विवेचन में संस्कृत के साहित्यकारों ने जिस भूमिका का निर्वाह किया है, उसका संक्षिप्त परिचय अग्रिम-पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

पौराणिक वाङ्मय की वेदानुगामिता - विस्तृत संस्कृत वाङ्मय में पुराण ग्रन्थों को वेद के समान सम्मान प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद नामक चार वैदिक संहिताओं के सम्पादन के

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साथ-साथ कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने **पुराण - संहिता** नामक जिस विशिष्ट वाङ्मय का संकलन किया है वह लोक में चिरकाल से प्रसिद्ध आरव्यानों से मण्डित वाङ्मय है। **पुराण** नामक इस वाङ्मय का अध्ययन भी वेदाध्ययन के समान ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में नारद ने गुरु सनत् कुमार के समक्ष अपने अधीत वाङ्मय का परिचय देते हुए चारों वेदों के अध्ययन की चर्चा के साथ-साथ **इतिहास - पुराण** नामक पञ्चम वेद के अध्ययन की सूचना दी है [1]। इस प्रसंग में पुराण संहिता को वेदों का सार बताया गया है। अत एव पुराण संहिता को पञ्चम वेद के रूप में ख्यापित किया गया है [2]। यह ध्यातव्य है कि पुराण के साथ इतिहास ग्रन्थों को भी सम्मान प्रदान करते हुए, उन इतिहास ग्रन्थों को भी इसके साथ जोड़कर **इतिहास-पुराण** को पञ्चम वेद निरूपित किया गया है। वेदव्यास ने इस **इतिहास-पुराण** नामक पञ्चम वेद को विभक्त कर **महाभारत** नामक इतिहास ग्रन्थ और अष्टादश खण्डात्मक **पुराण - संहिता** का प्रणयन किया है। इसे पञ्चम वेद की संज्ञा इसकी वेदानुगामिता को स्पष्ट झलकाती है।

पुराण ग्रन्थों का वेद विवेचकत्व - पुराणों की रचना का मुख्य उद्देश्य ही वेद निरूपित शिक्षा का विवेचन रहा है। पुराणों की इस वेद-विवेचकता का निर्देश स्वयं वेदव्यास द्वारा महाभारत के आदिपर्व के प्रारम्भ में **इतिहास-पुराण** ग्रन्थों की रचना की आवश्यकता बताते हुए किया गया

---

1. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमम्, वेदानां वेदं, पित्र्यं राशिं ... एतत् भगवोऽध्येमि।

   छान्दोग्योपनिषद - 7/1/2

2. नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद अथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः।

   छान्दोग्योपनिषद् - 7/1/4

   वाग्वा नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमम्।

   छान्दोग्योपनिषद् - 7/2/1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। वेदव्यास ने कहा है कि **इतिहास-पुराण** ग्रन्थों के माध्यम से वेद प्रतिपादित तथ्यों का उपबृंहण (विस्तार) करना चाहिए। क्योंकि केवल वेद-मन्त्र भाग के अध्ययन से वेद प्रतिपादित उपदेशों का समुचित परिचय नहीं होता। इस प्रसङ्ग में वेदव्यास का कथन है कि **अल्प-श्रुत अर्थात् केवल वेद-मन्त्र का अध्ययन करने वाले व्यक्ति से वेद डरता है कि यह अल्प-श्रुत व्यक्ति मेरा विनाश कर देगा**[1]। इसीलिए वेद-निरूपित उपदेशों के सम्यक् परिचय के लिए वेदार्थविवेचक पुराणादि ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। लोक में हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि केवल वेद मन्त्र कै बारम्बार उच्चारण करने मात्र से वेद-निर्दिष्ट कर्त्तव्य के विषय में मन पर समुचित प्रभाव नहीं पड़ता है। इस कार्य की पूर्ति पौराणिक आख्यानों के अध्ययन से ही सम्भव है। उदारणार्थ वेद में निरूपित **सत्यं वद। धर्मं चर**[2]। इस उपदेश वाक्य का करोड़ों बार उच्चारण करने पर भी मन पर वह प्रभाव नहीं पड़ता जो प्रभाव पुराण ग्रन्थों में प्रस्तुत सत्यवादी हरिश्चन्द्र आदि महापुरुषों के आख्यानों का एक बार अध्ययन करने से पड़ता है।

वेद के अर्थ के उपबृंहण के लिए **इतिहास-पुराण** ग्रन्थों के साथ-साथ विभिन्न स्मृति-ग्रन्थों की रचना भी की गई है। इस वेदार्थ विवेचक ग्रन्थ-भण्डार की विशालता अपरिमेय है। इस अपरिमेय वेद-विवेचक ग्रन्थ-राशि में पौराणिक वाङ्मय का विशिष्ट स्थान है। क्योंकि इतिहास ग्रन्थों में ऐतिहासिक घटना क्रमों का प्राधान्य रहता है, जिसमें वेदार्थ विवेचन को अपेक्षित महत्त्व नहीं मिल पाता तथा स्मृति-ग्रन्थों में वेद के समान संक्षिप्त कर्त्तव्यों का उपदेश होने के कारण विशद विवेचन का अभाव रहता है, किन्तु पौराणिक वाङ्मय का स्वरूप

---

1. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

महाभारत 1/1/...

2. तैत्तिरियोपनिषद्-11/1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आख्यानोपाख्यानात्मक होता है, जिसमें सोद्देश्य वेद में विशिष्ट उद्देश्य का उपबृंहण किया गया है। पुराण ग्रन्थों की इस विशेषता को परिलक्षित करते हुए वेदव्यास ने महाभारत के आदिपर्व में लिखा है कि वेद निरूपित तथ्यों के प्रकाशन में पौराणिक वांङ्मय पूर्णिमा के चन्द्र सदृश है। नभ-मण्डल में अगणित तारागण हैं किन्तु शीतल, सुखद और आह्लादक प्रकाश के विस्तार में चन्द्रमा अतुलनीय है और पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्र तो प्रकाश विस्तार में सर्वोत्तम उपमान माना जाता है। इस उपमा को ध्यान में रखकर वेदव्यास ने वेदार्थ के प्रकाशन में पौराणिक वाङ्मय को पूर्ण चन्द्र की संज्ञा प्रदान की है। अत एव वेदव्यास का कथन है कि वेद की ज्योत्स्ना पुराणरूपी पूर्ण चन्द्र के द्वारा प्रकाशित हो रही है[1]।

वेदव्यास ने वेदार्थ के विवेचन के लिए पुराण संहिता के प्रणयन हेतु चार उपादान ग्रहण किये हैं। उनके नाम-आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्प-शुद्धि बताये गये हैं[2]। **आख्यान** से अभिप्राय लोक में प्रसिद्ध व्यक्ति का चरित्र है, संक्षिप्त चरित्र को **उपाख्यान** नाम से जाना जाता है, संक्षिप्त लोक-गीत को **गाथा** नाम से अभिहित किया गया है तथा **कल्प-शुद्धि** (कल्पजोक्ति) के अन्तर्गत विभिन्न कल्पों में उत्पन्न होने वाले विषयों का निरूपण किया जाता है। यह कल्पजोक्ति भी एक प्रकार से ऐतिहासिक घटना विशेष है, जो कि बहुत समय पूर्व घटित हुई है, कल्पान्तर की घटना को कल्प -शुद्धि अथवा कल्पोक्ति कहा जाता है। इसके अतिरिक्त पौराणिक संहिता के तीन अन्य उपादान - **आख्यान, उपाख्यान और गाथा** का सम्बन्ध वर्तमान कल्प से है। ये चारों ही तत्त्व ऐतिहासिक घटना विशेष को चित्रित करते हैं। पुराण संहिता के

---

1. पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्ना: प्रकाशिता:।

महाभारत -1/1/86

2. आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभि: कल्पशुद्धिभि:।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारद:।।

विष्णु पुराण -3/6/15

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्पादन के प्रसङ्ग में वेद-व्यास के इन चार उपादानों का प्रयोग वेद-मन्त्र में निर्दिष्ट विशिष्ट उपदेश के विवेचन के लिए क्रमबद्ध रूप से किया है। पुराण संहिता के सम्पादन में मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्व वेदार्थ विवेचन है। किसी मन्त्र विशेष के विवेचन के लिए अपेक्षित आख्यानोपाख्यान एकत्रित कर प्रस्तुत किये जाते हैं। इन आख्यानादि पुराण संहिता के उपादानों द्वारा वेदार्थ के विवेचन को रुचिकर बनाया गया है।

वेदार्थ विवेचन में पौराणिक आख्यानों का योग - वैदिक वाङ्मय में मानव-जीवन की समुन्नति के लिए सूत्र-रूप में विभिन्न उपदेश दिये गये हैं तथा किन्हीं स्थानों पर व्यक्ति विशेष का नामोल्लेख भी प्राप्त होता है। ये नाम निर्देश विशृंखलित रूप से उपलब्ध होते हैं। पुराण ग्रन्थों में इन वेद निरूपित तथ्यों को शृंखला-बद्ध कर एक आकर्षक रूप प्रदान किया गया है। हरिश्चन्द्र का आख्यान इसका श्रेष्ठतम उदाहरण कहा जा सकता है। हरिश्चन्द्र के पूर्वजों का नामोल्लेख वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। हरिश्चन्द्र के पितामह **त्रय्यारुण** नामक ऋषि के रूप में विख्यात थे। उनके द्वारा दृष्ट मन्त्रों को ऋग्वेद के पञ्चम और नवम मण्डल के सूक्तों में स्थान मिला है[1]। **त्रय्यारुण** ऋषि के पुत्र का नाम सत्यव्रत था, जो कि त्रिशङ्कु नाम से भी निर्दिष्ट किया गया है। वायु-पुराण का कथन है कि सत्यव्रत ने सदाचार का तीन बार उल्लंघन किया, इसी कारण वह त्रिशङ्कु नाम से ख्यात हुआ[2]। हरिश्चन्द्र इसी त्रिशङ्कु राजा का पुत्र था। अत एव हरिश्चन्द्र को **त्रैशङ्कव** नाम से भी जाना जाता है। त्रैशङ्कव नाम से अभिहित राजा **हरिश्चन्द्र** के नाम के

---

1. ऋग्वेद -5/27/1-6, ऋग्वेद - 9/110/1-12

2. पितुश्चापरितोषेण गुरोर्दोग्ध्रीवधेन च।
अप्रोक्षितोपयोगाच्च त्रिविधस्ते व्यतिक्रमः॥
एवं स त्रीणि शङ्कूनि दृष्ट्वा तस्य महातपाः॥
त्रिशङ्कुरिति होवाच त्रिशङ्कुस्तेन स स्मृतः॥

वायु-पुराण-88/108-109

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विषय में वैदिक वाङ्मय के साथ-साथ पुराण-ग्रन्थों और महाभारत में विस्तार से उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में **हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः**[1] इत्यादि उल्लेख मिलता है। किन्तु ऋग्वेदीय मन्त्र में निर्दिष्ट **हरिश्चन्द्र** के विषय में स्पष्ट संकेत न होने के कारण उनके विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं होती है कि यह **हरिश्चन्द्र** कौन थे? तथा इस मन्त्र में उनके नाम की चर्चा करने की क्यों आवश्यकता पड़ी? वैदिक वाङ्मय की इस विशृंखलता को दूर करने के लिए पौराणिक वाङ्मय में त्रिशङ्कु-पुत्र हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता और कर्त्तव्यनिष्ठता के गुणों को प्रकाशित करने वाला एक विशद आख्यान प्रस्तुत किया गया। इस आख्यान के द्वारा हरिश्चन्द्र के व्यक्तित्व की महत्ता का परिचय प्राप्त होने के साथ-साथ वेद में प्रस्तुत **सत्यं वद। धर्मं चर**[2]। उपदेश का समुचित विवेचन भी प्रस्तुत हो सका है।

पुराणों में प्रस्तुत हरिश्चन्द्र सम्बन्धी आख्यान के अन्तर्गत उसके पूर्वजों का परिचय भी समाहित है। इसके पिता राजा सत्यव्रत को त्रिशङ्कु नाम से लोक में प्रसिद्धि प्राप्त हुई। राजा सत्यव्रत ने पिता **त्रय्यारुण** की आज्ञा का उल्लंघन किया, गुरु की गाय का वध किया और अप्रक्षालित माँस का उपयोग किया। इन तीन अपराधों के कारण वह त्रिशङ्कु नाम से जाना गया। ये तीनों अपराध उसे शङ्कु के समान चुभते थे, इनके प्रायश्चित्त के लिए वह अनेक धार्मिक अनुष्ठान कर चुका था तथा जब गुरु वशिष्ठ के पास उसकी प्रार्थना स्वीकृत न हो सकी, तब वह गुरु के तिरस्कार का पात्र बना। वंश-परम्परा से आचार्यत्व करने वाले गुरु द्वारा अपमानित होकर त्रिशङ्कु ने यज्ञानुष्ठान किया किन्तु क्रोधित गुरु ने उसे यज्ञ के फल से त्रिशङ्कु को वञ्चित कर दिया, तब आचार्य-पीठ पर आसीन विश्वामित्र ने राजा त्रिशङ्कु को शरीर सहित स्वर्ग में भेजने का असफल उद्योग किया। हरिश्चन्द्र

---

1. ऋग्वेद - 9/66/26
2. तैत्तिरियोपनिषद् - 11/1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आख्यान के अन्तर्गत वर्णित राजा सत्यव्रत (त्रिशङ्कु) और वशिष्ठ के व्यवहारों को निरूपित करते हुए पौराणिक वाङ्मय में जो विशद उपदेश प्रदान किया गया है, वह वेद-निरूपित तथ्य का विवेचन ही है। अपराध की संज्ञा शङ्कु बताना पुराणकारों की चेतना का प्रतिफल है। इस त्रिशङ्कु चरित्र से यह शिक्षा मिलती है कि पिता की आज्ञा का उलंघन नहीं करना चाहिए, गुरु के हित में बाधक नहीं बनना चाहिए तथा किसी भी वस्तु को प्रक्षालित कर के ही ग्रहण करना चाहिए।

पुराणों में प्रस्तुत हरिश्चन्द्राख्यान के अन्तर्गत हरिश्चन्द्र का वंश-परिचय और उसके कर्त्तव्य का निर्देश करने की दृष्टि से प्रस्तुत सत्यव्रत (त्रिशङ्कु) के जीवन चरित्र द्वारा वेद में निर्दिष्ट अकरणीय कर्मों का ज्ञान कराया गया है। इसके अनन्तर मुख्य पात्र हरिश्चन्द्र के जीवन की घटनाओं को वर्णित करते हुए वेद-निर्दिष्ट सत्य-भाषण आदि कर्त्तव्य कर्मों का उपदेश दिया गया है। विभिन्न पुराणों में राजा हरिश्चन्द्र द्वारा भीषणतम प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने कर्त्तव्य से च्युत न होने की घटना का विशद वर्णन प्राप्त होता है। राजा हरिश्चन्द्र को दानवीर के रूप में भी अनेक स्थानों पर चित्रित किया गया है। महाभारत के सभा-पर्व में वर्णन मिलता है कि राजा हरिश्चन्द्र को राजर्षि उशीनर की कन्या सत्यवती ने स्वयंवर में पति के रूप में चुना था। सत्यवती शिवि-राज्य की नगरी से सम्बन्ध होने के कारण शैव्या कहलाती थी। राजा हरिश्चन्द्र के समान उसकी पत्नी सत्यवती भी उच्च आदर्श से सम्पन्न थी। राजा हरिश्चन्द्र ने एक विशिष्ट राजसूय-यज्ञ किया था, जिसमें उन्होंने ब्राह्मणों को मुँह माँगे धन से भी पाँच गुना अधिक दान दिया था [1]। राजा हरिश्चन्द्र के चरित्र चित्रण में सप्तद्वीपा वसुमती पर विजय प्राप्त करने तथा सम्राट् की उपाधि धारण करने का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु इन सब वर्णनों की अपेक्षा राजा हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता को प्रकाशित करने की घटना का चित्रण सर्वाधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ।

---

1. द्रष्टव्य महाभारत (सभापर्व) अध्याय-12

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वस्तुतः हरिश्चन्द्रोपाख्यान की प्रस्तुति का उद्देश्य भी सत्य-भाषण के महत्त्व को प्रकट करना रहा है। वेद-निर्दिष्ट **सत्यं वद** का उपदेश ही हरिश्चन्द्राख्यान का बीज कहा जा सकता है। इस संक्षिप्त विचार-बीज को पुराणों में जिस सफल वृक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है, उससे सभी समीक्षक विद्वान् और सामान्य जन परिचित हैं।

भारतीय संस्कृति का प्रधान तत्त्व **त्याग** नाम से विख्यात है। **ईशावास्योपनिषद्**[1] में जिस त्यागमय जीवन का उपदेश दिया गया है, उसका सौदाहरण विवेचन हमें विभिन्न पौराणिक आख्यानों में प्राप्त होता है। त्याग के प्रसङ्ग में दधीचि को आदर्श त्यागी के रूप में चित्रित किया गया है। यद्यपि दधीचि नामक व्यक्ति का उल्लेख ऋग्वेद[2] में भी आया है। वहाँ दधीचि के नामोल्लेख के साथ इस व्यक्ति के परिचय के रूप में कोई भी सूचना नहीं मिलती है। दधीचिं कौन थे? और उनका क्या महत्त्व था? इत्यादि प्रश्नों का समाधान वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से नहीं मिल पाता। दधीचि नामक इस महापुरुष का परिचय तथा त्यागमय भारतीय जीवन पद्धति के महत्त्व को समझने के लिए पुराणों में वर्णित दधीचि का आख्यान पर्याप्त सहायक है, जिसमें जिज्ञासुओं की जिज्ञासा के समाधान के लिए विषय-वस्तु उपलब्ध कराई गई है। विभिन्न पुराणों में दधीचि के त्याग का गुण-गान विभिन्न सम्वादों के माध्यम से प्रस्तुत हुआ है। दधीचि आख्यान में बताया गया है कि वृत्रासुर से पीड़ित देवताओं की रक्षा के लिए वृत्रासुर को मारने में समर्थ विशिष्ट अस्त्र के निर्माण हेतु महर्षि दधीचि ने अपनी अस्थियों का दान देवराज इन्द्र को किया। यह अस्थिदान स्वाभाविक मृत्यु के पश्चात् क्रियान्वित होने वाला दान नहीं था, अपितु अस्थिदान करने वाला वह महापुरुष तुरन्त मृत्यु को

---

1. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
यजुर्वेद - 40/1 ईशावास्योपनिषद् - 1/1

2. ... दधीचे मातरिश्वने
ऋग्वेद - 10/48/2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वरण करने के लिए सन्नद्ध हो गया और अपने शरीर की हड्डियों से वृत्रासुर-वधकारी अस्त्र के निर्माण की अपेक्षा की पूर्ति कर जन-हित का मार्ग प्रशस्त किया। वास्तव में त्यागमय भारतीय संस्कृति के स्पष्ट परिचय के लिए वैदिक वाङ्मय के साथ-साथ वेदानुगामी इस पौराणिक वाङ्मय का अध्ययन भी परमावश्यक है। इसके अभाव में ईशावास्योपनिषद् में निर्दिष्ट त्यागमय जीवन का उपदेश हृदयङ्गम नहीं हो पाता। बहुजन-हित में महर्षि दधीचि ने अपने प्राणों को न्यौछावर कर दिया। यह आख्यान त्याग विषयक वेद की धारणाओं को विशद रूप से विवेचित करने में समर्थ है।

हरिश्चन्द्राख्यान और दधीच्याख्यान के समान विशालकाय समस्त पुराण ग्रन्थ वेद निर्दिष्ट उपदेश के उपबृंहण के उद्देश्य से ही रचे गये हैं। श्रीकृष्ण के चरित्र का विस्तृत आख्यान विभिन्न पुराणों में विभिन्न रूपों में वर्णित हुआ है। श्रीमद्भागवत महापुराण और गर्ग-संहिता नामक ग्रन्थों में कृष्ण का चरित्र ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रबन्धव्यापी कृष्णाख्यान का बीज हमें वैदिक संहिताओं में प्राप्त होता है। महाभारत के टीकाकार आचार्य नीलकण्ठ ने मन्त्र-भागवत नामक ग्रन्थ की रचना द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि भागवत महापुराण में वर्णित श्रीकृष्ण का चरित्र बीज के रूप में वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध है। इसी प्रकार आचार्य नीलकण्ठ ने वेदों में राम चरित्र के बीज ढूँढ कर **मन्त्र-रामायण** की रचना की। इस प्रकार के अनुसंधानात्मक ग्रन्थों के प्रणयन द्वारा विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि विशालकाय **पुराण** ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित चरित्र विशेष के बीज वैदिक संहिताओं में उपलब्ध होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि वेद में निर्दिष्ट उन सूक्ष्म कथा निर्देशों और कर्त्तव्योपदेशों के समुचित विश्लेषणार्थ पौराणिक वाङ्मय की रचना की गई है। पौराणिक वाङ्मय वेदार्थ के उपबृंहण में सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है।

सत्यवादी हरिश्चन्द्र, बहुजनहितार्थी स्वप्राणसमर्पक दानवीर आदर्श-त्यागी दधीचि, मर्यादा प्रतिपालक दाशरथि राम और दुष्ट दमनकारी

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सज्जनोपकारी रागद्वेष-विनिर्मुक्त श्रीकृष्ण आदि अनेक महापुरुषों के जीवन के सम्बन्ध में विस्तार से पौराणिक वाङ्मय में चर्चा की गई है। श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थ तो विशिष्ट महापुरुष के सम्पूर्ण जीवन चरित्र का वर्णन करने के लिए समर्पित हैं। पौराणिक वाङ्मय में चित्रित इन महापुरुषों के जीवन-वृत्त का उद्देश्य किसी इतिहास की घटना मात्र का वर्णन करना नहीं था, यह बात पुराणों के प्रणयन के उद्देश्य का निर्देश करते समय पहले ही इङ्गित की गई है। पुराणों में इन महापुरुषों के जीवन-वर्णन को आख्यान की संज्ञा दी गई है। आख्यान को आख्यायिका के नाम से भी जाना जाता है। शिक्षा के प्रसङ्ग में आख्यान और आख्यायिका का महत्त्व वर्तमान शिक्षा-शास्त्री डिम-डिम घोष के साथ प्रचारित करते हैं। शिक्षा-शास्त्रियों का सर्व-सम्मत विचार है कि कठिन से कठिन बात को आख्यायिका प्रक्रिया के द्वारा बालकों के कोमल मस्तिष्क में सरलता से स्थापित किया जा सकता है। आख्यायिका-प्रक्रिया द्वारा प्रदत्त शिक्षा के पल्लवन के क्षेत्र में पौराणिक वाङ्मय का सर्वाधिक महत्त्व सभी सुधीजन स्वीकार करते हैं। सम्पूर्ण पौराणिक वाङ्मय का स्वरूप आख्यानप्रधान है। विभिन्न पुराणों में वक्ता और श्रोता के रूप में सूत और शौनक आदि ऋषियों का नामोल्लेख मिलता है। विभिन्न कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में जिज्ञासा के अनुसार वक्ता किसी विशेष आख्यान को प्रस्तुत करता है, किसी व्यक्ति के विशद जीवन चरित्र-चित्रण को आख्यान संज्ञा से विभूषित किया जाता है। जीवन की विशेष घटना के परिचायक कथानक को **उपाख्यान** नाम से कहा गया है। यह आख्यान और उपाख्यान दोनों ही शिक्षा की **आख्यायिका** प्रक्रिया के अङ्ग हैं। पुराणों में आख्यान और उपाख्यानों की प्रस्तुति का उद्देश्य वैदिक शिक्षा को आख्यायिका प्रक्रिया द्वारा जन साधारण तक पहुँचाना रहा है।

वेदार्थ विवेचन में पौराणिकोपाख्यानों का योग - पुराण-संहिता के निमार्ण के लिए आख्यान के अतिरिक्त उपाख्यान, गाथा और कल्प-शुद्धि संज्ञक जो तीन अन्य उपादान ग्रहण किये गये हैं, वे भी वैदिक शिक्षा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के उपबृंहण में सहायक हैं। आख्यान का विषय अपने द्वारा दृष्ट घटना होती है, उपाख्यान का विषय श्रुत परम्परा से ज्ञात महत्त्वपूर्ण घटनाएँ होती हैं। आख्यानोपाख्यान का अन्तर समझाते हुए विद्वानों ने बताया है कि **दृष्टार्थ-कथन** आख्यान है और **श्रुतार्थ कथन** उपाख्यान [1]। यदि श्रुति परम्परा से प्राप्त कोई घटना लोक में विशेष आदर का विषय बन जाये तथा लोग गा कर उस घटना को बार-बार प्रस्तुत करें, वह कथन **गाथा** नाम से अभिहित किया जाता है। अत्यन्त प्राचीन अथवा कल्पान्तर की महत्त्वपूर्ण घटना का स्मरण कल्प-शुद्धि के नाम से जाना जाता है। इनमें उपाख्यान का स्वरूप आख्यान से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। अपने द्वारा द्रष्ट न होकर श्रुति परम्परा से ज्ञात होना मात्र ही आख्यान से इसका भेद निरूपित करता है। वैसे आख्यान और उपाख्यान दोनों ही आख्यायिका प्रक्रिया में अङ्ग माने गये हैं।

पौराणिक वाङ्मय में नचिकेतोपाख्यान विशेष महत्त्वपूर्ण है। छान्दोग्योपनिषद् में मृत्यु-तत्त्व और संसार की नश्वरता के प्रतिपादनार्थ वर्णित नचिकेता का वृत्तान्त भारतीय चिन्तन परम्परा का गम्भीर पक्ष प्रस्तुत करता है। इस औपनिषदिक चिन्तन को पौराणिक वाङ्मय में प्रस्तुत नचिकेतोपाख्यान ने सर्वजन बोध्य और चित्ताकर्षक स्वरूप प्रदान किया है। विभिन्न विद्वानों के मतानुसार पौराणिक वाङ्मय में प्रस्तुत रामोपाख्यान तथा ययात्युपाख्यान के भी बीज वैदिक वाङ्मय में विद्यमान हैं। विभिन्न पुराणों ने इन उपाख्यानों के द्वारा वैदिक वाङ्मय में बीज रूप में प्रस्तुत तथ्यों का यथोचित विवेचन करते हुए आदर्श जीवन पद्धति की शिक्षा प्रदान की है। इस प्रकार आख्यान के समान पुराण संहिता के द्वितीय उपादान स्वरूप उपाख्यान का भी वैदिक शिक्षा के विवेचन में महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है।

---

1. स्वयं दृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानकं बुधाः।
श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते ॥ पुराणविमर्श-पृ.-66

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेदार्थ विवेचन में पौराणिक गाथाओं का योग - पुराणों में उपलब्ध **गाथा** वैदिक वाङ्मय की अनुकृति को प्रकट करती है। वेद-ब्राह्मण और उपनिषद् साहित्य में भी **गाथाएँ** उपलब्ध होती हैं। जिन पद्यों की रचना करने वाले व्यक्ति का नाम ज्ञात न हो तथा जो किसी सम्मानित भू-पति की स्तुति को प्रकाशित करते हो, उन पद्यों को वैदिक वाङ्मय में भी **गाथा** के नाम से अभिहित किया गया है। पौराणिक वाङ्मय में प्रस्तुत गाथाएँ विशेषकर राज-वर्णन के प्रसङ्ग में उद्धृत की गई हैं। **गाथा** रूप में प्रस्तुत इन राज-स्तुतियों के प्रकाशन से किन्हीं महापुरुषों के द्वारा अनुष्ठित कार्यों के अनुसरण की शिक्षा मिलती है। महापुरुषों द्वारा सम्पादित इन महनीय कार्यों का सम्बन्ध प्रकारान्तर से वेद-निर्दिष्ट कर्त्तव्य मार्ग से अवश्य होता है। पुराणों में प्रस्तुत गाथाओं का मूल वैदिक वाङ्मय में भी उपलब्ध है। श्रीमद्भागवत महापुराण के नवम स्कन्ध में पाँच गाथाएँ प्रस्तुत की गई हैं [1]। ये पाँच गाथाएँ शब्द भेद से ऐतरेयब्रह्मण की अष्टम पञ्चिका (वेद अध्याय) में उपलब्ध है [2]। जिनमें ऐन्द्र महाभिषेक के प्रसङ्ग में प्राचीन चक्रवर्ती राजाओं के राज्याभिषेक का तथा उनक द्वारा सम्पादित यागों का विशिष्ट विवरण दिया गया है। पौराणिक वाङ्मय के समान महाभारत में भी इस प्रकार की गाथाओं का प्रचुर प्रयोग मिलता है। वनपर्व में गाथाओं की उपलब्धि विशेष रूप से

---

1. मामतेयं पुरोधाय यमुनायामनु प्रभुः ॥
अष्टसप्ततिमेध्याश्वान् बबन्ध प्रददद्वसुः ।
भरतस्य हि दौष्यन्तेरग्निः साचीगुणे चितः ॥
सहस्रं बहुशो यस्मिन् ब्राह्मणा गा विभेजिरे ।
त्रयस्त्रिंशच्छत ह्यश्वान् बद्ध्वा विस्मापयन् नृपान् ॥
दौष्यन्तिरत्यगान्माया देवानां गुरुमाययौ ।
मृगाञ्छुक्लदतः कृष्णान् हिरण्येन परीवृतान् ॥
अदात् कर्मणि मघ्ण्यारे नियुतानि चतुर्दश ।

श्रीमद्भागवत महापुराण - 9/20 25 28

2. द्रष्टव्य-तदप्येते श्लोका अभिगीताः।

(ऐतेरय ब्राह्मण अ-39)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होती है। जिनमें से **पितृ-गाथा** से सम्बन्धित दृष्टान्त महत्त्वपूर्ण हैं, जिसमें बताया गया है कि श्राद्ध सम्पादन, अश्वमेघ यज्ञ के आयोजन अथवा नील वृषभ के उत्सर्ग द्वारा मोक्ष प्राप्ति में सहायक होने के कारण पुत्र को प्राप्त करने की कामना की जाती है[1]। इस **गाथा** में जिन तीन कर्मों का निर्देश दिया गया है, वे वेद-निहित कर्त्तव्यों की शिक्षा देते हैं। इसके साथ ही साथ प्रत्येक व्यक्ति को अपने पितरों और पूर्वजों के उद्धार के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए, इस कर्त्तव्य का भी निर्देश वनपर्व में वर्णित **पितृ-गाथा** से प्राप्त होता है, जो कि वेद-प्रदत्त शिक्षा का उपबृंहण है।

महाभारत के वन-पर्व में राजा ययाति द्वारा अपने जीवन का अनुभव एक प्रख्यात गाथा के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। इस गाथा में बताया गया है कि कामनाएँ काम्य वस्तुओं के उपभोग से शान्त नहीं होती हैं, अपितु जिस प्रकार अग्नि में आहुति देने पर वह अग्नि वृद्धिगत होती है, उसी प्रकार काम्य वस्तुओं के उपभोग से कामनाएँ वृद्धिगत होती हैं। ययाति द्वारा प्रणीत **न जातु कामः कामानामुप...**[2] यह गाथा विश्वपटल पर होने वाले सर्वजन-व्यवहार को प्रकाशित करती हुई वेद-निर्दिष्ट कामना-त्याग की प्रेरणा प्रदान करती है।

वेदार्थ विवेचन में पौराणिक कल्पशुद्धि का योग - आख्यान-उपाख्यान और गाथा के समान पौराणिक संहिता के चतुर्थ उपादान **कल्पशुद्धि** का भी सम्बन्ध वैदिक शिक्षा के उपबृंहण से है। इस शब्द के तात्पर्यार्थ का निर्णय अत्यन्त दुष्कर है, क्योंकि विभिन्न विद्वानों के मतों में पर्याप्त

---

1. एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत॥
महाभारत (वनपर्व) - 84/97

2. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एव विवर्धते॥
महाभारत (वनपर्व)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भिन्नता पाई जाती है। श्रीधर स्वामी ने **कल्प-शुद्धि** का अर्थ श्राद्ध-कल्प किया है तथा वेदों के वैज्ञानिक व्याख्याकार पं. मधुसूदन ओझा तथा उनके अनुयायी महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने कल्प-शुद्धि के अन्तर्गत धर्मशास्त्र का समस्त विषय समाहित माना है। ओझा जी और चतुर्वेदी जी के मतानुसार कल्प शुद्धि शब्द में छः वेदाङ्गों में से एक कल्प नामक वेदाङ्ग का ग्रहण किया गया है, वे इस कल्प नामक वेदाङ्ग में श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, सदाचार तथा संस्कार आदि का अन्तर्भाव मानते हैं। उनके मतानुसार कल्प-शुद्धि का अभिप्राय - मल - शुद्धि, स्पर्श-शुद्धि, अघ-शुद्धि, एनः शुद्धि तथा मनः शुद्धि है[1]। कतिपय विद्वानों ने कल्प-शुद्धि की विवेचना करते हुए श्वेतवाराह प्रभृत्ति कल्पों का निर्देश किया है। उनके मतानुसार श्वेतवाराह आदि कल्पों (समय विशेषों) में उत्पन्न होने वाले विषयों एवं पदार्थों का विवेचन किया गया है। अतः उनका मत है कि पौराणिक वाङ्मय के चतुर्थ उपादान कल्पशुद्धि द्वारा विभिन्न कल्पों में उत्पन्न होने वाले विषयों और पदार्थों के विवेचन द्वारा विश्व को समझने की प्रेरणा प्रदान की गई है। कल्पशुद्धि के अन्तर्गत श्राद्ध-कल्प और धर्म शास्त्रीय विविध विधान का समावेश किया गया है, अर्थात् कल्पशुद्धि नामक यह पुराण संहिता का उपादान जिन धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पादन की शिक्षा प्रदान करता है, उन धार्मिक कर्त्तव्यों का निर्देश सूत्र रूप में वैदिक वाङ्मय में भी उपलब्ध होता है।

पौराणिक वाङ्मय में पुराण संहिता के कल्प - शुद्धि नामक चतुर्थ उपादान की विवेचना प्राप्त नहीं होती। अतः कल्प-शुद्धि के स्पष्टार्थ का निर्णय अत्यन्त दुष्कर है। तथापि वर्तमान युग के मनीषियों ने इस के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि से विचार व्यक्त किये हैं। वस्तुतः मूल पुराण-संहिता का स्वरूप कैसा था, इसका निर्देश मात्र हमें प्राप्त होता है।

---

1. पुराणोत्पत्ति-प्रसङ्ग - पृ. 31
द्रष्टव्य पुराण पत्रिका, जुलाई 1960 पृ. 109 - 111

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वर्तमान में उपलब्ध पौराणिक वाङ्मय मूल पुराण-संहिता का विस्तृत रूप माना जाता है। इसके अनुसार विभिन्न विद्वानों ने मूल पुराण-संहिता के स्वरूप के विषय में गम्भीर चिन्तन किया है। दक्षिण भारत के पौराणिक विद्वान नरसिंह स्वामी ने तीस वर्ष तक पौराणिक वाङ्मय का अनुशीलन करते हुए पुराण संहिता के पुनः प्रणयन का प्रयास किया है। वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण में इसी प्रकार मत्स्य तथा हरिवंश पुराण में बहुत से अध्याय समान रूप से प्रयुक्त हुए हैं। इन पुनरुक्त अध्यायों और श्लोकों का उहापोह करने के अनन्तर चार पाद वाली पुराण संहिता अध्यायों और विषयों की अनुक्रमणिका प्रस्तुत की है[1]। पं. बलदेव उपाध्याय के मतानुसार सर्ग-प्रतिसर्ग-वंश-मन्वन्तर और वंशानुचरित नामक विषयपञ्चक के साथ-साथ पुराणों में धर्मशास्त्रीय विषयों का पर्याप्त उल्लेख किया गया था, इसी कारण आपस्तम्ब धर्म सूत्र में उद्धृत बहुत से वचन भविष्य पुराण तथा अन्य पुराणों में प्राप्त होते हैं। अत एव मूल पुराण संहिता में इन विषयों का समावेश मानना चाहिए। कल्प-शुद्धि शब्द द्वारा जिन छः प्रकार की शुद्धि की चर्चा की गई है, के सब धर्म-शास्त्रीय विषय हैं। कल्प-शुद्धि के अन्तर्गत वर्णित मल-शुद्धि आदि का विषय शिक्षा-शास्त्र का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

पुराण संहिता की रचना के लिए वेद-व्यास द्वारा स्वीकृत आख्यान-उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि के अन्तर्गत प्रस्तुत विभिन्न विषयों के पर्यालोचन से स्पष्ट सिद्ध होता है कि पुराण-संहिता में वेद निर्दिष्ट शिक्षा का उपबृंहण किया गया है। पुराणों में विविध आख्यानोपाख्यानों के द्वारा कर्त्तव्य कर्मों का जो उपदेश दिया गया है, उसे विद्वद्गण मित्रगण के परामर्श के समान मानते हैं। लोक में हम अनुभव करते हैं कि गुरु शिष्य को जिन कर्त्तव्यों के सम्पादन की आज्ञा देता है, उन्हीं कर्त्तव्यों के विषय में मित्र-मण्डली द्वारा परामर्श भी व्यक्ति को प्राप्त

1. जर्नल आफ श्री वेङ्कटेश्वर आरियण्टल इन्स्टीच्यूट, भाग 6 सन् 1945 (तिरुपति से प्रकाशित पृष्ठ 63 से 70 तक)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होता है। कर्त्तव्य की सूची में समानता होते हुए भी गुरु के आदेशात्मक वाक्य और मित्र के परामर्शात्मक कथन में बहुत अन्तर होता है। गुरु शिष्य को कर्त्तव्यों का निर्देश देते समय कोई तर्क देना अपेक्षित नहीं समझता किन्तु मित्र द्वारा दिये जाने वाले परामर्श में तर्कों का पर्याप्त समावेश होता है। मित्र-मण्डली द्वारा परामर्श के समय बहुधा उदाहरण द्वारा कर्त्तव्य के लाभ और अकर्त्तव्य के सम्पादन से हानि का निर्देश भी किया जाता है। इसी प्रकार पौराणिक वाङ्मय में भी अनेक आख्यानोपाख्यानों के प्रयोग से व्यक्ति को कर्त्तव्य की प्रवृत्ति और अकर्त्तव्य मार्ग से निवृत्ति का उपदेश प्राप्त होता है। अत एव पौराणिक वाङ्मय की शिक्षा को मित्रोपदेश अथवा मित्र-परामर्श के समान बताया गया है। इस दृष्टि से वेद-निर्दिष्ट विधि वाक्य, जो कि गुरु-जन की आज्ञा के समान अनुखङ्घनीय होते हुए भी व्यक्ति के लिए चित्ताकर्षक नहीं होते। अनमने भाव से बाध्य होकर व्यक्ति गुरुओं की आज्ञा का पालन करता है, किन्तु मित्रों के परामर्श में तर्कों का समावेश होने के कारण व्यक्ति को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का व्यापक परिचय प्राप्त हो जाता है। लोक-व्यवहार के समान वेदोपदेश और पुराणोपदेश में भी यह अन्तर स्पष्ट झलकता है। वेद में जिन नित्य-कर्मों के सम्पादन की आज्ञा दी गई है, उनका प्रकारान्तर से निर्देश पौराणिक आख्यानों द्वारा प्राप्त होता है। वेद में प्रतिदिन-त्रिकाल सन्ध्या के सम्पादन की विधि का निर्देश तो किया गया है, किन्तु उससे होने वाले लाभ की चर्चा वैदिक वाङ्मय में कहीं भी उपलब्ध नहीं होती है। पौराणिक वाङ्मय में नित्य-नैमित्तिक कर्मों को सम्पन्न करने वाले व्यक्तियों को शुभ-फल की प्राप्ति का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस वर्णन को पढ़ कर व्यक्ति वेद-निर्दिष्ट कर्त्तव्य कर्मों के सम्पादन में सरलता से प्रवृत्त हो जाता है। इस दृष्टि से पौराणिक वाङ्मय को मित्रोपदेश की उपमा देना यथार्थ का उन्मेष है।

समग्र पौराणिक वाङ्मय के पर्यालोचन से विदित होता है कि इस विशाल वाङ्मय में वेद-निरूपित तथ्यों का विविध प्रकार से विस्तृत

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विवेचन किया गया है। अन्य ऋषियों के समान वेद-निर्दिष्ट शिक्षा का भी पौराणिक वाङ्मय में समुचित उपबृंहण उपलब्ध होता है। वेद-निर्दिष्ट शिक्षा को विवेचित करने वाले पौराणिक वाङ्मय में रूपक शैली का आश्रय लिया गया है। इसमें अमूर्त भावों को भी मूर्त रूप में वर्णित किया गया है। शैली की इस विशेषता के कारण पौराणिक वाङ्मय वैदिक शिक्षा के विवेचन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। आख्यानोपाख्यान की प्रस्तुति तथा अमूर्त पदार्थों के मूर्तीकरण के माध्यम से पौराणिक वाङ्मय ने वेद-निर्दिष्ट शिक्षा को एक विशेष आश्रय प्रदान किया है। शैली की विशेषता के कारण पौराणिक वाङ्मय में प्रकाशित वैदिक शिक्षा विशेष रूप से हृदयावर्जक बन पाई है। शैली की भिन्नता के होते हुए भी तथ्यों की दृष्टि से पौराणिक वाङ्मय वैदिक वाङ्मय की प्रतिकृति के समान प्रतीत होता है। चित्ताकर्षकता इस प्रतिकृति की अपनी विशेषता है।

इतिहास ग्रन्थों में वैदिक शिक्षा का उपबृंहण - प्राचीन भारतीय वाङ्मय में **पुराण** संज्ञक ग्रन्थों के समान रामायण और महाभारत को विशिष्ट सम्मान प्राप्त हुआ है। इन दोनों ग्रन्थों को परवर्ती कवियों ने उपजीव्य काव्य के रूप में ग्रहण किया है। ये दोनों ही ग्रन्थ सम्पूर्ण भारतीय काव्य - परम्परा के उद्भावक और मूल-स्रोत माने जाते हैं। काव्य-शास्त्रियों ने इन दोनों ग्रन्थों को इतिहास-ग्रन्थ नाम से अभिहित किया है। महाकाव्य और नाटक के ऐतिहासिक कथावस्तु का वर्णन करने की शिक्षा देते हुए काव्यशास्त्रियों ने इतिहास ग्रन्थों की विविधता का उल्लेख किया है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने इतिहास ग्रन्थों को दो भागों में विभक्त करते हुए स्पष्ट किया है कि प्रथम प्रकार के इतिहास ग्रन्थ में एक नायक से सम्बद्ध कथावस्तु का निरूपण मिलता है तथा द्वितीय कोटि के इतिहास ग्रन्थ में अनेक नायकों से सम्बद्ध कथावस्तु का निरूपण प्राप्त होता है। एक नायक वाली कथावस्तु का नाम **परिक्रिया** बताया गया है तथा बहुनायक वाली कथावस्तु को **पुराकल्प** नाम से

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अभिहित किया गया है [1]। परिक्रिया नामक इतिहास ग्रन्थ का उदाहरण **रामायण** नामक आदि-काव्य माना गया है, जब कि पुराकल्प नामक इतिहास के रूप में वेदव्यास की कृति महाभारत सुप्रसिद्ध है। इन बहुनायक-युक्त कथावस्तु को प्रस्तुत करने वाले इतिहास ग्रन्थो में **गुणाढ्य** द्वारा रचित **बृहत्कथा** आदि परवर्ती रचनाएँ भी उपजीव्य काव्य के रूप में समादृत हुई हैं। इन प्राचीन ग्रन्थों को इतिहास ग्रन्थ के रूप में जाना जाता है। काव्यशास्त्र की दृष्टि से **रामायण और महाभारत** का महाकाव्यत्व और उपजीव-काव्यत्य विख्यात है, किन्तु भारतीय मनीषि इन दोनों महाग्रन्थों को इतिहास-काव्य की संज्ञा प्रदान करते हैं। **रामायण और महाभारत** नामक महाकाव्यों का प्रणयन पुराणों के समान ही वेदार्थ उपबृंहण के लिए किया गया प्रतीत होता है।

रामायण में वैदिक शिक्षा का अनुवर्तन – आदिकवि महर्षि वाल्मीकि द्वारा **रामायण** नामक महाकव्य के प्रणयन का मूलकारण व्याध द्वारा विद्ध मृत क्रौञ्च पक्षी के समीप बैठी हुई क्रौञ्ची द्वारा किये गये बिलाप को सुनकर वाल्मीकि के हृदय में कारुण्यधारा का प्रवाह माना जाता है। इसलिए काव्य-शास्त्रियों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि क्रौञ्च-द्वन्द्व-वियोगोत्थ शोक ही श्लोक रूप में परिणत हुआ [2]। महर्षि वाल्मीकि ने जब अपने पति क्रौञ्च पक्षी के शव के समीप बैठी हुई उस पति-विहीना क्रौञ्ची का अस्पष्टाक्षरमय विलाप सुना तो उन के मुख से आकस्मिक रूप से लौकिक काव्य के प्रथमस्वरूप की प्रकाशिका वाली अनुष्टुप् छन्दोमयी निम्नलिखित वाणी प्रसृत हुई –

---

1. परिक्रिया पुराकल्पः इतिहास-गतिर्द्विधा।
स्यादेक-नायका पूर्वा द्वितीया बहुनायकाः॥
काव्य-मीमांसा

2. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥
ध्वन्यालोक - 1/5

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्[1]॥

महर्षि वाल्मीकि के मुख से अनायास निःसृत यह श्लोक **रामायण** महाकाव्य का बीज मन्त्र माना जाता है। इस स्वाभाविक हृदयद्रवीभाव के कारण समुत्पन्न **रामायण** स्वरूपा बहुविस्तृता विविधविचार-प्रवाहमयी सरिता में वेदों में निरूपित शिक्षा के विविध आयाम समाहित हैं। **राम** के सम्पूर्ण जीवन-चरित्र को चित्रित करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने जन-समुदाय को जिस नैतिक आर्दश की शिक्षा प्रदान की है, वह पूर्णतः वेदनिर्दिष्ट मानवीय गुणों का उपबृंहण ही है। रामायण के अयोध्या-काण्ड में राम के जिस आदर्श चरित्र की चर्चा की गई है, वह वैदिक वाङ्मय में निरूपित मानवीय गुणों तथा मानव-कर्तव्यों का उपबृंहण ही है। जानकीवल्लभ राम के उदात्त भावों की चर्चा करते हुए महर्षि ने दान-वीर, कर्म-वीर, दूसरे से प्रतिग्रह न लेने वाला तथा सत्यभाषी और सत्य-पराक्रमी लोकहितकारी महापुरुष का शब्दचित्र प्रस्तुत किया है[2]।

---

1. रामायण- (बालकाण्ड)- 2/15

2. स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते।
उच्चमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते॥
कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥
शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः।
कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि॥
बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः।
वीर्यवान्न च वीर्येण महत्ता स्वेन विस्मितः॥
न चानृतकथो विद्वान् वृद्धानां प्रतिपूजकः।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते॥

रामायण अयोध्याकाण्ड - 1/10-14

अन्यत्र भी-

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयात् सत्यं ब्रूयान्नानृतम्।
अपि जीवितहेतोर्हि रामः सत्यपराक्रमः॥

रामायण (सुन्दरकाण्ड) - 33/25

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding by IKS MoE Grant-2

राम-गुण वर्णन में **सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्**[1] इत्यादि श्रुति-स्मृति वाक्यों में वर्णित वैदिक शिक्षा का समुपबृंहण स्पष्ट झलकता है।

उपजीव्य काव्य के रूप में प्रतिष्ठित रामायण नामक इतिहास ग्रन्थ जीवन के स्थायी मूल्यों के प्रकाशन द्वारा वैदिक वाङ्मय का समुपबृंहण करती है। काव्य-शास्त्रीय परम्परा को विकसित करते हुए आचार्य अभिनव गुप्त ने **सिद्धरस** के विवेचन में रामायण को वैदिक शिक्षा का उपबृंहण ही बताया है। आचार्य ने आदिकाव्य में वर्णित मानवीय गुणों को झलकाते हुए कहा है कि श्रीरामचन्द्र का नाम सुनते ही प्रजावत्सल नरपति, आज्ञाकारी पुत्र, स्नेही भ्राता, विपदा ग्रस्त मित्रों के सहायक बन्धु का कमनीय चित्र हमारे मानस-पटल के ऊपर अङ्कित हो जाता है। जनकनन्दिनी जानकी का नाम ज्यों हि हमारे श्रवण को रससिक्त बनाता है, त्योंहि हमारे लोचन के सामने अलोकसामान्या पतिव्रता की मंजुल मूर्ति झुलने लगती है। उनके कथन मात्र से हमारा हृदय आनन्द विभोर हो उठता है। चित्त में आनन्द की स्फूर्ति होने के लिए राम के आदर्श चरित्र का अनुशीलन विशिष्ट साधन[1]? हमारा हृदय राम कथा से इतना स्निग्ध, रस-सिक्त अथवा घुल-मिल गया है कि हमारे लिए राम और जानकी किसी अतीत युग की स्मृति न रहकर वर्तमान काल के जीवन्त प्राणी के रूप में परिणत हो गये हैं। इसीलिए रामायण को **सिद्ध रस** काव्य कहा गया है। राम का जीवन वेद निरूपित सत्य-महिमा[2] का निदर्शन है।

---

1. सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

मनुस्मृति - 4/138

2. सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्थां विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा, यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥

मुण्डकोपनिषद् - 1/6

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानवत्व के परिचायक राम के चरित्र का कितना भी विश्लेषण करें, उनके उदात्त गुणों की परिसीमा का निर्धारण करना असम्भव सा जान पड़ता है। उनका एकपत्नीव्रतित्व प्राचीन भारतीय गृहस्थियों की जीवनचर्या का प्रतिबिम्ब बनकर मानव समुदाय को गृहस्थ-धर्म के अनुपालनार्थ आचार संहिता का उपदेश प्रदान करता है। जैसे कि **सुन्दर-काण्ड** के एक स्थल पर श्रीराम के आदर्श पति के स्वरूप का चित्रण करते समय जन-समुदाय को शिक्षित करते हुए दर्शाया गया है कि आदर्श पति के रूप में सीता के प्रति राम का सन्ताप चतुर्मुखी है। वे स्त्री के नाश होने से कारुण्य से सन्तप्त हैं। आश्रित जन के नाश से दया के कारण, पत्नी (यज्ञ में सहधर्मचारिणी) के नाश से शोक के कारण तथा प्रिया के नाश से प्रेम के कारण वे सन्तप्त हो रहे हैं[1]। शक्ति-बाण लगने से मूर्छित हुए लक्ष्मण के प्रति अपने हृदयगत भ्रातृ-प्रेम के भावों को अभिव्यक्त करते हुए रामायण के पुरुषोत्तम राम कहते हैं **प्रत्येक देश में स्त्रियाँ मिल सकती हैं तथा बन्धुजन भी प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु मैं तो ऐसा देश ही नहीं देखता जहाँ सहोदर भ्राता मिल सके**[2]। इस प्रकार कहा जा सकता है कि रामायण में वर्णित कथा के माध्यम से मानव जीवन के सभी पक्ष विवेचित हुए हैं, जिनका सूत्र रूप में उल्लेख वेद में किया गया है, या यों कहा जा सकता है कि **रामायण महाकाव्य** में चित्रित मानवीय पक्ष वैदिक वाङ्मय का उपबृंहण ही है।

रामायण के अनेक प्रसङ्गों में वेद और वेद की शिक्षा का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। ऋष्यमूक पर्वत पर राम के समक्ष उपस्थित होकर

---

1. स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यतः।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च॥
रामायण (सुन्दरकाण्ड) - 15/50

2. देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हनुमान् के द्वारा अपना और अपने स्वामी वानर-राज सुग्रीव का परिचय दिये जाने की घटना का वर्णन करने के अनन्तर वाल्मीकि ने रामायण के किष्किंधा काण्ड में हनुमान् के कथन की प्रशंसा करने वाले राम की उक्ति के अन्तर्गत वैदिक-वाङ्मय की महत्ता बताई है। हनुमान् की अत्यन्त स्पष्टाक्षर और सर्वथा अपशब्दरहित तथा विविध शास्त्रीय तत्त्वयुक्त वाणी को सुनकर राम ने लक्ष्मण से कहा कि **जिस व्यक्ति ने ऋग्वेद की शिक्षा ग्रहण न की हो, जिसने यजुर्वेद की शिक्षा को धारण न किया हो अथवा जिसने सामवेद के रहस्य को न जाना हो, उस व्यक्ति के द्वारा इस प्रकार की वाणी का प्रयोग सम्भव नहीं है** [1]।

इस प्रसङ्ग में राम ने हनुमान् की उक्ति की विशेषताओं का वर्णन करते हुए वेद निर्दिष्ट मृदुभाषिता और प्रियभाषिता का सम्यक् महत्त्व प्रतिपादित किया है। हनुमान् की इस मृदुभाषिता का वर्णन करते हुए राम ने कहा है कि **इस प्रकार के मृदु-भाषण को सुनकर खड्ग-हस्त व्यक्ति भी प्रहारविमुख हो जाता है और मृदु-भाषी के विचारों का अनुसरण करने लगता है** [2]। वेद में कहीं पर भी मृदुभाषिता अथवा प्रियभाषिता का संक्षेप से ही उपदेश मिलता है, वहाँ उसके महत्त्व अथवा उदाहरण की चर्चा प्राप्त नहीं होती। रामायण में प्रस्तुत यह हनुमान् की वाणी की प्रशंसा के द्वारा वेदनिर्दिष्ट मृदुभाषिता का उचित

---

1. नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम्।
रामायण (किष्किन्धाकाण्ड) - 3/28 - 29

2. संस्कार-क्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि॥
रामायण (किष्किन्धाकाण्ड) - 3/32 - 33

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपबृंहण किया गया है, साथ ही स्पष्ट शब्दों में उल्लेख भी किया गया है कि यह मृदुभाषिता प्रभावशालिनी वक्तृता वेद-त्रयी की शिक्षा को धारण करने से ही हो सकती है। इस प्रसङ्ग में सामवेद की गेयता, संगीतमयता के बोध का महत्त्व प्रतिपादित होता है। हनुमान् की उक्ति की प्रशंसा करते हुए राम ने बताया है कि प्रत्येक वर्ण का उच्चारण करते समय यथोचित स्वर-सन्निवेश और लय-ताल-विराम-यति का ध्यान रखना चाहिए। इस प्रसङ्ग में सामवेद के शिक्षा-ग्रन्थों के अध्ययन का महत्त्व स्पष्ट झलकता है।

रामायण महाकाव्य में परिक्रिया संज्ञक एक नायक कथा-वस्तु को चित्रित करते हुए आदिकवि वाल्मीकि ने विश्व विश्रुत राम-चरित्र को सविस्तार निरूपित किया है। यद्यपि क्रौञ्चं-द्वन्द्व-वियोगोत्थ करुण-रस-धारा प्रवाहित है तथापि वेद-मन्त्रोपदेष्टा महर्षि वाल्मीकि ने इस इतिहास-काव्य में पद-पद पर वैदिकवाङ्मय-प्रदर्शित शिक्षा तथा जीवन मूल्यों को सविस्तार प्रकाशित किया है। इस महाकाव्य में बाल-काण्ड, अयोध्या-काण्ड, अरण्य-काण्ड, किष्किंधा-काण्ड, लंका-काण्ड और उत्तर-काण्ड में राम जीवनं की घटनाओं के चित्रण का प्राधान्य है। किन्तु सुन्दर-काण्ड घटना विशेष के निरूपण के साथ-साथ जीवन-मूल्यों और वेद-प्रदर्शित शिक्षा के निरूपण को विशेष रूप से महत्त्व प्रदान करता है। सम्भवतः इसी कारण अन्य काण्डों के समान इस काण्ड का नाम स्थानविशेष अथवा अवस्थाविशेष के उल्लेख का परिचायक न होकर केवल सुन्दरता का परिचायक है। सुन्दर शब्द मानवीय जीवन के उदात्त स्वरूप और विविध व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों के आदर्श का परिचायक है। शब्द-कोश के अनुसार सुन्दर शब्द के पर्याय के रूप में रुचिर, चारु, सुषम, साधु, शोभन, कान्त, मनोरम, रुच्य, मनोज्ञ, मञ्जु, और मञ्जुल प्रख्यात हैं[1]। सुन्दर नाम से विख्यात रामायण के इस

1. सुन्दरं रूचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम्।
कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोजं मंजु मंजुलम्॥
अमरकोश 3/1/52

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पञ्चम काण्ड में स्वर्णमयी लङ्का के सौन्दर्य का वर्णन करने के साथ-साथ **नारी** का पतिव्रतात्व ही श्रेष्ठतम सौन्दर्य है, इस वेद प्रतिपादित विचार का सम्यक्तया परिपोषण सुन्दर-काण्ड में चर्चित सीता के चरित्र में स्पष्ट रूप से झलकता है।

सुन्दर शब्द की व्युत्पत्ति सु पूर्वक आदरार्थक दृङ् धातु से मानी जाती है। इस प्रकार **सुन्दर** शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- भलीप्रकार आदरणीय। अत एव आदरणीय चरित्र का चित्रण जिस काण्ड में किया गया है, उसे महर्षि वाल्मीकि ने **सुन्दर-काण्ड** के नाम से अभिहित किया है। वस्तुतः 68 सर्गात्मक इस **सुन्दर-काण्ड** में सीता को आदर्श पतिव्रता के रूप में तथा हनुमान् को आदर्श स्वामी-भक्त के रूप में प्रस्तुत करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने राम-कथा के पात्रों में सीता और हनुमान् को परमादरणीय पद प्रदान किया है। समस्त सुन्दर-काण्ड अनेक प्रकार के जीवन-व्यवहार की शिक्षा प्रदान करता है।

पतिव्रत धर्म की मूर्तरूप जनक-नन्दिनी सीता का व्यक्तित्व वैदिक आचार-संहिता का उपबृंहण है, जिसके माध्यम से महर्षि वाल्मीकि ने नारी के सतीत्त्व अंश[1] की सार्थकता को व्यक्त करने का श्लाघनीय प्रयास किया है। सीता के पतिव्रतात्व का चित्रण करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने तिरस्कारात्मक शब्दावली द्वारा रावण को प्रताडित करती हुई सीता द्वारा कहलाया है कि **प्रेम करना तो दूर रहा, मैं तो तुझे अपने पैरों से नहीं, बायें पैर से भी नहीं छू सकती**[2]। सीता की यह अर्थ-पूर्ण उक्ति भारतीय नारी के गौरव को सदा उद्घोषित करती रहेगी।

---

1. भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानरं।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तमम्॥

रामायण (सुन्दर-काण्ड) - 37/62

2. चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्॥

रामायण (सुन्दर-कण्ड) - 26/8

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रावण की मृत्यु द्वारा पाप पर पुण्य की विजय के उपरान्त सीता को पतिव्रता-धर्म की कसौटी पर सामान्य जन-समुदाय के समक्ष तोले जाने सम्बन्धित अनेक कटुवचनों के उत्तर में सीता राम को हृदयस्पर्शी शब्दावली द्वारा उपालभ्भ देती है कि मेरे चरित्र पर लाञ्छन लगाना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है। मेरे निर्बल अंश को आपने पकड़कर आगे किया है, परन्तु मेरे सबल अंश को पीछे धकेल दिया है। नारी का दुर्बल अंश है- उसका स्त्रीत्व और उसका सबल अंश है- उसका पत्नीत्व तथा पतिव्रत। **नर-शार्दूल। आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं, परन्तु क्रोधावेश में आपका यह आचरण साधारण मनुष्यों के सदृश प्रतीत हो रहा है। आपने मेरे स्त्रीत्व को तो दोषारोपण करने के निमित्त आगे किया है, परन्तु आपने इस बात पर थोडा सा भी ध्यान नहीं दिया कि बालक-पन में ही आपने मेरा पाणिग्रहण किया, आपकी मैं शास्त्रानुमोदित धर्म -पत्नी हूँ। मैं आपकी भक्ति करती हूँ तथा मेरा स्वभाव, निश्छल और पवित्र है। आश्चर्य है, आप जैसे नर-शार्दूल ने मेरे स्वभाव, भक्ति, तथा पाणिग्रहण को पीछे धकेल दिया, केवल स्त्रीत्व को आगे रखा**[1], सीता द्वारा कहलाये गये इन शब्दों के पीछे महर्षि वाल्मीकि की यह धारणा रही होगी कि नारी-जीवन में वेदानुप्राणित पतिव्रत धर्म की प्रधानता ही सर्वोपरि है, जिसमें सतीत्व के गुणों का संचार होता है, इसी सतीत्त्व गुण के आधार पर जनक - नन्दिनी सीता ने अग्नि-परीक्षा द्वारा अपने पतिव्रत-धर्म की सार्थकता को सिद्ध किया था। सतीत्व-धर्म के अनुपालन में अग्रणी होने के कारण सीता परमादर की और भारतीय धर्म की प्रति-मूर्ति है। उसका आचरण वेदाचार-संहिता से सम्वेष्टित होने के कारण नारी-समाज के लिए सर्वदा अनुकरणीय है।

---

1. त्वया तु नरशार्दूल क्रोधमेवानुवर्तता।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम्॥
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम्॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सुन्दर-काण्ड के प्रारम्भ में समुद्र-लंघन करने वाले हनुमान् का पर्वतराज हिमालय के पुत्र **मैनाक पर्वत** से सम्पर्क को वाल्मीकि ने बड़े विस्तार से प्रस्तुत किया है तथा इस विस्तृत मैनाक-हनुमत्-संवाद में कृतज्ञता, प्रत्युपकार प्रभृति वेद निरूपित उपदेशों का सम्यक् उपबृंहण किया गया है। स्वयं सागर उस मैनाक पर्वत को हनुमान् की सहायता के लिए प्रेरित करते हुए कहता है कि **मेरी वृद्धि सागर के पुत्रों द्वारा की गई थी, इक्ष्वाकुवंशीय राम के इस दूत की सहायता करना मेरा परम कर्त्तव्य है। यदि मुझ सागर को लांघने वाले इस हनुमान् के विश्राम का प्रबन्ध नहीं करूगाँ, तो लोग मेरी निन्दा करेगें** [1]। मैनाक ने सागर के मनोभाव व्यक्त करते हुए हनुमान् से कहा था कि **इक्ष्वाकुवंशीय राम के दूत आप को सागर ने विश्राम प्रदान करने की भावना से मुझे प्रतिनियुक्त किया है, क्योंकि उपकारी व्यक्ति का हित करना सनातन काल से कर्त्तव्य माना जाता रहा है** [2]।

वेदों में अनेक प्रसङ्गों में धैर्य, विचारशीलता, मननशीलता और दक्षता प्राप्त करने के लिए उपदेश दिया गया है। ये धैर्यादि गुण मानव को कर्म-साफल्य प्रदान करते हैं। इन गुणों की प्राप्ति का महत्त्व बताते हुए महर्षि वाल्मीकि ने **नाग माता सुरसा** के मुख से हनुमान् के प्रति निम्नलिखित वाक्य कहलाया है-

यस्य त्वेतानि चत्वारि वानरेन्द्र यथा तव।
धृतिर्दृष्टिर्मतिर्दाक्ष्यं स कर्मसु न सीदति [3]॥

---

1. साहाय्यं वानरेन्द्रस्य यदि नाहं हनूमतः।
करिष्यामि भविष्यामि सर्ववाच्यो विवक्षताम्॥
रामायण (सुन्दर-काण्ड) - 1/88

2. कृते च प्रतिकर्तव्यमेष धर्मः सनातनः।
सोऽहं तत्प्रतिकारार्थी त्वत्तः सम्मानमर्हति॥
रामायण (सुन्दर-काण्ड) 1/113-114

3. रामायण (सुन्दर-काण्ड)-1/20।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेदों में प्रत्येक कार्य के सम्पादन में साधक तत्त्वों के बहुत्व का उल्लेख किया गया है। सृष्टि रूपी कार्य करने की दृष्टि से एकाकी ब्रह्मा भी बहुत्व को प्राप्त करता है। **एकोऽहं बहुस्याम** इत्यादि महर्षि-कथन साधनों की बहुलता को कार्य-सिद्धि का हेतु प्रतिपादित करते हैं। इसी विचार को पल्लवित करते हुए वाल्मीकि ने **सुन्दर-काण्ड** में हनुमान् की उक्ति द्वारा सीतान्वेषण के अनन्तर अशोक-वाटिका के विध्वंसादि कार्यों को दुष्ट रावण के विनाश में साधक बताया है[1]।

वेद में शत्रु के विनाश के लिए **साम-दाम-भेद-दण्ड** नामक उपायों की चर्चा प्राप्त होती है। सामान्यतः राजनीति का सिद्धान्त है कि किसी भी व्यक्ति को वश में करने के लिए सर्व-प्रथम साम (सान्त्वना) तदनन्तर क्रमशः दाम, भेद और दण्ड नामक उपाय का ग्रहण करना चाहिए। जब **साम-दाम-भेद** नीति से कार्य सिद्ध न हो तब ही दण्ड (बल प्रदर्शन) नीति के मार्ग को अपनाना चाहिए। इस चिरन्तन सिद्धान्त को महर्षि वाल्मीकि ने सुन्दर-काण्ड में हनुमान् की उक्ति के रूप में इस प्रकार व्यक्त किया है-

न साम रक्षःसु गुणाय कल्पते,
न दानमर्थोपचितेषु युज्यते।
न भेदसाध्या बलदर्पिता जनाः,
पराक्रमस्त्वेष ममेह रोचते[2]॥

परदारा-अवरोध महापातक है, इस वेद निरूपित सिद्धान्तं को वाल्मीकि ने विवेचित करते हुए सुन्दर-काण्ड के अन्त में हनुमान् के मुख से रावण के प्रति निम्नलिखित उपदेश का निरूपण किया है-

---

1. न ह्येकः साधको हेतुः स्वल्पस्यापीह कर्मणः।
यो ह्यर्थं बहुधा वेद स समर्थोऽर्थसाधने॥
रामायण (सुन्दर-काण्ड) - 41/6

2. रामायण (सुन्दर-काण्ड) - 41/3

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तद्भवान् दृष्टधर्मार्थस्तपःकृतपरिग्रहः ।
परदारान् महाप्राज्ञ नोपरोद्धुं त्वमर्हसि ॥
नहि धर्मविरुद्धेषु बह्वपायेषु कर्मसु ।
मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः[1] ॥

सुन्दर-काण्ड के समान युद्ध-काण्ड में भी वेद निरूपित विभिन्न कर्त्तव्य कर्मों का प्रसङ्गानुसार वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने हनुमान् के दश गुणों का उल्लेख किया है। हनुमान में सदैव ही तेज, धैर्य, यश, दक्षता सामर्थ्य, विनय, नीति, पौरुष, पराक्रम और विवेक विद्यमान थे। इसी कारण राम के हित-साधन में वे सफल हुए[2]। हनुमान् की कार्य सफलता और उसके दश गुणों के उल्लेख द्वारा वाल्मीकि ने वेद-निरूपित उपदेश और मानवीय गुणों का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार रामायाण के अन्तिम काण्ड **उत्तर-काण्ड** में भी लव और कुश द्वारा विद्या-प्राप्ति का वर्णन करते हुए आदिकवि वाल्मीकि ने वेद निरूपित शिक्षा के समुपबृंहण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। वस्तुतः आदिकवि महर्षि वाल्मीकि की यह परिक्रिया-इतिहासस्वरूपा **रामायण** नाम्नी कृति वैदिक शिक्षा का समुचित पल्लवन करने वाली प्रतीत होती है।

महाभारत में वेदार्थ-समुपबृंहण - वेदव्यास ने वेद-मन्त्र राशि को चतुर्धा विभाजित करने के साथ-साथ वेद निरूपित शिक्षा को सोदाहरण समझाने के लिए अष्टादश पुराणों की तथा महाभारत नामक इतिहास ग्रन्थ की रचना की। पुराण ग्रन्थों के समान महाभारत भी वेदार्थ के समुपबृंहण में महनीय भूमिका का निर्वाह करता है। यद्यपि इस

---

1. रामायण (सुन्दर-काण्ड) - 51/17-18
2. तेजो धृतिर्यशो दाक्ष्यं सामर्थ्यं विनयो नयः ।
पौरुषं विक्रमो बुद्धिर्यस्मिन्नेतानि नित्यदा ॥
रामायण (सुन्दर-काण्ड) - 5/52

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महाकाव्य में पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर आदि के साथ दुर्योधनादि धृतराष्ट्र-पुत्रों का संघर्ष विस्तार से वर्णित है तथापि अनुशासन-पर्व, शान्ति-पर्व आदि में जीवन मूल्यों की विवेचना का प्राधान्य स्पष्ट झलकता है। इसके साथ-साथ इस महाकाव्य के सभी अठारह पर्वों में प्रसङ्गानुसार विविध कर्त्तव्यों का उपदेश दिया गया है। महर्षि वेद-व्यास ने महाभारत में पाण्डु के पाँचों पुत्रों को कथानायक के रूप में वर्णित किया है। बहुनायकवती इस कथा को काव्य-मीमांसाकार राजशेखर ने **पुराकल्प** नाम से अभिहित किया है। नायकों का बहुत्व धारण करने वाली इस महाभारतीय कथावस्तु द्वारा वेद-व्यास ने जीवन के सभी कर्त्तव्यों और अकर्त्तव्यों का निर्देश किया है। जगत् में जो कुछ भी व्यवहार देखने को मिलता है तथा विभिन्न चिन्तकों ने विभिन्न प्रकार से जीवन-व्यवहार का जो विविध रूप निरूपित किया है, वह सब महाभारत में एक ही स्थान पर सञ्चित कर दिया गया है। इसीलिए लोक में प्रसिद्धि है कि

धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्[1]॥

कहने का अभिप्राय यह है कि महाभारत में प्रत्येक वर्ग, अवस्था, जाति का सम्पूर्ण कार्यकलाप चित्रित किया गया है तथा वेद-निरूपित उपदेशों का विभिन्न प्रकार से सपुपबृंहण कर मानव जाति को आचार-विचार और व्यवहार से परिचित कराने का सफल प्रयास किया गया है।

सामान्यतः महाभारत को धृतराष्ट्रों और पाण्डवों के द्वारा **हस्तिनापुर राज्य** के लिए किये गए संघर्ष के इतिहास के रूप में जाना जाता है। इस संघर्ष में धर्म का पक्ष लेने वाले पाण्डवों की विजय का वृत्तान्त वर्णित है। भारतीय सहित्य के समीक्षक विद्वानों की मान्यता के अनुसार महाभारत का प्रथम रूप **जय** नामक काव्य था। इस **जय** नामक काव्य

---

1. महाभारत - 1/56/33

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का बृहद् रूप **भारत**[1] और अधिक विस्तार प्राप्त होने पर **महाभारत**[2] नाम से यह काव्य प्रसिद्ध हुआ। **जय नामेतिहासोऽयम्** ग्रन्थ की इस स्पष्टोक्ति द्वारा विद्वानों की यह मान्यता रही है कि **महाभारत** का नामान्तर **जय** है। इस महाकाव्य में धर्म की जय और अधर्म का विनाश का चित्रण किया गया है धृतराष्ट्रों और पाण्डवों का चरित्र तो उस धर्म-विजय का परिचायक है, जिसका चित्रण इस महाकाव्य में किया गया है। इस **जय** काव्य में वैदिक-वाङ्मय में प्रकाशित परमेश्वर जगन्नियामक नारायण तत्त्व के परिचय के साथ-साथ वेद निरूपित धर्म-मार्ग का विशद व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। महाभारत को धर्म-विजय और परमात्म-परिचय के बोधक के रूप में ख्यापित करने की दृष्टि से इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गल श्लोक के अन्तर्गत नारायण-नर-सरस्वती को नमस्कार करने के अनन्तर **जय** काव्य के अध्ययन का उपदेश दिया गया है[3]।

वैदिक वाङ्मय में धर्म का विशुद्ध व्याख्यान प्रस्तुत है। जैसा कि आचार्य मनु ने मनुस्मृति में कहा है- **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**[4]। इस सम्बन्ध में वाजसनेयि ब्राह्मणोपनिषद् में स्वयं **वेद** ने समुद्घोषणा की है कि सम्पूर्ण जगत्-प्रपञ्च और प्राणी मात्र का व्यवहार धर्म पर आश्रित है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् की आधारशिला के रूप में धर्म मानवीय जीवन

---

1. चतुर्विंशतिसाहस्त्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥

महाभारत

2. त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्॥

महाभारत (आदिपर्ष) 56/32

3. नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

महाभारत - 1/1

4. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

मनुस्मृति - 2/6

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यवहार में विद्यमान है[1]। जैसा कि अथर्ववेद में पुण्य के ग्रहण और पाप के विमोचन की कामना करते हुए सत्य-निष्ठ पुरुष ने स्वच्छ संकल्प शक्ति को जाग्रत करने के उद्देश्य से कहा है कि **काम के अन्दर जो शुभ और कल्याणकारी भाग हैं, जिससे सब सत्य की सिद्धि होती है वह शुभ भाग मेरे अन्दर प्रविष्ट हो जाय और जो पाप का भाग है, वह दूर हो**[2]। इन्हीं भावों को अपनी लेखनी में सञ्जोते हुए महर्षि वेद-व्यास ने महाभारत के आख्यानों के माध्यम से विश्व-समुदाय को धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत जीवन व्यतीत करते हुए पुरुषार्थचतुष्टय को प्राप्त करने की शिक्षा प्रदान की है। क्योंकि बिना धर्म-मूल्यों के जीवन् में कमनीयता और शान्ति आ ही नहीं सकती है। इसीलिए महाभारत की भव्य शिक्षा का सार-संकलनस्वरूपा **भारत - सवित्री** ग्रन्थ में व्यास कि स्पष्ट उक्ति है कि **धर्म का परित्याग किसी भी दशा में भय से या लोभ से कभी नहीं करना चाहिए। धर्म शाश्वत है चिरस्थायी है**[3]। अतः नित्य की ही रक्षा करनी चाहिए। यह नित्य हमारे षोड्श संस्कारों के माध्यम से भारतीय संस्कृति के मूल में समाहित हो गया है, जिसके कारण महर्षि वेदव्यास ने अर्धम से देश का नाश तथा धर्म से राष्ट्र के अभ्युत्थान की बात बड़े ही सुन्दर आख्यानों के द्वारा हमें सिखलाई है। इस महनीय विचारधारा को अपने आख्यानों में सञ्जोने के कारण ही महर्षि-विरचित **महाभारत**

---

1. धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। लोके धर्मिष्ठम् प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदन्ति। धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्मात् धर्मं परमं वदन्ति। यज्ञेन विश्वं प्रतिष्ठितम् देवाः। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

   वाजसनेयि ब्राह्मणोपनिषद् - 3/4

2. यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे।
   ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः॥

   अथर्ववेद - 9/2/25

3. न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्। धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
   धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये। जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

   भारत - सावित्री

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूपी उपजीव्य काव्य को जगत् में धर्मशास्त्र के रूप में ख्याति प्राप्त हुई है[1]। जिसमें मानव-जाति को शिक्षा दी गई है कि यदि मनुष्य सच्चा सुख का अभिलाषी है, तो उसका परम कर्त्तव्य धर्म का सेवन ही है[2]।

धर्म वह मानसिक गुण है, जो व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ता है। **धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः**[3] यह उसकी अर्थानुकूल व्युत्पत्ति है। श्रुति, स्मृति, सदाचार और उन्नत आत्मा को अभीष्ट लगने वाले कार्य धर्म हैं। इस तरह सत्य, दम, तप, शौच, सन्तोष, इन्द्रिय-निग्रह, क्षमा, ज्ञान और शम आदि धर्म के लक्षण माने गये हैं[4]।

वास्तव में ये धर्म-पालन समाज के निर्माण, सभ्यता के विकास और संस्कृति के संरक्षण के लिए परमावश्यक हैं। इन्हीं धर्म सम्मत उपदेशों की प्रधानता के कारण महर्षि वेदव्यास द्वारा विरचित **महाभारत** को वेदों का समुपबृंहण माना गया है। महाभारत नामक महाकाव्य ग्रन्थ के प्रधान टीकाकार नीलकण्ठ ने अष्टादश पर्वात्मक आख्यानों को धर्म के विभिन्न अङ्गो का विवेचक प्रतिपादित किया है। नीलकण्ठाचार्य ने महाभारत के प्रत्येक पर्व के प्रारम्भ में घटना-क्रम के निर्देश की सङ्गति का औचित्य सिद्ध करते हुए कहा है कि महर्षि वेदव्यास ने वेद-निरूपित पुरुषार्थचतुष्टय के व्याख्यान की दृष्टि से अष्टादश पर्वों का विभाजन किया है, यथा शान्ति पर्व के प्रारम्भ में स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि इस ग्रन्थ में **धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष** सम्यक् रूप से निरूपित

---

1. अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
   कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥

   महाभारत - 2/28/83

2. ऊर्द्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् श्रृणोति मे।
   धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

   महाभारत

3. महाभारत (कर्णपर्व)-65/59

4. सत्यं दमस्तपः शौचं सन्तोषो ह्रीः क्षमार्जवम्।
   ज्ञानं शमो दया ध्यानमेष धर्मः सनातनः॥

   महाभारत (शान्तिपर्व)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किये गये हैं। अन्तिम लक्ष्य **मोक्ष** का निरूपण करना महाभारत का प्रधान अभिष्ट है[1], जिसके न साधे जाने पर परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि धर्म के तीन स्कन्ध होते हैं-यज्ञ, अध्ययन और दान। इनके अनुपालन सम्बन्धित विधान को सुस्पष्ट करते हुए महर्षि ने धर्म को तीन शाखाओं में विभक्त किया है-

(क) यज्ञ, अध्ययन और दान करना, गृहस्थाश्रम का धर्म है।

(ख) तपस्या तापस का धर्म है, तथा

(ग) ब्रह्मचर्य अर्थात् आचार्य-गृह में ब्रह्मचारी बनकर रहना,

ये धर्म के तीन स्कन्ध कहलाते है[2]। उपनिषद् द्वारा निरूपित धर्म के इन तीन स्कन्धों का विशद व्याख्यान हमें महाभारत नामक उपजीव्य काव्य में प्राप्त होता है। महाभारत के सभा-पर्व में **राजसूय-यज्ञ** के आयोजन का विवरण विशद रूप से विवेचित किया गया है। इसके अनन्तर **वन-पर्व** में पाण्डवों द्वारा विभिन्न यज्ञस्थलियों के दर्शन और विभिन्न यज्ञों के आयोजन के विषय में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। महाभारत का चौदहवाँ पर्व **अश्वमेधिक पर्व** के नाम से विख्यात है। इस पर्व में अश्वमेध यज्ञ की विशद विवेचना की गई है। इसी प्रकार **आश्रमवासिक** पन्द्रवें पर्व में भी प्रसङ्गानुसार विभिन्न यज्ञों के विषय में चर्चा की गई है। महाभारत नामक इस विशालकाय ग्रन्थ में आहुति प्रधान **यज्ञ - कर्म** के अतिरिक्त सूर्यादि देवों की उपासनास्वरूप यज्ञ-कर्म का भी विशद वर्णन प्राप्त होता है। इन यज्ञानुष्ठानों के वर्णन से

---

1. यत्साधनेषु रुच्यर्थमितिहासोऽयं।

2. त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्ततम् एवेति द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।
छान्दोग्योपनिषद् - 2/23

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महाभारतकार ऋषि वेदव्यास ने वेद निरूपित धर्म के प्रथम स्कन्ध स्वरूप यज्ञ-कर्म का विशद व्याख्यान प्रस्तुत किया है। यज्ञ के समान धर्म के द्वितीय स्कन्ध **अध्ययन** की भी महर्षि वेदव्यास ने विशद विवेचना की है। गुरु द्रोण और कृपाचार्य प्रभृति ऋषियों के सान्निध्य में कुरु-राज कुमारों के अध्ययन का विशद विवेचन करते हुए महर्षि वेदव्यास ने **अध्ययन-अध्यापन** की प्रक्रिया के विषय में महत्त्वपूर्ण संकेत दिये हैं। अध्ययन के समय अध्येता के आचरण का उल्लेख करते हुए महर्षि वेदव्यास ने स्पष्ट संकेत दिया है कि **आलस्य, मद-मोह, चञ्चलता, गोष्ठी, उद्दण्डता, अभिमान और लोभ, ये सात विद्यार्थियों के लिए सदा ही दोष माने गये हैं**[1]। इसीलिए महाभारत के अन्य स्थल पर महर्षि ने कहा है कि **सुख चाहने वाले को विद्या कहाँ से मिले? विद्या चाहने वालों के लिए सुख नहीं है। सुख की चाह हो तो विद्या को छोड़े और विद्या चाहे तो सुख का त्याग करे**[2]। क्योंकि **सुनने की इच्छा का अभाव या सेवा का अभाव, उतावलापन और आत्म-प्रशंसा, ये तीन विद्या के शत्रु माने गये हैं**[3]। महर्षि वेदव्यास द्वारा स्वाध्यायी के लिए दिया गया यह स्पष्ट निर्देश **स्वाध्यायान्मा प्रमदः**[4] इस श्रुति वाक्य का समुपबृंहण नहीं तो ओर क्या है? गुरु-शिष्य सम्बन्धों का उत्कृष्ट दृष्टान्त महाभारत के आख्यानों में दिखाई देता है। आचार्य द्रोण और अर्जुन का एकमनस् भाव अथर्ववेदीय मन्त्रों का उपबृंहण ही है, जिसमें यह स्पष्ट करने का प्रयास

---

1. आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः।।

2. सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी चेत् त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी चेत् त्यजेत् सुखम्।।

3. असूर्येकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः।।

4. तैत्तिरीयोपनिषद् 11/1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किया गया है कि किस प्रकार आचार्य ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में रख कर उसे -

(क) स्थूल, सूक्ष्म और सृष्टि विषयक।

(ख) आत्म-तत्त्व विषयक और

(ग) आत्म-अनात्मा के सम्बन्ध में बुद्धि की संशयात्मक प्रवृत्ति का प्रच्छालन कर वास्तविक स्वरूप का बोध कराता है[1]। शिष्य के प्रति पुत्र-भाव को विकसित करता हुआ आर्थात् अपनी सम्पूर्ण साधना का फल उसे प्रदान करता है। शिष्य की आदर्श भूमिका के रूप में **एकलव्य** का वृत्तान्त अध्येता के लिए उत्कृष्ट दृष्टान्त का कार्य करता है, जिसके द्वारा शिक्षार्थी के जीवन-वृत्त को झलकाने का प्रयास किया गया है। गुरु-भक्ति के रूप में एकलव्य से बढ़कर अन्य कोई दृष्टान्त दिखाई नहीं देता है।

धर्म के तृतीय स्कन्ध के रूप में **दान** का उल्लेख प्रसङ्गानुसार महाभारत के विभिन्न आख्यानों में किया गया है, विशेष रूप से **यज्ञ** प्रकरण में किया गया है। महाभारत के अनुशासन-पर्व में विशेष रूप से दान के विभिन्न स्वरूपों पर प्रकाश डाला गया है। **अनुशासन-पर्व** में किस पदार्थ का दान करना चाहिए, इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि संसार के सर्वश्रेष्ठ, प्यारे तथा जिसे व्यक्ति बहुत मूल्यवान् समझता है, उसका गुणवान् व्यक्ति को दिया जाना अक्षय गुण और पुण्य देने वाला दान कहा जाता है[2]। दान की विधा का उल्लेख करते हुए महर्षि वेदव्यास ने कृष्ण-अर्जुन सम्वाद के रूप में विश्वविख्यात श्रीमद्भगवद्गीता में दान को **सत्त्विक, राजस् और तामस्** नामक

---

1. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥
अथर्ववेद 11/5/3

2. महाभारत (अनुशासन पर्व) - 50/7

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रेणियों में विभक्त कर कहा गया है कि जब देश, काल और पात्र के अनुसार अपना कर्त्तव्य समझकर दान दिया जाता है और लेने वाला अस्वीकार नहीं करता, तो ऐसे दान को **सात्त्विक दान** कहा जाता है, जब किसी इच्छा की पूर्ति के लिए या अनुत्साह से दिया जाय तो उसे **राजस् दान** तथा जो दान अनुचित काल, स्थान औरा पात्र को बिना श्रद्धा तथा घृणा के साथ दिया जाता है, उसे **तामस् दान** कहते हैं[1]।

पुण्य-लोक की प्राप्ति के सम्बन्ध में जहाँ ऋषि-मुनियों ने यज्ञानुष्ठान आदि के विधान का प्रतिपादन किया है, वहीं दान के निर्धारण की विधा का भी उल्लेख किया है। महाभारत के अनुशासन पर्व में **दान** के स्वरूप और उससे मिलने वाले फल के विषय में स्पष्ट निर्देश दिया गया है। अनुशासन-पर्व में अन्न, जल, गौ, विद्या आदि के दान का माहात्म्य बताते हुए महर्षि वेदव्यास ने भीष्म पितामह द्वारा **भू-दान** को सर्वश्रेष्ठ दान बतलाया है। अनुशासंन-पर्व के 62वें अध्याय में **भू-दान** की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि भूमि अक्षय और अचल है, वह मनुष्यों की सब कामनाएँ पूर्ण करती है। भूमि से वस्त्र, पशु और अनेक प्रकार के अन्न उत्पन्न होते हैं। भूमिदान करने वाला मनुष्य बहुत दिनों तक समृद्धिशाली रहकर सुख भोगता है। इसी फल-श्रुति के आधार पर आचार्य विनोबा भावे ने **भू-दान** आन्दोलन का श्रीगणेश कर भूमि-हीन कृषकों को भू-भाग दिलाने का प्रयास किया।

भू-दान सम्बन्धित श्रुतिफल को विवेचित करते हुए महर्षि ने भीष्मपितामह द्वारा जन-समुदाय को उपदेश दिलाया है कि भूमि का दान

---

1. दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 18/20-22

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करने से तपस्या, यज्ञ, विद्या, सुशीलता, निर्लोभ, सत्यवादिता, देवार्चना और गुरु-शुश्रूषा का तथा सोना, चाँदी, वस्त्र, मणि, मोती, आदि अनेक प्रकार के धन दान करने का फल मिलता है। इस प्रकार के अन्य अनेक माहात्म्य द्वारा महर्षि वेदव्यास ने **महाभारत** नामक कृति द्वारा वेद-वाणी का उपबृंहण ही किया है। महर्षि ने महाभारत के प्रमुख पात्रों के जीवन-वृत्त द्वारा मानव जाति को **दान** के माहात्म्य और उससे प्राप्तव्य फल के विषय में विस्तृत जानकारी प्रदान की है। उन्होंने विभिन्न महापुरुषों के दृष्टान्तों के माध्यम से दान देने की प्रवृत्ति का विकास करने का प्रयत्न किया है। महर्षि ने अङ्गराज कर्ण के जीवन-वृत्त द्वारा दान की महिमा को चित्रित किया है, जिन्होनें अपने प्राण रक्षक स्वरूप कवच-कुण्डल का दान कर एक उत्कृष्ट दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। जिसके फलस्वरूप महाभारत में गण-मान्य राजाओं को युद्धवीर कहा गया है, जबकि कर्ण की कीर्ति दानवीर के रूप में विश्व-विख्यात हुई। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रतिपक्षी कर्ण की दान-वीरता की भूरि-भूरिशः प्रशंसा की है। इस प्रकार महाभारत का सम्पूर्ण कथा-वृत्त धर्म के तीन स्कन्ध **यज्ञ-अध्ययन और दान** की विशद विवेचना को प्रस्तुत करता है।

यज्ञ, अध्ययन और दान नामक धर्म के ये तीन स्कन्ध मोक्ष-द्वार माने गये हैं। बिना इन तत्त्वों के अनुशीलन के व्यक्ति पुरुषार्थचतुष्टय के अन्तिम चरण रूपी **मोक्ष** को प्राप्त नहीं कर सकता है। जिसके लिए महर्षि ने सारगर्भित उक्ति द्वारा समग्र अध्यात्म स्वरूप को विवेचित करते हुए कहा है कि **वेद का उपनिषद् अर्थात् रहस्य है- सत्य। सत्य का भी उपनिषद् (रहस्य) है-दम और इसी दम-इन्द्रिय दमन का रहस्य है- मोक्ष**[1]। अतः मोक्षानुगामी को

---

1. वेदोस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषद् मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम्॥
महाभारत (शान्तिपर्व) - 299/13

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महाभारत के उद्योग-पर्व में महर्षि वेद व्यास ने उपदेश दिया है कि **मानव का आध्यात्मिक कल्याण इद्रिय-निग्रह से ही होता है**[1], जिसके लिए उसे नियमित जीवन व्यतीत करते हुए भक्ति-योग के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। आत्मोद्धारक के रूप में सृष्टि-विज्ञान की उद्घोषिका **श्रीमद्भगवद्गीता** में श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि **जो सब धर्मों का परित्याग कर मेरी शरण में आता है, मैं उसे सब पापों से मुक्त कर मोक्ष प्रदान करता हूँ**[2]। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण का यह उद्घोष मानव जीवन में **परा-विद्या** की पावन प्रतिष्ठा है। गीता कर्म-योग, भक्ति-योग और ज्ञान-योग की व्यापक दृष्टि देकर उसकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करती हुई समन्वय की अद्भुत तात्त्विक चेतना का भाव जागृत कर स्वधर्मानुसार किसी एक पर चलने का आमन्त्रण करती है। डॉ॰ राधाकृष्णन् के मतानुसार **श्रीकृष्ण ईश्वर की वाणी का उपलक्षण है, जो अर्जुन को अपना सन्देश पुलकित कर देने वाले शब्दों में दे रही है।** बन्धुओं के वध के पाप और भय से दुःखी क्षत्रिय पुत्र अर्जुन ने अपने स्वधर्म का परित्याग करते हुए कहा है-

न कांङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा[3]॥

रण-विमुख अर्जुन को स्वधर्म के पालन की चर्चा करते हुए भगवान् ने उसके समस्त तर्कों का खण्डन तीन ही शब्दों से कर दिया-**अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरम्**[4]। हे अर्जुन! तुम्हारे हृदय में यह

---

1. आत्मनस्तु किलोपायो नान्यत्रेन्द्रिय - निग्रहात्॥
महाभारत (उद्योगपर्व) - 63/17
2. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
महाभारत (श्रीमद्भगवद्गीता) - 18/66
3. श्रीमद्भगवद्गीता - 1/32
4. श्रीमद्भगवद्गीता - 2/2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कश्मल कहाँ से आ गया? क्या तुम इस प्रकार का आचरण परलोक के लिए करना चाहते हो? क्या मोक्ष के लिए करना चाहते हो? किन्तु यह तो अनार्यजुष्ट है। इसमें न तो स्वर्ग मिलेगा न लोक में यश होगा और न मोक्ष मिलेगा। अर्जुन यह तुम्हारे स्वभाव और स्वरूप के विपरीत है। **नैतत्त्वय्युपपद्यते क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यम्**[1] मनुष्य को किसी भी कार्य के करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि जो काम मैं करने जा रहा हूँ, उससे लोक में अकीर्ति तो नहीं होगी। उस कार्य के अनुपालन से परलोक तो नहीं बिगड़ेगा। क्या उससे मेरा अन्तःकरण शुद्ध होगा? एवं मैं जिस ओर प्रवृत्त हो रहा हूँ, वह मेरी दुर्बलता तो नहीं है। यदि दुर्बलता है तो उसके परित्याग के लिए श्रीकृष्ण कहते हैं - **त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तपः**[2]। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया है, वह मानव-मात्र के लिए उपदेश है, मानव धर्म है अथवा वैदिक वाङ्मय का उपबृंहण है, जिसमें कहा गया है कि धर्म में स्थिरता तभी आयेगी, अर्थात् धर्म मोक्ष-प्रदाता तभी बन पायेगा जब आचार और ज्ञान, जाति से हीन की हीनता का निवारण कर उसको ऊपर उठाएं। अतः जो हीन को उत्तम बनाए, उसी का नाम धर्म है, वही व्यक्ति को मोक्षानुगामी बना सकता है। यही गीता का सार तत्त्व है।

वैदिक वाङ्मय में धर्म के निरूपण की दृष्टि से मानव-जीवन को चार आश्रमों में विभक्त कर कर्त्तव्योपदेश दिया गया है। **ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यास आश्रम** नामक चार आश्रमों में मानव-जीवन को विभाजित कर कर्त्तव्यों का उपदेश वैदिक ऋषियों ने दिया है। ब्रह्मचर्याश्रम का मुख्य उद्देश्य विद्या-अध्ययन है, जिसमें अध्येता गुरु-सान्निध्य को प्राप्त कर अन्तेवासी के रूप में

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता - 2/3
2. क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
   क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 2/3

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गुरुमुखोच्चारणानूचारण विधि को अपनाते हुए वेदाध्ययन करते थे। अध्येता द्वारा शास्त्रानुशीलन की इस विधा का अनुसरण महाभारत के पात्रों को शिक्षित करने के लिए भी किया गया है। महर्षि वेदव्यास ने प्रसङ्गानुसार आचार्य द्रोण के आश्रम और राज-पुत्रों को आश्रम में दी जाने वाली शिक्षा को विवेचित किया है। इसके साथ तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को चित्रित करते हुए यह भी बताने का प्रयास किया है कि क्षुद्रों को उस समय शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार नहीं था, जैसे कि सूत-पुत्र कर्ण और एकलव्य के जीवन-वृत्त सम्बन्धित उपाख्यान से ज्ञात होता है। पाण्डु-पुत्र धर्मराज युधिष्ठिर भीम, अर्जुन, सहदेव और नकुल के साथ-साथ धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्रों का गुरु द्रोण के आश्रम में रहकर शिक्षा ग्रहण करने का स्पष्ट संकेत महाभारत में मिलता है। सान्दीपनि आश्रम में रह कर श्रीकृष्ण, बलराम, सुदामा आदि द्वारा शिक्षा ग्रहण करने का वृत्तान्त भी महाभारत में मिलता है, जिससे यह पता चलता है कि वैदिक काल से ही ब्रह्मचर्याश्रम का विधान चला आ रहा है, जिसकी विस्तृत चर्चा महाभारत में भी की गई है। द्वितीय आश्रम में धनोपार्जन के साथ परिवार और समाज का भरण-पोषण करना गृहस्थियों का धर्म बताया गया है। भरतवंशीय राजा-महाराजाओं के जीवन-वृत्त द्वारा महर्षि वेदव्यास ने जहाँ धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष से सम्वेष्टित शासन-प्रक्रिया का विवेचन किया है, वहीं गृहस्थियों के जीवन-वृत्त द्वारा पारिवारिक दायित्वों और उनके पूर्ण करने की विधा का भी वर्णन किया है। तृतीय आश्रम में तपस्या को कर्त्तव्य के रूप में निर्धारित किया गया है तथा चतुर्थ आश्रम में जगत्-प्रपञ्च से विरक्त होकर आत्म-चिन्तन करना कर्त्तव्य माना गया है। महाभारत के शान्ति पर्व में इन चारों आश्रमों के कर्त्तव्य को संक्षेप में बताते हुए कहा गया है कि प्रथम आश्रम में जिस व्यक्ति के द्वारा विद्यार्जन नहीं किया गया, द्वितीय आश्रम (गृहस्थाश्रम) में धनोपार्जन नहीं किया गया, तृतीय आश्रम में तपस्या नहीं की गई वह व्यक्ति केवल संन्यास ग्रहण कर ले तो उस चतुर्थ आश्रम में रह कर अपने इष्ट की प्राप्ति कैसे कर सकेगा अर्थात्

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मोक्ष प्राप्ति के लिए केवल संन्यासी बनंना पर्याप्त नहीं, उसके पूर्व विद्याध्ययन, धनोपार्जन और तपस्या आवश्यक है तथा धर्म-अर्थ-काम के सेवन के अन्तर ही मोक्ष प्राप्ति सम्भव है[1]। महाभारत ने इन चारों आश्रमों में **गृहस्थाश्रम** को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताया है। उनके मतानुसार गृहस्थ व्यक्ति ही ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी की जीविका के साधन सुलभ करा सकता है। जिस प्रकार प्राणी माता का आश्रम ग्रहण कर जीते हैं, उसी प्रकार अन्य तीनों आश्रम भी गृहस्थाश्रम पर आश्रित हैं[2]।

वेद में ब्रह्मचर्याश्रम के अन्तर्गत शिक्षा और शास्त्र चिन्तन का विस्तृत विवेचन करने के साथ-साथ सम्पूर्ण मानव-जीवन में सतत शिक्षा की भी चर्चा की गई है। इस सतत प्रक्रिया के रूप में मानव-समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र नामक चार वर्णों में विभक्त कर महर्षि वेदव्यास ने क्रमानुसार विभिन्न कर्त्तव्यों के उद्देश्य की विवेचना में महाभारत द्वारा विशेष भूमिका का निर्वाह किया है। महाभारत के शान्ति-पर्व में **राज-धर्म** प्रकरण के अन्तर्गत राजा के कर्त्तव्यों का विशद विवेचन किया गया है। राज्य-व्यवस्था को समाज की आधारशीला माना गया है। अत एव क्षत्रिय के कर्त्तव्यों का विशद विवेचन तथा अन्य वर्णों का संक्षिप्त रूप से कर्त्तव्योपदेश इस प्रकरण में प्राप्त होता है। शान्ति-पर्व में आपद्-धर्म नामक प्रकरण में इन चारों वर्णों के कर्त्तव्यों को विभिन्न रूप से विवेचित करते हुए भिन्न-भिन्न वर्णों के व्यक्तियों द्वारा आपत्ति मात्र में विधेय कर्मों का विस्तार से विवेचन किया गया है। इस आपद् धर्म प्रकरण के माध्यम से मानव जीवन के विविध-कर्त्तव्यों के विषय में भली-प्रकार से परिचय प्राप्त होता है।

---

1. प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये न तपस्तप्तं चतुर्थे किं करिष्यति॥
महाभारत (शान्ति-पर्व) -270/6

2. यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः॥
महाभारत (शान्ति पर्व) -270/7

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महाभारत में अनेक चरित्रों आख्यानों-उपाख्यानों की प्रस्तुति द्वारा वेद-निरूपित शिक्षा का उपबृंहण किया गया है। महाभारत द्वारा प्रदत्त उपदेशावली के विस्तार और महत्त्व का परिचय इसके अङ्ग विशेष के रूप में विख्यात श्रीमद्भगवद्गीता के अध्ययन से प्राप्त हो सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत के **भीष्म-पर्व** का आदि **अङ्ग** है। अष्टादशाध्यात्मिका श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय चिन्तन परम्परा का सार प्रस्तुत करती है। इसके **अर्जुन विषाद-योग** नामक प्रथमाध्याय में अपने अग्रजों के प्रति श्रद्धा-भाव रखने की शिक्षा अर्जुन की युक्तियों से प्राप्त होती है। राज्य के सुख-लोभ से यदि अपने सगे-सम्बन्धियों का विनाश करना पड़े तो वह महा-पाप है[1]। इस प्रकार की अर्जुनोक्ति से सुख-लोभ के परित्याग की शिक्षा प्राप्त होती है।

श्रीमद्भगवद्गीता के सांख्य-योग नामक द्वितीय अध्याय में केवल कर्त्तव्य की ओर ध्यान देने तथा फल के विषय में अपेक्षा न रखने की शिक्षा प्रदान की गई है। **गीता** में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि व्यक्ति का अधिकार कार्य पर है, फल पर नहीं[2]। गीता के अग्रिम अध्यायों में कर्म-योग की विशद विवेचना की गई है, जिसका मूलाधार **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** माना गया है। वैदिक ऋषियों ने कर्म-योग की पद्धति को जीवन के उत्कर्ष के लिए नितान्त आवश्यक मानते हुए कहा है कि कर्म-भावना प्रत्येक व्यक्ति और सम्पूर्ण मानव-जाति को कर्त्तव्य निष्ठ होने तथा दायित्व वहन करने की ओर प्रवृत्त करती है। इसीलिए अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि - **हमारे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ और बायें हाथ में सफलता है**[3]। जिसका उपबृंहण हमें

---

1. अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥
महाभारत (श्रीमद्भगवद्गीता)-1/45

2. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
श्रीमद्भगवद्गीता - 2/47

3. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
अथर्ववेद -7/52/8

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महाभारत के भीष्म-पर्व के अतिमहत्त्वपूर्ण अङ्ग के रूप में प्रसिद्ध श्रीमद्भगवद्गीता के श्रीकृष्णार्जुन-संवाद के रूप में मिलता है, जिसमें अर्जुन को निष्काम कर्म भाव से कर्त्तव्य परायण होने का उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है कि **हे अर्जुन! तुम कर्म के फल का कारण मत बनो और न ही अकर्म में तुम्हारी आसक्ति हो**[1]। इस प्रकार आसक्ति से रहित कर्म करते रहना ही गीता का कर्म योग है। जैसा कि अनासक्ति योग के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं- **मैं संसार को बनाता हूँ, उसका पालन और संहार करता हूँ, फिर भी मुझे किसी भी प्रकार का कोई कर्म-बन्धन या कर्म-लेप प्राप्त नहीं होता। क्योंकि मैं अपने आपको निष्क्रिय मानता हूँ। कर्त्ता होने पर भी कोई अहंकार नहीं करता और किये हुए कर्मों के फल की लेशमात्र भी इच्छा नहीं करता**[2]। कर्म विषयक इसी सिद्धान्त को जन-मानस तक पहुँचाने के उद्देश्य से ही भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निष्काम भाव से कर्त्तव्यपरायण होने का उपदेश दिया है। श्रीमद्भगवद्गीता के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि वैदिक महर्षियों के चिन्तन अर्थात् जीवन दर्शन को इस अष्टाध्यायात्मिका गीता में सार रूप से समाहित कर दिया गया है। इसी कारण महाभारत का यह विश्वविख्यात अङ्ग श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। महाभारत के इस अङ्ग में उपनिषदों का सार समाहित है। श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य में प्रकाशित जीवन-दर्शन, आत्म-चिन्तन और जगत्-प्रपञ्च विषयक विवेचन को हृदयावगाही शैली से अर्जुन को समझाया है। अत एव इसमें सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य रूपी धेनु समुदाय का दुग्ध-समाहित माना जाता है। इसीलिए कहा भी गया है -

---

1. मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।

श्रीमद्भगवद्गीता -2/47

2. न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

श्रीमद्भगवद्गीता -4/14

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् [1]॥

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इस प्रकार के उत्तमोत्तम तत्त्व-ज्ञान का आलौक एक ऐसे वातावरण में हुआ जहाँ दोनों ओर सेनाएँ एक दूसरे के संहार के लिए शस्त्र संजोए खड़ी थी। युद्ध-स्थली में अद्भूत तत्त्व - ज्ञान की यह राशि भारतीय जीवन दर्शन के रूप में श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में समादृत है। जिसके अध्ययन से सम्पूर्ण शास्त्रों में विवेचित कर्त्तव्यों का परिचय प्राप्त हो जाता है। इसीलिए गीता के माहात्म्य में लिखा गया है-

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता [2]॥

उपर्युक्त तथ्यात्मक विवेचन से ज्ञात होता है कि **महाभारत** नामक प्रसिद्ध उपजीव्य काव्य इतिहास-ग्रन्थ के रूप में विश्व-विख्यात है, जिसे **पुराणोत्तम** ग्रन्थ के नाम से भी अभिहित किया जाता है। वस्तुतः प्राचीन काल में **इतिहास-ग्रन्थ** व्यक्ति विशेष के जीवन की घटनाओं को यथावत् तिथिक्रम से प्रस्तुत नहीं करते थे अपितु व्यक्ति विशेष के जीवन के प्रमुख खण्डों की चर्चा के माध्यम से मानव के जीवन मूल्यों के प्रकाशन के उद्देश्य से भारतीय मनिषियों ने इतिहास ग्रन्थों की रचना की थी। इसी कारण महाभारत को **पुराणोत्तम** की संज्ञा प्रदान की जाती है। यदि अन्वेषणात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में **पुराण और इतिहास** की विभाजक रेखा स्पष्ट नहीं थी, जिसके आधार पर विषय वस्तु का ठीक से विभाजन कर

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास (पं. बलदेव उपाच्याय) - पृ. 32
2. महाभारत (भीष्म पर्व) - 43/1
   अन्यत्र भी -
   गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
   गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रील्लोकान् पालयाम्यहम्॥
   वाराहपुराण

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसके वर्ग का निर्धारण किया जा सके। फिर भी वर्ग निर्धारण के समय विषय-वस्तु को ध्यान में रखते हुए सृष्टि-विद्या के विवेचन की प्रधानता वाले ग्रन्थ पुराण और मानवीय जीवन मूल्यों के प्रकाशन की प्रधानता वाले ग्रन्थ इतिहास-ग्रन्थ कहलाते हैं। पुराणों में भी सृष्टि विद्या के साथ-साथ वंश-वर्णन तथा प्रमुख राज ऋषियों का चरित्र-चित्रण तथा मन्वन्तर का निरूपण मिलता है। इसी प्रकार महाभारत आदि इतिहास-ग्रन्थों में सृष्टि-विद्या, जगत्-प्रपञ्च का विस्तार से वर्णन किया गया है, किन्तु प्रधानता के आधार पर पुराण और इतिहास ग्रन्थ की विषय-वस्तु में भिन्नता दिखाई देती है। फिर भी विषय-वस्तु में सूक्ष्मतम अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि इतिहास-ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य भी पुराण ग्रन्थों के समान ही वेदार्थ का उपबृंहण माना गया है। इसी कारण महाभारत के प्रारम्भ में ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य बताते हुए लेखक ने निर्दिष्ट किया है कि-

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति[1]॥

इस उद्देश्य की पूर्ति **महाभारत** ग्रन्थ में सभी स्थलों पर परिलक्षित होती है। स्वयं वेद-व्यास ने **वेद मन्त्र राशि** में निहित धर्म तत्त्व के विशद व्याख्या के लिए धृतराष्ट्र और पाण्डु-पुत्रों के जीवन-चरित्रों को आधार बनाकर इस ग्रन्थ में धर्म तत्त्व और वैदिक शिक्षा का विशद विवेचन किया है।

स्मृति ग्रन्थों में वैदिक शिक्षा का अनुवर्तन - भारतीय चिन्तन-परम्परा वेदमूलक है। वेद को **श्रुति** के नाम से जाना जाता है। वेद धर्मोपदेश का पुञ्ज है। इसलिए कहा जाता है- **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**[2] अर्थात्

---

1. महाभारत (आदि पर्व)
2. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेच च॥
मनुस्मृति - 2/6

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जीवन के आधारभूत तत्त्वों का मौलिक विवेचन वैदिक वाङ्मय में वर्णित किया गया है, जिसके अनुशीलन से क्रमशः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति द्वारा आधिदैविक आधिभौतिक और आध्यात्मिक कष्टों से विनिर्मुक्ति प्राप्त होती है। वेद प्रदत्त कर्त्तव्योपदेश से सम्बन्धित सम्पूर्ण जगत् व्यवहार का मूलाधार है। वैदिक वाङ्मय के समान ही **स्मृति** संज्ञक वाङ्मय भी कर्त्तव्योपदेश की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना गया है। वस्तुतः वैदिक वाङ्मय और स्मृति-साहित्य समान रूप से कर्त्तव्योपदेशक हैं। एक श्रुति-परम्परा से प्राप्त है तो दूसरा परवर्ती युग के मनीषियों द्वारा स्मृतिपूर्वक प्रदत्त कर्त्तव्योपदेश रूप है। वेद और स्मृति दोनों ही धर्म-मार्ग का उपदेश करते हैं [1]।

स्मृति शब्द द्वि-अर्थक है, जिसके प्रथम रूप में वेद-वाङ्मय से इतर ग्रन्थों, यथा पाणिनि के व्याकरण, श्रौत, गृह्य और धर्म-सूत्रों, महाभारत, मनु, याज्ञवल्क्य और अन्य ग्रन्थों का बोध करता है, किन्तु संकीर्ण अर्थ में **स्मृति और धर्म-शास्त्र** का अर्थ एक ही है, जैसा कि मनु ने अभिव्यक्त किया है- **श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः** [2]। गौतम-वशिष्ठादि महर्षियों ने **स्मृति** को धर्म का उपादान माना है [3]।

धार्मिक कृत्यों के विशद विवेचन के माध्यम से ऋषि-मुनियों ने जन-सामान्य के लिए आत्माभ्युदय का मार्ग प्रशस्त किया है। मार्ग

---

1. श्रुतिस्मृति विहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्। शिष्टः पुनरकामात्मा।
वशिष्ट धर्मसूत्र - 1/4/6

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥
याज्ञवल्क्य स्मृति - 1/7

2. मनुस्मृति - 2/10

3. वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले।
गौतमधर्मसूत्र - 1/1/2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रशस्तीकरण की इस विधा के अन्तर्गत आचार्य मनु ने धर्म के जिन लक्षणों [1] को प्रतिपादित किया है, उनमें से क्षमा, अस्तेय और अक्रोध, ये समाज से सम्बन्धित हैं और शेष व्यक्ति से। जिनको आत्मसात् करने से मानव आत्माभ्युदय को प्राप्त करता हुआ जन-कल्याण की भावना से कर्त्तव्य कर्मों को सम्पादिक करता है। यही कारण है कि ऋग्वेद में कौटुम्बिक व्यभिचार, परनारीगमन, बहुविवाह, वेश्यावृत्ति आदि की भर्त्सना की गई है और असंयम, क्रोध और इस प्रकार के अन्य संवेगों को पाप के रूप में माना गया है एवं इन सब से निवृत्ति के लिए देवताओं का आह्वान किया गया है। क्रोध का सहचर दूसरा पाप धूर्तता है, जिससे दूर रहने की कामना की गई है। चौर्य-कर्म, हत्या तथा कच्चे माँस के भक्षण को अनैतिकता के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। प्रमाद, नशा, द्यूतक्रीड़ा आदि की भी इसी श्रेणी में परिगणना की गई है। अतिथि-सत्कार, दान, दया, उदारता आदि नैतिक मूल्यों के अन्तर्गत अभिहित हैं। जिनका उपबृंहण हमें आचार्य मनु द्वारा विरचित **मनुस्मृति** के आचार-अध्याय में देखने को मिलता है, जिसके द्वारा ऋषि-मुनियों ने **मानव-व्यवहार** सम्बन्धित आचार-विचार की स्पष्ट रूप-रेखा प्रस्तुत कर आदर्श जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया है, जिसके मूल में धर्म का बीज सदैव समाहित रहता है।

वैदिक वाङ्मय में उपदिष्ट धर्मसंवेष्टित आदर्श आचरण द्वारा सामाजिक सन्तुलन बनाये रखने के लिए स्मृति-साहित्य में वेदों का उपबृंहण किया गया है। उपबृंहण की इस परम्परा के अन्तर्गत वेद-प्रतिपादित कर्म के सिद्धान्त पर मानव-व्यवहार को वर्णाश्रम के रूप में विभक्त कर सामाजिक सन्तुलन बनाये रखने के लिएं स्मृतिकारों ने विभिन्न संस्कारों को सम्पादित करने का निर्देश दिया है, यथा-ब्राह्मण का कृत्य

---

1. धृतिःक्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
मनुस्मृति - 6/92

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है- वेदाध्ययन करना, अध्यापन करना, यज्ञ करना, यज्ञ करवाना तथा दान देना व दान लेना। क्षत्रिय का कर्म है- युद्ध करना और प्रजा-जन को संरक्षण प्रदान करना। कृषि, पशु-पालन आदि वैश्य धर्म कहे गये हैं, किन्तु अध्ययन करना, यज्ञ करना और दान देना, ये तीन सभी द्विजो के धर्म कहलाते हैं। शूद्र का धर्म मानव-समाज की सेवा करना निश्चित किया गया था [1]। यद्यपि कुछ धर्मावलम्बियों ने स्मृतिकारों के इस विधान की अनुचित व्याख्या कर वर्ण-विधान को संकीर्णता की परिधि में बाँध-कर जातीय आधार का आडम्बर रच कर समाज में छुआ-छूत और अस्पृश्यता जैसी कुप्रथा को जन्म दिया है, किन्तु वास्तव में कर्मानुसार वर्गीय विभाजन सामाजिक सन्तुलन बनाये रखने के लिए एक धार्मिक आचार संहिता है, जिसके अनुपालन से **विश्वं भवत्येकनीडम्** के बीज मन्त्र को साधा जा सकता है।

मन्त्र-सिद्धि की इस परम्परा में संस्कारों का अपना माहात्म्य है। यद्यपि **संस्कार** शब्द का प्रयोग वेद-वाणी में नहीं मिलता, फिर भी **सम्** के साथ **कृ** धातु तथा **संस्कृत** [2] शब्द का प्रयोग वेद वाणी में बहुधा स्थलों पर किया गया है, जिसका अभिप्राय संस्कार अथवा धर्म है, जिसमें यथार्थता के भाव रहते हैं । आचार्य शबर ने **संस्कार** शब्द के

---

1. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।।
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ।।
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।।
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ।।

मनुस्मृति - 1/88-91

2. न संस्कृतं प्र मिमीतो...। ऋग्वेद - 5/76/2
न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि। ऋग्वेद - 6/28/4
उभा ते बाहू रण्या सु-संस्कृत ऋदूपे चिदूदूवृधा। ऋग्वेद - 8/78/11

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विवेचार्थ **संस्कारो नाम स भवति यस्मिन्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य** इन शब्दों द्वारा कहा है कि **संस्कार** वह है, जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिए योग्य हो जाता है, जैसे कि जैमिनि सूत्र में **संस्कार** शब्द उपनयन के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसके सम्पादन से बालक वेदाध्ययन के योग्य बन जाता है। बिना **उपनयन** संस्कार के वेदाध्ययन की पात्रता का धार्मिक ग्रन्थों में निषेध मिलता है। **योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते** इस व्युत्पत्ति द्वारा तन्त्रवार्तिककार ने स्पष्ट किया है कि संस्कार वे क्रियाएँ तथा रीतियाँ है, जो योग्यता प्रदान करती हैं। वीरमित्रोदय ने इन्हें दो भागों में विभक्त कर यों स्पष्ट किया है-

(क) जिसके द्वारा व्यक्ति अन्य क्रियाओं (उपनयन संस्कार से वेदाध्ययन) के योग्य होता है। तथा

(ख) दोष (जातकर्म संस्कार आदि से वीर्य और गर्भाशय जन्य दोषों) से मुक्त होता है।

इसीलिए कहा गया है कि **आत्म परमात्मैक्यविधायक** ऋषियों द्वारा उपदिष्ट सूत्रों का यथोचित अनुसरण ही **संस्कार** है, जिसके द्वारा आत्मसंस्कृति या अपने **स्व** का विधान या परिष्कार किया जाता है। इस विधि-परम्परा का उपबृंहण करने के उद्देश्य से ही स्मृतिकारों ने जहाँ एक ओर धर्म के स्वरूप को विवेचित किया है, वहीं दूसरी ओर मानव-जाति में धार्मिक संस्कार भावनाओं के विस्तार के लिए षोडश संस्कारों[1] का विधान कर **स्व** को परिष्कृत करने का प्रयास किया है,

---

1. गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रिया निष्क्रमणोऽन्नप्राशनं वपनक्रिया॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भ-क्रियाविधिः।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृताः।

व्यासस्मृति - 1/13-15

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिससे बालक के अन्तःकरण में पूर्वजन्म-जनित पाप-कर्मों का परिशोधन कर उसे इस योग्य बनाया जाए, जिससे उसका व्यक्तित्व चहुँमुखी विकास को प्राप्त कर राष्ट्रोत्थान में सहायक सिद्ध हो सके। इसके लिए गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक की सम्पूर्ण क्रिया को सम्पादित करने वाले संस्कारों को तीन भागों में विभक्त किया गया है- दोष-मार्जन, गुणाधान और हीनाङ्गपूर्ति। जिनके माध्यम से व्यक्ति के वैयक्तिक गुणों का विकास होता है, जैसे - लोहे आदि खनिज पदार्थों में मिले हुए पदार्थों को निकालने के लिए उनका दोष-मार्जन किया जाता है, फिर उन्हें इस्पात आदि स्वरूप देने के लिए गुणाधान किया जाता है, उससे अस्त्र-शस्त्र बनाने के लिए उनमें मूठ आदि अङ्ग लगाये जाते हैं, जिससे खड्गादि बनकर वे उपयोग के योग्य हो जाते हैं। ऐसे ही जात-कर्मादि संस्कारों से दोष-मार्जन, उपनयनादि संस्कारों से गुणाधान तथा विवाह आदि द्वारा हीनाङ्गपूर्ति की जाती है और बालक को सु-संस्कृत बना दिया जाता है। यही वेदामृतमयी वाणी का सार है, जिसे स्मृति-वाक्यों द्वारा जन-साधारण के व्यवहार में उतारने का प्रयत्न किया गया है।

विविध-संस्कारों के अनुष्ठानों से सम्बन्धित विस्तृत जानकारी हेतु आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री द्वारा विरचित **संस्कार-विज्ञान** नामक ग्रन्थ का अवलोकन करना आवश्यक है, जिसमें उन्होंने सारगर्भित सरल सुबोध-भाषा में संस्कारों के अनुष्ठान की विधा को सुस्पष्ट किया है। इस के प्रारम्भ में स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी ने **नारायणस्मृति** में ग्रन्थ की उपयोगिता को दर्शाते हुए कहा है.कि मनुष्य में अपने पूर्व जन्म के कर्मों के संस्कार तो रहते ही हैं, साथ ही साथ गर्भ के, पिता-माता के, उनकी वंशानुगत क्रमधारा के भी संस्कार रहते हैं। संस्कार कुछ अच्छे होते हैं और कुछ बुरे। बुरे संस्कारों को विकार कहते हैं, जो जड़ की ओर ले जाय सो विकार और जो जीव में लिप्त विकारों को मिटा दे सो संस्कार। यही अपौरुषेय शब्दावली का सार तत्त्व है, जिसे स्मृतिकारों ने उपबृंहण की कला के माध्यम से लोक-हित को दृष्टि में रखकर जन-साधारण तक पहुँचने का प्रयत्न किया है। जिसके मूल में

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यही धारणा रही होगी कि मानव-जाति को संस्कारी बनाया जाये जिससे व्यक्ति आत्मोत्थान-सम्बन्धित कृत्यों को सम्पादित करते हुए बहुजन, हिताय की भावना से राष्ट्रोत्थान में अपना योगदान दे सकें।

मानव-शिशु को संस्कार-सम्पृक्त बनाने के उद्देश्य से आचार्य मनु ने स्पष्ट घोषणा की है कि **माता-पिता और गर्भाशय के दोषों को गर्भाधान - समय के होम तथा जातकर्म, चौल तथा उपनयन संस्कार के विधान द्वारा दूर किया जाता है। वेदाध्ययन व्रत, होम, त्रिविध व्रत, पूजा, सन्तानोत्पत्ति, पंचमहायज्ञों तथा वैदिक यज्ञों से मानव शरीर ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य बनाया जाता है** [1]। याज्ञवल्क्य का मत है कि **संस्कार करने से बीज-गर्भ से उत्पन्न दोष मिट जाते हैं** [2]। हारीत ऋषि के अनुसार **जब कोई व्यक्ति गर्भाधान विधि से सम्भोग करता है तब गर्भधारण होता है, पुंसवन संस्कार द्वारा वह गर्भ को नर बनाता है, सीमान्तोन्नयन संस्कार द्वारा माता-पिता से उत्पन्न दोष दूर करता है, बीज-रक्त और भ्रूण से उत्पन्न दोष जातकर्म, नामकरण, अन्न-प्राशन, चूड़ाकरण और समावर्तन से दूर होते हैं** [3]। तब कहीं जाकर मानव-शिशु में मानवोचित गुणों के अनुरूप शिष्टाचार की प्रवृत्ति का विकास होता है। धर्माचार्यों ने शिष्टाचार की प्रवृत्ति के विकासक्रम को उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति के रूप में चार भागों में विभक्त किया है। संस्कृति एक सुदीर्घ

---

1. गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

मनुस्मृति - 2/27-28

2. एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुखवम्।

याज्ञवल्क्यस्मृति - 1/1/3

3. गर्भाधानवदुपेतो ब्रह्मगर्भं संदधाति। पुंसवनात्पुंसीकरोति। फलस्थापनान्मातृपितृजं पाप्मानमपोहति। रेतोरक्तगर्भोपघातः पञ्चगुणो जातकर्मणा प्रथममपोहति नामकरणेन द्वितीयं प्राशनेन तृतीयं चूडाकरणेन चतुर्थं स्नापनेन पञ्चममैतैरष्टाभिः संस्कारैर्गर्भोपघातात् पूतो भवतीति।

संस्कार-तत्त्व - पृ. 857

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संस्कार परम्परा का नाम है। संस्कृति मानव-समुदाय की आत्मा है। संस्कृति कुसंस्कारों के द्वारा जो विकार उत्पन्न होता है, उस विकार का प्रक्षालन कर निर्मल विशुद्ध और देदीप्यमान होकर संसार को आलोकित करती है।

संस्कृति के संरक्षण और शिष्टाचरण की पुष्टता के लिए ऋषि-मुनियों ने **आप्ति (अर्जन संस्कार)** के विधान का निरूपण किया है, जिसमें आचार्य की अहम भूमिका की विवेचना बारम्बार की गई है। **आचार्य** आचार को ग्रहण करने और कराने वाले को कहा जाता है [1]। वैदिककालीन शिक्षा-पद्धति में आचार्य की इसी भूमिका के कारण **गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः** की पदवी से अलंकृत कर, उसके सानिध्य की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। जैसा कि कहा भी गया है- **गुरु बिन ज्ञान कहाँ से पाऊँ** कहने का अभिप्राय यह है कि गुरु ही एक ऐसा व्यक्तित्व है, जिसकी छाया में पल्लवित होता हुआ बालक आत्माभ्युदय-सम्बन्धित संस्कारों से सम्पृक्त हो लोक में प्रतिष्ठित होता है। या यों कहा जा सकता है कि लोक में प्रतिष्ठा का मूलाधार गुरु-सान्निध्य ही है, जिसके लिए अथर्ववेद में निर्दिष्ट किया गया है कि वेदाध्ययन की प्रक्रिया द्वारा आचारवान् बनाने के लिए **माता-पिता अपने बालकों को गुरु के सन्निकट ले जाते हैं, जहाँ आचार्य उपनयन संस्कार द्वारा ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में तीन रात्रि तक रखकर उसे कलुषित संस्कारों से निवृत्ति प्रदान करता हुआ द्वितीय जन्म प्रदान करता है** [2], अर्थात् वेदाध्ययन के समय स्थूल, सूक्ष्म और सृष्टि विषयक विषय वस्तु का ज्ञान कराता हुआ आत्म-तत्त्व और अनात्म-तत्त्व के विषय में भली-भाँति बोध कराते हुए कर्म-बन्धनों से छुटकारा दिला कर

---

1. 'आचिनोति आचरति आचारयति स आचार्यः'।
'आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात् इति पूजायाम्। आचार्यः आचारं ग्राहयति-आचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति व'।

2. आचार्य उपनयमानो बह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

अथर्ववेद - 11/5/3

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मोक्षानुमागी बनाता है। महर्षि के इसी भाव को लोक में प्रसारित करने के उद्देश्य से, उसका उपबृंहण करते हुए आचार्य मनु ने कहा है कि **शिक्षा-संस्कार से पूर्व ब्राह्मण भी शूद्र ही कहलाता है अर्थात् संस्कार विहीन होने के कारण मानवीय गुणों से अनभिज्ञ रहता है, शिक्षा ही उसके स्वभाव को शुद्ध और सुसंस्कृत अर्थात् संस्कारों से युक्त बनाती हुई द्विजत्व प्रदान करती है**[1], अर्थात् पाप और पुण्य के भेद को जानने की क्षमता प्रदान करती है। क्षमता की अभिवृद्धि अध्ययन-अध्यापन यजन-याजन और दान-प्रतिग्रह आदि छः कर्मों द्वारा ही की जा सकती है, जिसमें आचार्य अहम भूमिका का निर्वाह करता है। इसीलिए आचार्य मनु ने **यज्ञोपवीत संस्कार से लेकर उन समस्त यज्ञ-विद्याओं आौर उपनिषदों के रहस्यों अर्थात् आत्म-विद्या का परिज्ञान कराने वाले विशिष्ट ज्ञान-गुण सम्पन्न व्यक्ति को आचार्य माना है**[2]। याज्ञवल्क्याचार्य ने गुरु की महिमा को चित्रित करते हुए शिष्य के उपकारक के रूप में निर्दिष्ट किया है तथा कहा है कि **गुरु का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने शिष्य को उपनीत कर (यज्ञोपवीत संस्कार युक्त कर) महाव्याहृति पूर्वक वेद का अध्ययन करायें तथा शौच और आचार की शिक्षा दें**[3]। यही वेदादेश है, जिसे स्मृतिकारों ने अपने स्मृतिवचनामृत द्वारा लोक में प्रसारित करने का सफल प्रयास किया है।

---

1. जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥

2. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

मनुस्मृति - 2/140

3. उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्॥

याज्ञवल्क्य स्मृति (ब्रह्मचारिप्रकरण) - 15

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पञ्चम वेद के रूप में विख्यात महाभारत, रामायण एवं पुराणों तथा सुविशाल स्मृतिसाहित्य में उपनिषद् शब्दावली का उपबृंहण करते हुए आचार्यों ने स्वाध्याय और प्रवचन का उपदेश दिया है। इन वेदानुगामी शास्त्रों में वैदिक शिक्षा के विवेचन द्वारा ऋषि-मुनियों और आचार्यों ने जन-समुदाय को आध्यात्मिकता का पाठ पढ़ाया है तथा नित्य-नैमेत्तिक कर्मों के विधान द्वारा आचार में शुद्धता, व्यवहार में स्वच्छता और आत्म-निर्भरता हेतु व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान किया है। इस सम्बन्ध में आचार्य मनु ने आदेश दिया है कि **गुरु को चाहिये की शिष्य का यज्ञोपवीत करके उसे शौच, आचार, अग्निसेवा तथा संध्योपासना सिखावे** [1]। सीखने-सिखाने की इस विधा को अध्यापन प्रणाली के नाम से अभिहित किया गया है, जिसके अन्तर्गत आचार्य शिष्य को धर्म-ज्ञान, अर्थ-लोभ और परोपकारार्थ सेवा के लिए शिक्षित करता है। अतः स्वाध्याय और प्रवचन काल में प्रमाद नहीं करना चाहिए [2], ऐसा पूर्वाचार्यों ने उपदेश दिया है। वेदाध्यायन की अवधि का निर्धारण करते हुए आचार्य गौतम ने कहा है कि **एक-एक वेद के अध्ययन में बारह-बारह वर्ष लगाए और इन सभी वर्षों में ब्रह्मचर्य का पालन करे अर्थात् जब तक सब वेदों का ज्ञान न हो जावे तब तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए उनका अध्ययन करे। विद्या की समाप्ति पर गुरु को धन देकर सम्मानित करे, तत्पश्चात गुरु की आज्ञा से वह स्नान करके स्नात (स्नातक) हो जाता है। आचार्य गुरुजनो में श्रेष्ठ होता है। कुछ का मत है कि माता गुरुजनों में श्रेष्ठ होती है** [3]।

---

1. उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च॥

मनुस्मृति - 2/69

2. 'स्वाध्यायान्माप्रमदः। तैत्तिरीयापेपनिषद् (शिक्षावल्ली) - 1/11

3. द्वादशवर्षाण्येकैकवेदे ब्रह्मचर्यं चरेत् प्रतिद्वादशवर्षेषु ग्रहणान्ते वा। विद्यान्ते गुरुरर्थेन निमन्त्रणीः। ततः कृतानुज्ञानस्य स्नानम्। आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणां मातेत्येके॥

गौतमस्मृति - 2/11

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विवाह-संस्कार गृहस्थ- आश्रम का मूल-मन्त्र है, जिसके अनुष्ठान से पति-पत्नी एकमनस् होकर समर्पण की भावना से लोकाचार का निर्वाह करते हुए मृत्यु-पर्यन्त जीवन-यापन करते हैं। इसी वैशिष्ट्य के कारण धर्मावलम्बियों ने गृहस्थ-आश्रम को अन्य आश्रमों का आधार स्तम्भ मानते हुए, उनके पोषण का निर्देश दिया है। इस सम्बन्ध में आचार्य मनु ने **गृहस्थ-पद** के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके समर्थन में कहा है- **जिस प्रकार सभी जीवधारी वायु से पोषण प्राप्त करके जीते हैं उसी प्रकार सभी आश्रमों के सदस्य गृहस्थ से पोषण प्राप्त करके जीते हैं**[1], व्यवहार में भी देखा जाता है कि बच्चों के लालन-पालन से लेकर वानप्रस्थियों तथा संन्यासियों एवं साधु-सन्तों के भरण-पोषण का दायित्व गृहस्थ ही वहन करता है। गृहस्थ-धर्म को वहन करने वाली माता, प्रमुख इकाई के रूप में बालक और घर के अन्य सदस्यों का पोषण करती है तथा सेवा-शुश्रषा आदि के माध्यम से विभिन्न अवस्थाओं के पारिवारिक सदस्यों के प्रति आदर-सत्कार की भावना को प्रकट करती है। अतिथि सेवा जिसे मानव यज्ञ के रूप में वैदिक ऋषियों ने प्रतिष्ठित किया है, का गृहस्थ जीवन में निर्वाह करते हुए अतिथि को समुचित आसन प्रदान करती है। वानप्रस्थ और संन्यासी को उनकी आवश्यकतानुसार उपहार और अन्नादि प्रदान कर सन्तुष्ट करती है तथा मुखिया के रूप में पुरुष पारिवारिक आवश्यकताओं के अनुरूप संसाधनों को जुटाने का प्रयत्न करता है। इसीलिए आचार्य मनु ने गृहस्थ धर्म के निर्वाह करने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में कहा है - **क्योंकि तीन अन्य आश्रमों के व्यक्ति गृहस्थ द्वारा उपहारों तथा**

---

1. यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

मनुस्मृति - 3/77

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥

मनुस्मृति - 6/90

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्न को प्राप्त करके नित्य प्रति पोषित होते हैं, अतः गृहस्थ आश्रम सभी आश्रमों में श्रेष्ठ है [1]। महर्षि ने आगे कहा है- **वेदों और स्मृतियों के अनुसार गृहस्थ अन्य आश्रमों से उत्कृष्ट घोषित किया गया है, क्योंकि वह अन्य तीनों के भार को वहन करता है** [2]। नीति निपुण आचार्य मनु ने सामाजिक उत्तरदायित्व से विमुख होने तथा गृहस्थाश्रम का असामयिक परित्याग करने की प्रत्येक प्रवृत्ति की भर्त्सना करते हुए कहा है कि- **जो व्यक्ति बिना वेदों का अध्ययन किये, बिना सन्तानोत्पादन किये और बिना यज्ञ किये अन्तिम पुरुषार्थ के रूप में मोक्ष को ढूंढता है, वह पतन की ओर उन्मुख होता है** [3]। इस अधःपतन से बचने के लिए महर्षि पराशर ने स्मृति-वाक्य द्वारा गृहस्थ के लिए आदेश दिया गया है कि **देव-पूजन, अतिथि-सत्कार और वैश्वदेव नामक कर्म अनिवार्य रूप से सम्पादित करने चाहिए** [4], ये महर्षि-उपदेश वेदों का ही उपबृंहण करते हैं, जिनमें यज्ञानुष्ठान के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार का मार्ग प्रस्तुत किया गया है।

---

1. यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥

मनुस्मृति - 3/78

2. सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्चते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि॥

मनुस्मृति - 6/89

3. ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥
अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः॥

मनुस्मृति - 6/35-37

4. सन्ध्या-स्नानं जपो होमो देवतातिथिपूजनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च षट् कर्माणि दिने दिने॥

पराशर - स्मृति - 1/39

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेद-प्रतिपादित ब्रह्मचर्य व्रत और गृहस्थ के धर्म का विवेचन करने के अनन्तर आचार्य मनु-याज्ञवल्क्य-गौतम आदि ने वानप्रस्थ-आश्रम का सेवन करने वाले व्यक्तियों के कार्यों का निरूपण करते हुए वैदिक निर्देशों का उपबृंहण किया है। वानप्रस्थ धर्म के अनुपालन के सम्बन्ध में आचार्य मनु ने कहा है कि **जब गृहस्थ अपने शरीर पर झुरियाँ देखे, उसके बाल पक जायें और जब उसके पुत्रों के पुत्र हो जाये तो उसे वन की राह लेनी चाहिए** [1]। इस विषय में टीकाकारों के विभिन्न मत हैं, कुछ आचार्य मनु प्रतिपादित सिद्धान्त का ही समर्थन करते हैं, तो कुछ मनु प्रतिपादित चिह्नों में से किसी एक चिह्न के झलकने पर तथा कुछ 50 वर्ष की अवस्था प्राप्त होने पर वानप्रस्थी होने का उपयुक्त समय निर्धारित करते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ नामक तीन आश्रमों की ओर संकेत मिलता है [2]। सम्भवतः इस उपनिषद् ने संन्यास को चौथे आश्रम के रूप में ग्रहण नहीं किया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी जहाँ सांसारिक मोह-माया के त्याग, भिक्षा-वृत्ति और परब्रह्म के ध्यान पर बल अवश्य दिया गया है, किन्तु इस प्रकार की धारणा के साथ **संन्यास** नामक किसी आश्रम की चर्चा नहीं की गई है। हाँ, जाबालोपनिषद् ने संन्यास को चौथे आश्रम के रूप में रुच्यधीन ग्रहण करने का निर्देश देते हुए उसे प्रथम दो आश्रमों में किसी के उपरान्त अपनाने का निर्देश दिया है। अतः श्रुति-स्मृति वाक्यों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि स्मृति-वाक्यों द्वारा श्रुति-वाक्यों का ही उपबृंहण किया गया है। उपबृंहण के इस उपक्रम में न केवल वर्णाश्रम व्यवस्था और उससे सम्बन्धित संस्कारों को ही ध्येय नहीं

---

1. गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत्॥
मनुस्मृति - 6/2

2. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।
छान्दोग्योपनिषद् - 2/23/1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बनाया गया है, अपितु सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए राजतन्त्र की विधा का प्रतिपादन भी किया गया है तथा इष्टापूर्ति आदि की विधा द्वारा वास्तुकला का भी विवेचन किया गया है, जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण वाङ्मय वेद का उच्छिष्ट है, उच्छिष्ट होने के कारण उसने वेद-वाणी (देव-वाणी) का उपबृंहण ही किया है।

वेदानुगामी शास्त्रों के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने वेद-प्रतिपादित तथ्यों का गम्भीर मनन कर शास्त्रों की संरचना की है। समस्त भारतीय-चिन्तन-परम्परा की दो धाराएं वैदिककाल से प्रवर्तित मानी जाती हैं। तथ्यों का साक्षात्कार करने वाले चिन्तक **ऋषि** कहलाते हैं तथा ऋषियों द्वारा प्रस्तुत तथ्यों का मनन कर विवेचन करने वाले मनीषियों की संज्ञा **मुनि** है। इस ऋषिधारा एवं मुनिधारा के चिन्तन में सर्वथा एकरूपता रही है। यही कारण है कि परवर्ती युग में ऋषि एवं मुनि शब्द समान रूप से चिन्तक के वाचक के रूप में प्रयुक्त होने लगे। वेद का चिन्तन ऋषिधारा का प्रतीक है तथा शास्त्रों द्वारा प्रस्तुत चिन्तन में मुनिधारा लक्षित होती है। दोनों चिन्तनधाराओं के द्वारा प्रकाशित तथ्यों की एकरूपता के आधार पर इन शास्त्रों की वेदानुगामिता स्वतः सिद्ध है। इन वेदानुगामी शास्त्रों में प्रकाशित शिक्षातत्त्व-विवेचन में भी वेदानुगामिता स्पष्ट झलकती है।



Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अध्याय 6

प्राचीन शिक्षा प्रणाली का रहस्य

वैदिक कालीन और प्राचीन शिक्षा पद्धति के रहस्य को जानने के लिए जिन बातों को जानना, पहचानना एवं हृदयंगम कर लेना आवश्यक है वे हैं - शास्त्र एवं शिक्षा, प्राचीन गुरुकुल प्रणाली में वेद, उपवेद, उपनिषद् एवं शास्त्रों के अध्यापन के साथ-साथ शिष्य के व्यक्तित्व के विकास और उसके दृष्टिकोण को व्यापकं एवं सकारात्मक बनाने पर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाता था।

लोक और परलोक दोनों में प्रगति के लिए, जीवन की समस्या एवं संकटों के समाधान के लिए, प्राणीमात्र को अधिकतम सुविधा एवं सुरक्षा उपलब्ध कराने के लिए या इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट परिहार के लिए जो स्वस्थ, सशक्त एवं सकारात्मक दृष्टिकोण होना चाहिए, उसका विकास शास्त्र एवं उनकी शिक्षा द्वारा किया जाता था।

शास्त्र - उन सत्यों, सिद्धान्तों, वादों, विधियों एवं प्रविधियों का ज्ञान है, जो सफलता या सिद्धि के लिए आवश्यक होते हैं। यह लिखित एवं श्रुत परम्परागत दोनों रूपों में उपलब्ध है। इसका मर्म अन्तःस्थ में विद्यमान रहता है और उस अन्तःस्थ ज्ञान का विकास एवं उसका उपयोग करने की प्रविधि का नाम शिक्षा है।

हमारे समग्र ज्ञान का श्रेष्ठतम शास्त्र है- **वेद**, जो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में गुप्त रूप से विद्यमान है, उसके आस-पास के वातावरण में ज्ञानियों में श्रुत-परम्परा से प्रचलित है और जो इष्टप्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहारों के उपायों का ज्ञानकोश है।

इस शास्त्र की दो विशेषताऐं हैं - पहली यह कि विधि-निषेधों के माध्यम से स्पष्ट निर्देश देते हुए यह अपने अनुशासन से छात्र को

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मार्ग-च्युत नहीं होने देता और दूसरी यह कि यह उसके अन्तःकरण में गुह्य रूप से विद्यमान रहता है। क्योंकि ऐसा कोई ज्ञान किसी भी व्यक्ति को मात्र बुद्धि से नहीं सिखाया जा सकता, जो उसके अन्तःकरण में पहले से बीजरूप में विद्यमान न हो। व्यक्ति की विविध ज्ञानों के प्रति अभिरूचि, उत्कण्ठा, सक्रियता एवं क्षमता का तारतम्य इस बात का साक्ष्य है कि विविध ज्ञान एवं शास्त्र व्यक्ति के अन्तःकरण में नैसर्गिक रूप से गुह्य या बीज रूप में विद्यमान रहते हैं। इसलिए जो व्यक्ति जिस शास्त्र का विद्वान् या विशेषज्ञ होता है, उसमें वह शास्त्र या ज्ञान बीजरूप में विद्यमान रहता है और समय के साथ-साथ मनोयोग पूर्वक प्रयत्न करने से वह अंकुरित, विकसित एवं फलित होता है।

यदि ऐसा न होता तो हर व्यक्ति हर शास्त्र का विद्वान् या विशेषज्ञ हो जाता। लाख प्रयत्न करने पर भी सब लोग सब शास्त्रों को भली-भांति हृदयंगम नहीं कर पाते, क्योंकि उनमें वह शास्त्र पहले से बीजरूप में विद्यमान नहीं है। चाहे पराशर, गर्ग, जैमिनी, कपिल, कणाद एवं पतंजलि जैसे ऋषि हों या जेम्सवाट, न्यूटन, थामस, एडिसन या आइन्स्टीन जैसे वैज्ञानिक हों - इनके अन्तःकरण में शास्त्रीय ज्ञान पहले से ही बीजरूप में विद्यमान था, जिसको मनोयोग एवं सतत अभ्यास से विकसित कर इन्होंने कालजयी सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया।

वस्तुतः हमारा श्रेष्ठतम ज्ञान मनुष्य के हृदय में गुप्त रूप से या प्रसुप्त रूप से विद्यमान रहता है। उस सनातन ज्ञान का कमल हमारे अन्दर बन्द या संकुचित कमल-कली के रूप में विद्यमान रहता है। जब एक बार मानव का मन सनातन शक्ति की ओर देखना प्रारम्भ करता है अथवा छात्र की निष्ठा एवं भक्ति से अभिभूत होकर गुरु उस पर कृपा करता है तो क्रमिक एवं लगातार होने वाली अनुभूतियों द्वारा ज्ञान कमल कभी एक-एक दल करके और कभी पूरा का पूरा शीघ्रता से खुल जाता है। उसके बाद सम्पूर्ण जीवन, समस्त विचार और निर्णय तथा सम्पूर्ण आचार एवं अनुभव - चाहे वे निष्क्रिय हों या सक्रिय लौकिक हों या

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पारलौकिक एवं वैयक्तिक हों या सर्वजनीय-ऐसे सशक्त साधन बन जाते हैं, जिनके द्वारा अज्ञान का आवरण भंग हो जाता है।

साधारणतया इस आत्म प्रकाश या आत्मज्ञान का साधन श्रुत शब्द है, जिसे शब्द ब्रह्म कहते हैं। यह शब्द अन्दर से भी आ सकता है और बाहर से भी। परन्तु दोनों अवस्थाओं में यह हमारे अन्तःस्थित गुप्त ज्ञान को जगाने और क्रियाशील बनाने का कारण मात्र होता है। अन्दर से आने वाला शब्द अन्तरात्मा का संकेत है- यह सबके हृदय में वास करने वाले ईश्वर की प्रेरणा है। केवल इस संकेत को जानने, पहचानने और उसका उपयोग करने की आवश्यकता है। शिष्य अपने मनोयोग एवं अभ्यास द्वारा इसको जान और पहचान सकता है तथा वह अपने गुरु के निर्देशानुसार उसका उपयोग कर सकता है।

अन्तः से आने वाले शब्द का विकास एवं परिष्कार करने के लिए बाहर से आने वाले शास्त्रीय या अनुभवजन्य शब्द की सहायता ली जाती है। यह शब्द या तो प्राचीन ऋषियों या आचार्यों का होता है अथवा वर्तमान किसी महान् गुरु का शक्तिशाली शब्द होता है। कुछ शिष्यों के लिए यह शब्द उनके अन्तःकरण में प्रसुप्त ज्ञान को जाग्रत एवं क्रियाशील करने का अवलम्बन मात्र होता है। अर्थात् बाह्य शब्द, जो शास्त्र या गुरु का वचन है; अन्तःकरण में प्रसुप्त ज्ञान को जाग्रत एवं सक्रिय कर उसको अभिव्यक्ति देने का निमित्त होता है। वस्तुतः शब्द चाहे अन्तःकरण से या बाहर से सम्बद्ध हो - ये दोनों एक-दूसरे के पूरक या कभी-कभी अन्योन्याश्रित होते हैं और ये दोनों मिलकर व्यक्ति के मानस पर पड़े हुए अज्ञान के आवरण को हटाते हैं।

पुराणों में वर्णन मिलता है कि देवकी पुत्र श्रीकृष्ण को महान् ऋषि एवं सान्दीपनि गुरु से शब्द प्राप्त हुआ और उससे उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने स्वयं मनोयोग एवं अभ्यास द्वारा अपने अन्तःकरण से ज्ञान का प्रकाश पाने के बाद विभिन्न गुरुओं से दीक्षा ली और वह ज्ञान अपने सुयोग्य शिष्य विवेकानन्द को दिया।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिक्षा के क्षेत्र में प्रारम्भ से ही अन्तःशब्द से प्रेरणा लेकर ज्ञान प्राप्त करने वाले शिष्य गिने-चुने ही होते हैं। अधिकतर विद्यार्थी शास्त्र, ऋषि एवं गुरु के वचन रूपी बाह्य शब्द के माध्यम से अन्तःज्ञान को जाग्रत करते हैं। इस प्रक्रिया में शास्त्र उनका तत्त्व या ज्ञान से परिचय कराता है और गुरु के सशक्त मार्ग निर्देशन में मनोयोग पूर्वक अभ्यास से अन्तःकरण में स्थित ज्ञान से उसका सामञ्जस्य होता है। इस प्रकार इन दोनों का सामञ्जस्य तत्त्व-ज्ञान या यथार्थ बोध का जनक है।

प्राचीन वैदिक शिक्षा पद्धति में यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई भी लिखित शास्त्र - चाहे उसकी प्रामाणिकता कितनी ही बड़ी और उसके नियम कितने ही अनुशासित या उदार क्यों न हों - वह सनातन अन्तःज्ञान का एक अंश मात्र है। जो शास्त्र या ग्रन्थ जितना गम्भीर, विशाल और सन्तुलित एवं उदार होगा; उसका उतना ही व्यापक, दीर्घकालीन और सार्थक प्रभाव जिज्ञासुओं पर पड़ता है।

सत्य के उच्चाति-उच्च विविध स्वरूपों और परम-अनुभूतियों की ओर सशक्त संकेत देकर शास्त्र-ज्ञान के गूढ़ और तंग द्वार को खोलता है और फिर विधि-निषेधों, अनुशासन एवं नियमों की मर्यादा के माध्यम से यह ज्ञान के समस्त पक्षों से परिचित करवाता है। इसलिए यथार्थानुभव या ज्ञान के लिए शास्त्र और शास्त्रीय ज्ञान आवश्यक है। किन्तु यह शास्त्रीय ज्ञान अन्ततोगत्वा अन्तःज्ञान तक पहुँच कर उसमें अपने स्वत्व को विसर्जित कर देता है। अतः शिक्षा के क्षेत्र में शास्त्रीय ज्ञान एक साधन तो है, पर वह साध्य नहीं है।

वैदिक परम्परा में शास्त्र दो रूपों में मिलता है- (i) लिखित रूप में और (ii) श्रुत परम्परा के रूप में। शास्त्र चाहे लिखित रूप में हो या गुरु परम्परा अथवा श्रुत परम्परा से प्राप्त हो- वह ज्ञान एवं ज्ञेय के बारे में समग्र जानकारी देता है। शिष्य को ज्ञान, ज्ञान का मार्ग, उसकी प्रक्रिया एवं उसका परिणाम इन सब की जानकारी शास्त्रों से मिलती है। भारत वर्ष में ऐसे लिखित एवं श्रुत-परम्परा गत शास्त्रों की बड़ी मान्यता है और लोग उन पर बड़ी श्रद्धा एवं विश्वास रखते हैं।

Kirtikant Sharma Collection, Jaipur

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस विषय में सारांश में यह कहा जा सकता है कि लिखित या परम्परागत रूप से प्राप्त शास्त्र अनेक सहस्राब्दियों का अनुभव है, जिसे निष्ठावान् जिज्ञासुओं और तत्त्वज्ञ गुरुओं ने क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित कर हमें उपलब्ध कराया है। अतः इसका महत्त्व और उपयोगिता असंदिग्ध है। किन्तु ज्ञान-साधना के स्वरूप, प्रक्रिया या मार्ग में नया परिवर्तन, परिवर्धन या नये आयामों के विकास की स्वतन्त्रता सदैव व्यवहार्य है। अगर ऐसा न होता, तो एक शास्त्र में अनेक ग्रन्थों की रचना न होती, विषयों एवं वादों का खण्डन-मण्डन न होता और नियमों एवं सिद्धान्तों में समयानुसार परिवर्तन न होते।

सत्य तो यह है कि ज्ञान को किसी लिखित या परम्परागत शास्त्र से सर्वदा के लिए बाँध देना इसलिए आवश्यक नहीं है, क्योंकि यह एक ओर जहाँ भूतकाल के अनुभवों को अपनाता है, वहाँ दूसरी ओर यह वर्तमान एवं भविष्य के लिए तात्कालिक परिस्थिति और समय के साथ सामञ्जस्य करते हुए नवीन एवं उपयोगी आयामों को स्थापित करने की चेष्टा करता है। ज्ञान के मार्ग में लगातार आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि प्राचीन अनुभूतियों और जानकारियों को नये-नये सन्दर्भों में देख-देख कर उनके निष्कर्षों को नये शब्दों और नये रूपों में निरूपित करने की स्वतन्त्रता हो। क्योंकि यह ज्ञान जीवन और जगत् के समस्त पहलुओं को अपने अन्दर समाविष्ट करना चाहता है, इसलिए इसकी अवस्था उस यात्री जैसी नहीं है, जो पूर्व निर्मित राजमार्ग से सीधे अपने गन्तव्य स्थान को जाता है, बल्कि कम से कम इस हद तक एक ऐसे मार्ग ढूँढ़ने वाले पथिक की तरह है, जो किसी निर्जन एवं गहन जंगल के भीतर रास्ता निकालता और बनाता हुआ चल रहा हो। कारण यह है कि काल के परिवर्तन के साथ परिस्थिति और उसके साथ मानव की मनःस्थिति में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। यही कारण है कि हमारे पूर्वजों ने वैदिक संहिता एवं उपनिषद् जैसे सशक्त दार्शनिक चिन्तन के रहते हुए भी शुल्बसूत्र, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र एवं वेदाङ्ग शास्त्रों की रचना की।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हमारा शास्त्र कैसा होना चाहिए? इस प्रश्न का तथ्य परक उत्तर यह है कि उसमें जिज्ञासु को देश-काल, परिस्थिति और मनः स्थिति के अनुसार ज्ञान का मार्ग चयन एवं अवलम्बन की अबाधित स्वतन्त्रता होनी चाहिए। स्वतन्त्रता के बिना न तो यथार्थ ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है और नहीं उसका मानव जीवन में उपयोग ही किया जा सकता है। ज्ञान के मार्ग में यदि ऐसी स्वतन्त्रता न होती तो मानव मात्र के लिए एक ही शास्त्र होता, ज्ञान की एक ही प्रविधि होती और ज्ञान का एक ही मार्ग होता, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। जगत् में अनेक शास्त्रों का होना, एक ही शास्त्र की अनेक शाखाओं का होना, एक शाखा में अनेक ग्रन्थों का होना और प्रत्येक ग्रन्थ में अनेक वाद एवं सिद्धान्तों का होना- इस बात का साक्ष्य है कि ज्ञानार्जन के लिए देश, काल, पात्र, परिस्थिति एवं मनःस्थिति के अनुरूप अपने मार्ग या साधन का चयन करने में बिना किसी बाधा के पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है।

इस स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता, स्वेच्छाचारिता या मनमानी नहीं समझना चाहिए, क्योंकि शास्त्र एक अनुशासन है और यह चिन्तन, मनन एवं आचरण में अथ से इति तक विद्यमान रहता है। प्रारम्भ में जिज्ञासु या विद्यार्थी को शास्त्र के नियम एवं ज्ञानियों के प्राचीन अनुभवों का आश्रय लेना चाहिए। क्योंकि इनके बिना वह न तो अपना लक्ष्य निर्धारित कर सकता है और नहीं अपना सही-सही मार्ग पकड़ सकता है। ज्ञान का क्षेत्र असीमित एवं व्यापक होने के कारण प्रारम्भ में अनेकानेक कठिनाइयाँ और कभी-कभी किंकर्तव्य-विमूढ़ता की स्थिति सामने आ जाती है। इससे बचने के लिए शास्त्र का आश्रय लेना चाहिए। क्योंकि शास्त्र उन सत्यों, सिद्धान्तों, विधियों एवं नियमों का तर्कपूर्ण और सोदाहरण निरुपण करता है, जो ज्ञान के लिए आवश्यक हैं।

शास्त्र का एक आदर्श उदाहरण - योग - जीवन और जगत् के जितने भी पक्ष हो सकते हैं, उतने या उससे अधिक शास्त्र हो सकते हैं। क्योंकि जीवन या जगत् के एक ही पक्ष का विचार करने वाले अनेक

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शास्त्र होते हैं; धर्म, दर्शन एवं चिकित्सा का प्रतिपादन करने के लिए अनेक शास्त्र उपलब्ध हैं।

यद्यपि प्रत्येक शास्त्र का महत्त्व एवं उसकी उपादेयता असीमित है। अतः किसी भी शास्त्र की दूसरे शास्त्र के साथ तुलना करना और कमी निकालना या माहात्म्य बतलाना - उचित नहीं होता। फ़िर अनेक या अनन्त शास्त्रों में आदर्श शास्त्र का निर्धारण करने के लिए कुछ आधार भूत कसौटियों पर इनकी जाँच-परख करना कभी-कभी अपरिहार्य हो जाता है।

शास्त्र के लिए आवश्यक है कि वह यथार्थ अनुभव पर आधारित हो और वह अपने वाद, सिद्धान्त, प्रविधि एवं नियमों के अनुशासन से प्रतिबद्ध होते हुए भी सत्य एवं तथ्य के प्रति लचीला हो। ये सभी गुण योगशास्त्र में विद्यमान हैं। अतः इस शास्त्र को आदर्श शास्त्र कहा जा सकता है।

वस्तुतः योग शास्त्र यथार्थानुभव की भित्ति पर आधारित है, इसके समस्त वाद, सिद्धान्त एवं नियम अनुशासन के सूत्र से बंधे हैं, यह क्रियात्मक विज्ञान है और इसके अनेक भेदोपभेद सत्य के प्रति इसके लचीले पन के साक्ष्य हैं।

वैदिक परम्परा में सोपान भेद से योग पाँच प्रकार का माना गया है।

(क) मन्त्र योग

(ख) हठ योग

(ग) लय योग

(घ) राज योग

(ङ) अष्टांग योग

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपासना या साधना के भेद से इसके तीन प्रमुख भेद माने जाते हैं-

(क) भक्ति योग

(ख) ज्ञान योग

(ग) कर्म योग

मन्त्र योग - मन्त्र योग संहिता के अनुसार साधक एवं साध्य में अन्तराभाव योग है[1]। जब तक साधक एवं साध्य अथवा भक्त एवं इष्टदेव में अन्तर विद्यमान है, तब तक योग नहीं है। जब इन दोनों में अन्तर नहीं रहता, तभी योग होता है। इसका मुख्य साधन **मन्त्र** है। अतः यह **मन्त्र योग** कहलाता है।

मन्त्र योग के सोलह सोपान हैं - 1. भक्ति 2. शुद्धि 3. आसन 4. पंचांग सेवन 5. आचार 6. धारणा 7. दिव्य देश सेवन 8. प्राणक्रिया 9. मुद्रा 10. तर्पण 11. हवन 12. बलि 13. याग 14. जप 15. ध्यान और 16. समाधि[2]।

हठयोग - हठ योग दीपिका के अनुसार इसके सात अंग होते हैं - 1. षट् कर्म 2. आसन 3. मुद्रा 4. प्रत्याहार 5. प्राणायाम 6. ध्यान एवं 7. समाधि[3]।

---

1. अन्तराभावत्वं योगत्वम्।

2. भक्तिः शुद्धिराचासनं च पंचागस्यापि सेवनम्।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि ।।
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडशः ।।

मन्त्रयोगसंहिता

3. षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्रणसंयामः।
ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठयोगस्य ।।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हठयोग की प्रक्रिया में साधक षट् कर्म द्वारा शरीर शोधन, आसन के द्वारा दृढ़ता, मुद्रा से स्थिरता, प्रत्याहार से धीरता, प्राणायाम द्वारा लाघव, ध्यान द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष और समाधि द्वारा निर्लिप्तता और मुक्ति प्राप्त करता है[1]। हठ योग में - 1. धौति 2. वस्ति 3. नेति 4. लौलिकी 5. त्राटक और 6. कपाल भाति-ये छः क्रियाऐं षट् कर्म कहलाती हैं। मन्त्र योग में समाधि को महाभाव और हठयोग में समाधि को महाबोध कहा जाता है।

लययोग - लययोग में **यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे** के अनुसार पिण्डज्ञान से ब्रह्माण्ड का ज्ञान होने के बाद योग क्रिया द्वारा मूलाधार या आधार पक्ष में प्रसुप्त कुलकुण्डलिनी को जाग्रत कंर सहस्रार में स्थित पुरुष के पास ले जाना लययोग कहलाता है।

इस योग के नौ अंग होते हैं - 1. यम 2. नियम 3. स्थूलक्रिया 4. सूक्ष्मक्रिया 5. प्रत्याहार 6. धारणा 7. ध्यान 8. लयक्रिया और 9. समाधि[2]। इस योग में यम एवं नियम अष्टांग योग के समान है। स्थूल शरीर प्रधान क्रिया को **स्थूल क्रियां** और वायुप्रधान क्रिया को **सूक्ष्म क्रिया** कहते हैं। बिन्दुमय प्रकृति पुरुषात्मक ध्यान को **बिन्दुध्यान** कहते हैं। यह ध्यान **लय योग** का प्रमुख सहायक है। लययोगानुकूल अतिसूक्ष्म सर्वोत्तम क्रिया, जो केवल जीवन्मुक्त योगियों के उपदेश से

---

1. षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनः।
समाधिना त्वलिप्तत्वं मुक्तिश्चैव न संशयः॥
हठयोग दीपिका

2. यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा।
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानञ्चापि लयक्रिया॥
समाधिश्च नवाङ्गानि लययोगस्य निश्चितम्॥
योगतन्त्र

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही प्राप्त होती है- **लयक्रिया** कहलाती है। लयक्रिया के साधन द्वारा प्रसुप्त **कुलकुण्डलिनी** नामक महाशक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्म में लीन होती है। इनकी सहायता से जीव शिवत्व को प्राप्त होता है। **लयक्रिया** की सिद्धि से **महालयरूपी समाधि** की उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है [1]।

राजयोग- सब योग साधनों का राजा होने के कारण यह योग **राजयोग** कहलाता है [2]। षोडशकला से पूर्ण राज योग के सोलह अंग हैं। सप्तज्ञान भूमिकाओं के अनुसार सात अंग हैं। ये सब विचार प्रधान हैं। धारणा के दो अंग हैं - 1. प्रकृति धारणा और 2. ब्रह्म धारणा। ध्यान के तीन अंग हैं - 1. विराट् ध्यान, 2. ईश ध्यान और 3. ब्रह्म ध्यान। समाधि के चार अंग हैं - दो सविचार एवं दो निर्विचार। इस प्रकार राजयोग के षोडश अंगों के साधन द्वारा राजयोगी कृतकृत्य हो जाता है। मन्त्र योग, हठ योग और लय योग, इन तीनों में सिद्धि प्राप्त कर उसके बाद अथवा किसी

---

1. स्थूलदेहप्रधाना वै क्रिया स्थूलाभिधीयते।
वायुप्रधाना सूक्ष्मा स्याद्ध्यानं बिन्दुमयं भवेत्॥
ध्यानमेतद्धि परमं लययोगसहायकम्।
लययोगानुकूला हि सूक्ष्मा सा हि लयक्रिया॥
लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली।
जीवन्मुक्तोपदेशेन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया॥
प्रबुद्ध्य तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशयः।
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधकः॥
लयक्रियायाः संसिद्धौ लयबोधः प्रजायते।
समाधिर्येन निरतः कृतकृत्यो हि साधकः॥

2. राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः। राजयोग संहिता।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक में सिद्धि लाभ करने के बाद साधक को राजयोग का अधिकार प्राप्त होता है [1]।

अष्टांग योग – योग दर्शन या पतञ्जलि के योग सूत्र में प्रतिपादित योग मार्ग अष्टांग योग कहलाता है। इसके आठ अंग हैं – 1. यम 2. नियम 3. आसन 4. प्राणायाम 5. प्रत्याहार 6. धारणा 7. ध्यान और 8. समाधि।

महर्षि पतञ्जलिकृत योग दर्शन में योग के ये आठ सोपान बतलाये हैं। ये उत्तरोत्तर एक दूसरे से ऊँचे हैं और इन पर एक के बाद एक के क्रम से चढ़ता हुआ साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

अष्टांग योग के आठों अंगों का परिचय इस प्रकार है – बहिरिन्द्रियों पर प्रभाव रखने को **यम** कहते हैं। अन्तरिन्द्रियों पर प्रभाव रखने को **नियम** कहते हैं। प्राण और अपान वायु पर प्रभाव डाल कर उनको योगोपयोगी बनाने को **प्राणायाम** कहते हैं। मन को बाहर से खींचकर भीतर की ओर लाने को **प्रत्याहार** कहते हैं। भीतर में मन को ठहरा रखने को **धारणा** कहते हैं। इष्टरूपी ध्येय में मन को लगा रखने को

---

1. कलाषोडशकोपेत राजयोगस्य षोडश।
सप्त चाङ्गानि विद्यन्ते सप्तज्ञानानुसारतः॥
विचारमुख्यं तज्ज्ञेयं साधनं बहु तस्य च।
धारणाङ्गे द्विधा ज्ञेये ब्रह्मप्रकृतिभेदतः॥
ध्यानस्य त्रीणि चाङ्गानि विदुःपूर्वे महर्षयः।
ब्रह्मध्यानं विराट्ध्यानं चेशध्यानं यथाक्रमम्॥
ब्रह्मध्याने समाप्यन्ते ध्यानान्यन्यानि निश्चितम्।
चत्वार्य्यङ्गानि जायन्ते समाधेरिति योगिनः॥
सविचारं द्विधा भूतं निर्विचारं तथा पुनः।
इत्थं संसाधनं राजयोगस्याङ्गानि षोडशः॥
कृतकृत्यो भवत्याशु राजयोगपरो नरः।
मन्त्रे हठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नतः॥
पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नरः॥

राजयोग संहिता

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ध्यान कहते हैं और इष्ट में मन को लीन कर अपने को भूल जाने को समाधि कहते हैं। यह अष्टांगयोग का सार है।

इन आठ अंगों में से चार अंग बाहर के और चार अंग भीतर के हैं। योग साधना के क्षेत्र में इन आठों अंगों का बहुत कुछ विस्तार हुआ है। इन विस्तारों में मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग एवं राजयोग - इन चार श्रेणी के साधनों में इन आठ अंगों में किसी में किसी अंग पर अधिक ध्यान दिया जाता है और दूसरे में किसी दूसरे अंग पर विशेष ध्यान दिया गया है।

भक्ति योग - योगसाधना की दृष्टि से भक्तियोग सर्वोपरि है। इसमें नवधा भक्ति के आठ सोपानों के माध्यम से लक्ष्य (प्रपत्ति) को प्राप्त करने का प्रयास किया गया है। भक्ति योग के आठ सोपान इस प्रकार हैं- 1. श्रद्धा 2. विश्वास 3. भक्ति 4. रुचि (भगवन्नाम के जप और गान में) 5. निष्ठा 6. रति 7. स्थायि-भाव (प्रेम में स्थिरता) और 8. महाभाव (प्रेममय या परम प्रेम)। इनमें से श्रद्धा, भक्ति, पूजा एवं तादात्म्य - ये भक्ति योग के चार पड़ाव हैं और सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य - ये इस योग में मुक्ति के चार रूप हैं।

ज्ञानयोग - ज्ञानयोग की साधना में सात सोपान या सात भूमिकाऐं होती हैं - 1. शुभेच्छा 2. विचारणा 3. तनुमान्सा 4. सत्त्वापत्ति 5. असंसक्ति 6. पदार्थाभाविनी और 7. तुरीया।

शुभेच्छा संसार-सागर के पार होकर आत्म ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा है। ब्रह्म के स्वरूप का अनुसन्धान विचारणा है। मन का सूक्ष्म होना तनुमानसा है। विशुद्धता सत्त्वापत्ति है। असंग - अनासक्ति असंसक्ति है। **तत्त्वमसि** आदि महावाक्यों का मनन निदिध्यासन पदार्थाभाविनी है। परम बोध तुरीया है।

ज्ञानयोग में 1. स्फुरणा 2. हर्ष 3. आदेश 4. प्रत्यक्ष और 5. परमानन्द - ये पाँच आध्यात्मिक अनुभूति की भूमिकाऐं हैं तथा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तमस्, भ्रम, अनन्ताकाश, प्रकाश और अनन्त अद्वयबोध अनुभूति की विशेष भूमिकाएँ हैं।

ज्ञानयोग की इस साधना में - 1. शब्दानुविद्ध 2. शब्दाननुविद्ध 3. दृश्यानुविद्ध 4. दृश्याननुविद्ध 5. बाह्यनिर्विकल्प 6. आन्तर-निर्विकल्प 7. अद्वैतभावनारूप और 8. अद्वैतावस्थानरूप - ये आठ प्रकार की समाधियाँ होती हैं। इनमें से प्रारम्भिक चार सविकल्प और अन्तिम चार निर्विकल्प समाधि हैं।

कर्मयोग - कर्मयोग में फल की इच्छा के त्याग पर बल दिया गया है। इसके लिए दो साधन बतलाये गये है - 1. अभ्यास और 2. वैराग्य। इसमें निष्काम कर्म के माध्यम से अपने चित्त को शुद्ध किया जाता है। इस साधना में कर्मों में कुशलता का नाम ही योग है[1]।

इच्छा से प्रेरित होकर कर्म करना संसारी जीवों का स्वभाव है। किन्तु योगी अभ्यास एवं वैराग्य की उन्नत भूमि पर पहुँच कर सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में समत्व भाव प्राप्त कर लेता है। इससे फल की इच्छा स्वयं विगलित हो जाती है। फिर वह स्थित-प्रज्ञ कर्मार्चन करता है। उसका यह कर्मार्चन नारायण भाव या आत्म भाव से होता है। कभी-कभी वह **यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि** के भाव से भी कर्मार्चन करता है। कर्म करते समय फलाकांक्षा का न होना ही उसकी कुशलता है और यही योग है।

इस कुशलता; जिसे कर्मयोग कहते हैं, से साधक यह अनुभव करता है कि मैं एक निमित्त अथवा ईश्वर के हाथों में करणमात्र हूँ। वह अपने सब कर्म और उनके फल ईश्वर को अर्पित करता है। सब लोगों को देखते हुए वह उनमें ईश्वर को देखता है। अतःस्थित ईश्वर की उसको सर्वत्र और सर्वदा अनुभूति होती है। वह समझता है कि सारा

---

1. 'योगः कर्मसु कौशलम्'। श्रीमद्भगवद्गीता - 2/50

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विश्व विश्वपति का आविर्भाव है - सारा विश्व वृन्दावन है और इस कुशलता या कर्मयोग से वह कर्म फल के बन्धन अर्थात् कर्मानुबन्ध से मुक्त हो जाता है।

शिक्षा - ज्ञान प्राप्ति की प्रविधि का नाम शिक्षा है। किन्तु गुरुकुल की शिक्षा पद्धति और वर्तमान शिक्षा पद्धति में जमीन-आसमान का अन्तर है। गुरुकुल की शिक्षा पद्धति का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का समग्र विकास कर उसका सर्वाङ्गीण कल्याण करना है, जब कि वर्तमान शिक्षा पद्धति का उद्देश्य व्यक्ति को रोजगार करने के लायक बनाना है। इसलिए इन दोनों शिक्षा पद्धतियों की प्रविधियों में आधारभूत अन्तर होना स्वाभाविक है।

गुरुकुल की प्राचीन शिक्षा पद्धति ने रोजगार को नकारा नहीं है, किन्तु उसने अपने आप को रोजगार तक सीमित भी नहीं रखा है। वह मनुष्य के जीवन की समस्या एवं संकटों का समाधान करती हुई मानव मात्र को अधिकतम सुविधा एवं सुरक्षा देने का प्रयत्न करती है तथा लोक एवं परलोक दोनों का कल्याणकारी मार्ग प्रतिपादित करती है। वह लौकिक कल्याण के लिए अविद्या का और पारलौकिक कल्याण के लिए विद्या का आश्रय लेती है। क्योंकि उसका लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष - इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि है। ऐसा महनीय एवं कमनीय उद्देश्य है - गुरुकुल शिक्षा-पद्धति का।

अपने इस आसाधारण उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली ने मानवीय चेतना के समस्त स्तरों का विकास करने पर ध्यान दिया है। कारण यह है कि जैसे गँदले, चंचल और अन्धरे पानी के हौज में पड़ी हुई किसी चीज को अथवा अपनी परछाँई को देखकर भी ठीक-ठीक प्रकार से नहीं पहचाना जा सकता, उसी प्रकार मल, विक्षेप एवं आवरण से युक्त बुद्धि यथार्थानुभव नहीं कर पाती। यथार्थानुभव के लिए चित्त की शुद्धि, मन की स्थिरता और बुद्धि की सूक्ष्मता होनी चाहिए। क्योंकि चित्त की शुद्धि मल का प्रक्षालन करती है, मन की

Kirtikant Sharma Collection, Nagpur

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्थिरता विक्षेप को रोकती है और बुद्धि की सूक्ष्मता आवरण को हटाती है। अतः प्राचीन शिक्षा पद्धति में मल, विक्षेप एवं आवरण को दूर कर चेतना के विकास पर पूरा-पूरा जोर दिया गया है।

इस शिक्षा-पद्धति में बाह्य एवं अन्तःस्थ शास्त्र द्वारा चित्त की शुद्धि आत्मविश्वास एवं निष्ठा द्वारा मन की स्थिरता और सतत अभ्यास द्वारा बुद्धि की सूक्ष्मता के लिए सहज विधि का अवलम्बन किया गया है। यह एक ऐसी सशक्त, सक्षम और परिपूर्ण प्रविधि है, जो मल, विक्षेप एवं आवरण से बुद्धि को मुक्त कर उसको मेधा, प्रज्ञा, प्रतिभा और अन्ततोगत्वा अन्तःश्चेतना (Intuition) के स्तर तक विकसित कर देती है।

इस शिक्षा पद्धति के रहस्य को आत्मसात् करने के लिए जिन तीन तत्त्वों को जानना और पहचानना आवश्यक है, वे तत्त्व हैं -

(क) ज्ञान

(ख) विश्वास एवं निष्ठा

(ग) सतत अभ्यास

ज्ञान - चित्त के ऊपर जमी मल की मैली चादर को धोने के लिए शास्त्र या ज्ञान का जल सशक्त उपाय है। जैसे शरीर के मल का प्रक्षालन करने के लिए प्रतिदिन स्नान किया जाता है, उसी प्रकार चित्त की शुद्धि के लिए ज्ञान की गंगा में अवगाहन किया जाता है[1]। यह दो प्रकार का होता है - 1. अन्तस्थः और 2. बाह्य। बाह्य ज्ञान को साधने के भी दो भेद होते हैं - 1. लिखित एवं 2. श्रुत या परम्परागत, जिनके बारे में पहले चर्चा की जा चुकी है।

---

1. सकृद् गीतामृतस्नानं संसारमलनाशनम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विश्वास – किसी भी प्रक्रिया में चाहे वह ज्ञानार्जन की हो या लौकिक अथवा पारलौकिक सिद्धि की हो – उसमें बाधा, असुविधा और विलम्ब का आना स्वाभाविक है। यदि कोई कार्य निर्धारित समयावधि में योजनानुसार कदाचित् पूरा हो जाय, तो यह एक अपवाद है। अन्यथा प्रत्येक कार्य की योजनानुसार पूर्ति में अनेक विघ्न-बाधाऐं आती ही हैं। ज्ञानार्जन या शिक्षा में धैर्यपूर्वक निरन्तर प्रयत्न करने की दृढ़ता के बिना लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता, इसी दृढ़भाव को विश्वास कहते हैं। यह विश्वास दो प्रकार का होता है – 1. आत्म विश्वास और 2. गुरु में निष्ठा।

आत्मविश्वास– आत्मविश्वास हमारी वैयक्तिक एवं सामूहिक शक्ति का मूल केन्द्र है। इसके बिना न तो लगातार प्रयत्न किया जा सकता है और न ही विषम एवं प्रतिकूल परिस्थितियों का मुकाबला कर लक्ष्य की ओर बढ़ा जा सकता है। चाहे कोई व्यक्तिगत स्पर्धा हो या किसी टीम का मैच- इसमें वही व्यक्ति या दल सफल होता है, जिसमें पूरा-पूरा आत्म विश्वास हो।

शिक्षा की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर यथार्थानुभूति के विकास तक की प्रक्रिया और उसके परिणाम में वैयक्तिक शक्ति की सबसे बड़ी भूमिका रहती है। इस वैयक्तिक शक्ति का नाम आत्मविश्वास है। जिस विद्यार्थी में आत्मविश्वास जितना अधिक होता है, वह उतना ही अधिक यथार्थ का अनुभव कर पाता है। इसके विपरीत जिस छात्र में संशय जितना ज्यादा होता है, वह यथार्थ अनुभव से उतना ही दूर चला जाता है। अतः ज्ञान या यथार्थ अनुभव के क्षेत्र में विद्यार्थी का आत्मविश्वास सफलता की कुंजी है।

वैदिक-शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षा की सार्थकता इसी में है कि विद्यार्थी की वह अहंभावापन्न चेतना, जो विषयों के व्यामोहों में डूबी है, अपनी इस अहंता से मुँह फेर ले और चेतना की उस उच्च स्थिति की ओर अभिमुख हो जाय, जिसमें विश्वचेतना या विश्वातीत चेतना उसकी

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैयक्तिक अनुभूति का विषय बन जाय। इसके लिए आवश्यक है कि विद्यार्थी सांसारिक विषयों एवं व्यामोहों से दृढ़तापूर्वक पीछे हट जाय और यथार्थ को जानने और पहचानने का प्रयत्न करता रहे। सांसारिक विषयों से विरक्ति और व्यामोहों से विमुखता आत्म विश्वास जैसे दृढ़तर भाव से ही सम्भव है। अतः गुरुकुल की शिक्षा में आत्म विश्वास विद्यार्थी का प्रमुख धर्म माना गया है।

विद्यार्थी का यह आत्मविश्वास उसकी संकल्प शक्ति, साधन में निष्ठा, लक्ष्य के प्रति समर्पण और प्रतिकूल परिस्थितियों में अविचलित भाव में परिलक्षित होता है। छात्र की यही संकल्प शक्ति और अध्यवसाय, उसके अहंकार की मोमबत्ती को धीरे-धीरे और लगातार विगलित कर देता है। लक्ष्य के प्रति उसका समर्पण उसके यथार्थ ज्ञान की ओर आगे बढ़ता है और उसका अविचलित भाव शिक्षा में आने वाली बाधाओं और असुविधाओं को नियन्त्रित करता है। इस प्रकार छात्र का आत्म-विश्वास उसकी ऊर्जा का मूल केन्द्र है। जैसे बिजली के चले जाने पर सारे विद्युत् उपकरण ठप्प हो जाते हैं- अर्थात् अपना काम करना बन्द कर देते हैं, ठीक उसी प्रकार आत्मविश्वास के भंग हो जाने पर शिक्षा की सभी गतिविधियाँ ठप्प हो जाती हैं।

शास्त्र एवं गुरुदेव के प्रति निष्ठा- आत्म-विश्वास विद्यार्थी की शक्ति का एक पहलू है, जो उसकी ज्ञान साधना में सक्रियता एवं निरन्तरता प्रदान करता है। जब कि शास्त्र एवं गुरु के प्रति निष्ठा उसकी शक्ति का दूसरा पहलू है, जो उसे पूर्णता प्रदान करता है।

आत्म विश्वास एवं निष्ठा एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न या पृथक् नहीं हैं, बल्कि एक सीमा तक परस्पर सम्बद्ध हैं। उदाहरणार्थ- जब तक छात्र का गुरु के साथ सार्थक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो जाता या जब तक शास्त्र की पंक्तियाँ अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित नहीं होती अथवा ज्ञान एवं गुरु से अन्तरंग सम्बन्ध में किंचित् मात्र भी विचलन रहता है या जब तक यथार्थानुभव के लिए व्यक्तिगत प्रयत्नशीलता की आवश्यकता

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रहती है, तब तक लगातार आत्म-विश्वास की आवश्यकता रहती है। किन्तु जब छात्र का शास्त्र के साथ तादात्म्य हो जाय या जब उसको गुरुदेव की निकटता या कृपा मिल जाय, तब अंहकार के समाप्त हो जाने पर उसका विश्वास ही निष्ठा में परिवर्तित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मविश्वास से अहंकार और उससे व्यामोह विगलित होता है, किन्तु पूर्णरूपेण नष्ट नहीं होता। **आत्मविश्वास** का आत्मपद अहंकार की न्यूनतम मात्रा का सूचक है। इस न्यूनतम मात्रा की समाप्ति कभी शास्त्र के साथ तादात्म्य से, कभी गुरुदेव के आत्मीय स्पर्श से और कभी इन दोनों के सम्मिलित प्रभाव से होती है। इस प्रकार शिष्य का निरहंकार भाव उसके विश्वास को निष्ठा में परिवर्तित कर देता है। तात्पर्य यह है कि आत्मविश्वास एवं निष्ठा एक-दूसरे से कुछ-कुछ भिन्न होते हुए भी एक सीमा तक एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं अथवा यह कह सकते हैं कि ये एक-दूसरे के पूरक हैं।

जिसका एकमात्र उदाहरण एकलव्य का जीवन-व्रत है, जिसके अनुशीलन से यह शिक्षा मिलती है कि गुरु में एक निष्ठ निष्ठा से व्यक्ति अपने परम ध्येय को प्राप्त कर लेता है, जैसा कि एकलव्य के अन्तर में अङ्कुरित गुरु भक्ति, निष्ठा और सच्ची लगन ने आचार्य द्रोण की मूर्ति से धनुर्विद्या में अद्वितीय कौशल प्राप्त हुआ।

गुरु के प्रति निष्ठा का दूसरा उदाहरण महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकव्य में राजा रघु, जो राम के पूर्वजों में थे- के राज्य में आचार्य वरतन्तु के आश्रम में कौत्स अध्ययन करता था, की प्रस्तुति की है। उसने 14 विद्याओं की शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त आचार्य वरतन्तु को गुरु दक्षिणा के रूप में कुछ भेंट करने की अभ्यर्चना की। शिष्य द्वारा बार-बार आग्रह करने पर गुरु ने आक्रोश में कहा कि मैंने तुम को चौदह विद्याएँ पढ़ाई हैं, तुम उनके प्रतिदान में 14 करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ गुरु-दक्षिणा के रूप में प्रदान करो। गुरु के इस आदेश से कौत्स विचलित नहीं हुआ और वह गुरु के प्रति अपनी पूर्ण निष्ठा के साथ

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महाराज रघु के पास गया। महाराजा रघु ने विश्वजित यज्ञ में अपना सर्वस्वदान कर दिया था, जिसके कारण उनके पास केवल मिट्टी के वर्तन अवशेष रह गये थे। उन्होंने उन्हीं पात्रों से अर्घ्यादि देकर कौत्स ऋषि की पूजा की और उन से आगमन का कारण पूछा। पूछने पर कौत्स ऋषि ने महाराजा से कहा कि मैंने गुरु वरतन्तु को गुरु दक्षिणा में 14 करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ देनी हैं, आप उनका दान कराइये। लेकिन रघु के पास तो मिट्टी के बर्तन के अलावा कुछ नहीं था, पर परम्परा के अनुसार कोई ऋषि उनके यहाँ से खाली हाथ कैसे जा सकता था। अतः उन्होंने कुबेर को स्वर्ण मुद्राएँ देने का आदेश दिया। आदेश का अनुपालन करते हुए कुबेर ने असंख्य मुद्राओं की वृष्टि कर दी। राजा रघु ने कौत्स ऋषि से यह सब लेने के लिए कहा, लेकिन कौत्स ऋषि ने 14 करोड़ स्वर्ण मुद्राओं से एक भी अधिक मुद्रा लेने से मना कर दिया। यह दृश्य रघुवंश में बड़ा मार्मिक है। राजा सब मुद्राएँ देना चाहता है, लेकिन कौत्स ऋषि गुरु को देने की मात्रा से एक भी अधिक मुद्रा नहीं लेना चाहता [1]। यह एक बड़ा आदर्श उदाहरण है- एक महान् राजा और एक ऋषि का - जिसमें त्याग, गुरु-भक्ति और निष्ठा का अद्भूत सम्बन्ध है।

सतत अभ्यास - निष्ठा के द्वारा अहंकार और व्यामोहों के विगलित होने पर सतत अभ्यास से अज्ञान का आवरण हट जाता है और इस प्रकार यथार्थ ज्ञान अनुभव का विषय बन जाता है। वस्तुतः ज्ञान के ऊपर अज्ञान की मोटी चादर ढ़की है, जिससे जीव मात्र व्यामोह में फँस जाता है [2]।

---

1. जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिकनिः स्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च॥
रघुवंशमहाकाव्य - 5/31

2. अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।
श्रीमद्भगवद्गीता - 5/15

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शास्त्र और गुरु के प्रति निष्ठा से अज्ञान का आवरण धीरे-धीरे और लगातार हटता है, तब व्यक्ति सत् को सत्, असत् को असत्, नित्य को नित्य, अनित्य को अनित्य, जड़ को जड़ और चेतन को चेतन के रूप में स्वीकार करते हुए यथार्थ अनुभव की ओर बढ़ता है।

वस्तुतः शास्त्र के प्रति निष्ठा से उसका शास्त्र के साथ तादात्म्य बन जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप उसको यह ज्ञान होता है कि उसकी अपनी शक्ति से भिन्न कोई शक्ति, जो उसके अपने अहंकार पूर्ण प्रयत्न और योग्यता से परे की शक्ति है - उसके अन्दर कार्य कर रही है।

तात्पर्य यह है कि शास्त्र के प्रति निष्ठा के कारण जिज्ञासु की इच्छा एवं शक्ति उस उच्चतर शक्ति के साथ एक हो जाती है और इस स्थिति में वह अपनी इच्छा एवं शक्ति को प्रभु-इच्छा और परात्परा विश्वात्मिका शक्ति में विलीन कर देता है। इसके बाद वह स्पष्टरूप से अनुभव करता है कि वह उच्चतर शक्ति उसके मन, बुद्धि, प्राण एवं इन्द्रियों का संचालन निष्पक्ष ज्ञान, तटस्थ भाव और पूर्ण सफलता से कर रही है, जो आतुर एवं आसक्त अहंकार से कभी भी नहीं हो सकता। यही वह यथार्थ अनुभव या ज्ञान है - जहाँ से दुःखों से छुटकारा मिलने की शुरुआत होती है। यह सिद्धि का पूर्वरूप है। इस तरह शास्त्र में निष्ठा एवं सतत अभ्यास से दुःखों की निवृत्ति एवं अभीष्टों की सिद्धि होती है।

वास्तव में देखा जाय तो यह उच्चतर शक्ति हर समय और हर स्थान पर कार्य करती हुई भी हमें हमेशा दिखलाई नहीं देती। कारण यह है कि हमारा अहंकार पूर्ण मन अपनी चंचलता और मलिन चित्तवृत्तियों के द्वारा उस दैवी शक्ति के क्रियाकलापों के साथ त्रुटिपूर्ण या अपूर्ण तादात्म्य स्थापित करता रहता है। वह असाधारण स्तर के अनुभवों का विचार अपनी साधारण मन-बुद्धि के सांसारिक स्तर पर करता है। संसार में हम अहंभाव से प्रेरित होकर संकुचित रूप से कर्म करते हैं और इस

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अहंभाव एवं संकुचित दृष्टिकोण से हम दैवी शक्तियों को अपनी शक्ति समझ लेते हैं। हमारा अहंभाव उस उच्चतर शक्ति के साथ हमारा त्रुटिपूर्ण और हमारा संकुचित दृष्टिकोण उसके साथ अपूर्ण तादात्म्य बना देता है। इसलिए दैवी शक्ति का व्यापक और असाधारण प्रभाव हमें सीमित एवं साधारण लगता है।

यह सत्य है कि जीवमात्र के जन्म-मृत्यु से लेकर उसके मन, बुद्धि एवं शारीरिक क्रिया-कलापों का संचालन कोई उच्च शक्ति करती है, जिसके प्रभाव से न केवल जीव, अपितु पूरा जगत् क्रियाशील है जो सृष्टि से लेकर प्रलय तक की समस्त गतिविधियों की नियन्त्री है और जिसके क्रिया-कलापों को सही ढंग से न समझने के कारण हम उन घटनाओं को संयोग मात्र कह देते हैं। इस उच्चतर या दैवी शक्ति से तादात्म्य स्थापित करने, उसका अनिर्बाध अनुभव करने और इस अनुभूति का यथार्थ-अनुभव का मुख्य साधन सतत अभ्यास है।

इस प्रसंग में यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि जिनको हम अपनी शक्तियाँ समझते हैं - वे सब दैवी शक्ति के प्रतिरूप हैं। हमारे मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों से बने शरीर में जो कुछ भी घटन-विघटन, विकास-ह्रास एवं सक्रियता-निष्क्रियता का मन्द या तीव्र गति से कार्य हो रहा है- उसका संचालन एवं नियन्त्रण दैवी शक्ति के अधीन है। यदि ऐसा न होता और इसका संचालन हमारे मन, बुद्धि के हाथ में होता, तो हमेशा मनोनुकूल या इच्छित फल मिलता। किन्तु बहुत चाहने और पूरा प्रयत्न करने के बाद भी हमें इच्छित फल नहीं मिलता और हजार बार न चाहने एवं लाखों कोशिश करने के बाद भी अनिच्छित फल मिल जाता है। इस बात का साक्ष्य है कि हमारी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्ति हमारे अपने नियन्त्रण में नहीं है; अपितु यह किसी उच्चतर दैवी शक्ति के नियन्त्रण में है।

जब निष्ठा एवं सतत अभ्यास से आज्ञान का आवरण हटता है, तब व्यक्ति पूर्वाग्रहों और अहंकार से पूर्ण रूपेण मुक्त होकर तटस्थ

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भावापन्न होकर दैवी शक्ति के क्रियाकलाप एवं प्रभाव का अनुभव करता है। इस यथार्थ का साक्षात्कार एवं लगातार अनुभव होने से उसके दृष्टिकोण और आकांक्षा दोनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आता है। तब वह न केवल दैवी शक्ति; अपितु उसके केन्द्र बिन्दु प्रभु के निकट पहुँचने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार निष्ठा पूर्वक सतत प्रयत्न करने से यथार्थज्ञान ही नहीं, अपितु निश्चिन्तता, शान्ति और सिद्धि मिलती है।

प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली - जिसने राम, कृष्ण, बुद्ध एवं महावीर जैसे लोकनायकों को कपिल, कणाद, गौतम एवं जैमिनी जैसे ऋषियों को तथा शंकर, वल्लभ, रामानुज और निम्बार्क जैसे आचार्यों को उत्पन्न किया। इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का अवलोकन करना आवश्यक है, जिसके अनन्तर इतिहास पुरुषों के इति-वृत्त को चित्रित किया है।

युग पुरुष के रूप में राम के जीवन-वृत्त को जानना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि उन्हें इतिहास आदर्श पुत्र-भाई-शिष्य-पति और राजा के रूप में मान्यता प्रदान करता है। राम के इस आदर्श स्वरूप के पीछे वैदिक शिक्षा की अवधारणा ही मूल कारण है।

महर्षि वाल्मीकि ने राम-चरित्र के यशोगान के माध्यम से मानव-व्यक्तित्व निर्माण में शिक्षा की भूमिका को इङ्गित किया है। भगवान् राम को वैदिक अध्ययन में संलग्न देखते हुए पिता दशरथ बहुत प्रसन्न हुए और चारों भाई (राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न) धनुर्वेद में भी परिनिष्ठित हुए[1]। कहने का अभिप्राय यह है कि भगवान् राम का व्यक्तित्व वैदिक अध्ययन और उसमें भी धनुर्वेद के ज्ञान की पूर्णता से

---

1. पिता दशरथो हृष्टो ब्रह्मलोकाधिपो यथा।
   ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः॥
   पितृशूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः॥

वाल्मीकिरामायण (बालकाण्ड)-18/36-37

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लोक में आलोकित हुआ, जिसकी पृष्ठ भूमि का निर्माण विश्वामित्र के आश्रम में हुआ, जहाँ आचार्य विश्वामित्र ने राम और लक्ष्मण को **बला और अतिबला** की शिक्षा दी। यह एक प्रकार से शस्त्र और शास्त्र विद्या थी। इन दोनों विद्यायों के पूर्ण ज्ञान से भगवान् राम लोक में सुप्रतिष्ठित हुए। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड में इन दोनों विद्याओं की प्राप्ति का वर्णन है [1]। इससे भगवान् राम की एक शक्तिशाली, ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न राजा के रूप में प्रतिष्ठा हुई। इसी शिक्षा के आधार पर भगवान् श्री राम को समस्त राक्षसों को पराजित करने और रावण का वध करने की शक्ति प्राप्त हुई। भगवान् राम लोक में आज तक मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में पूजे जाते हैं, उनके चरित्र के अनुकरण पर आज भी भारत का समाज सुसंघटित है। पिता-पुत्र के सम्बन्धों, भरत जैसे राज्य का आकर्षण स्वीकार नहीं करने वाले बन्धु, लक्ष्मण जैसे राज्य की सुविधाओं को छोड़कर वनवास में साथ जाने वाले भाई और सीता जैसी धर्मपत्नी के उदाहरण पर समाज चल रहा है। संसार में इस प्रकार का चरित्र ओर कहीं देखने को नहीं मिलता। उनका राज्य भी एक आदर्श राज्य के रूप में माना जाता है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने भी भारत में राम-राज्य की स्थापना के लिए स्वतन्त्रता संघर्ष में प्रेरणा दी। इस की पृष्ठ-भूमि में भगवान् राम की वैदिक शिक्षा (धनुर्वेदसहित) और शास्त्रों

---

1. मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा।
वाल्मीकिरामायण - 1/22/13

एतद्विद्याद्वये लब्धे न भवेत् सदृशस्तव।
बला चातिबला चैव सर्वज्ञानस्य मातरौ।।
वाल्मीकिरामायण - 1/22/17

विद्याद्वयमधीयाने यशश्चाथ भवेद् भुवि।
पितामहसुते ह्येते विद्ये तेजः समन्विते।।
वाल्मीकिरामायण - 1/22/19

प्रतिजग्राह ते विद्ये महर्षेर्भावितात्मनः।
विद्यासमुदितो रामः शुशुभे भीमविक्रमः।।
वाल्मीकिरामायण - 1/22/22

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का ज्ञान गुरु के सान्निध्य में प्राप्त करने का आधार है, जिससे राम मर्यादा पुरूषोत्तम के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

जिस राम राज्य की चर्चा गांधी जी ने की उसका मूलाधार राम राज्य के गुणों पर स्थापित है। राम राज्य का वर्णन करते हुए वाल्मीकि कहते हैं कि राम के राज्य में जनता प्रसन्न थी, सन्तुष्ट थी, धार्मिक थी और उस समय अकाल आदि का भी भय नहीं होता था। कोई भी पिता अपने सामने अपने पुत्र का मरण नहीं देखता था। स्त्रियाँ विधवा नहीं होती थी लेकिन पतिव्रताऐं होती थी। न कोई आग से जलने का भय था, न पानी या वायु या ज्वर का भय था, न भूख का डर था और न चोरों का डर था। सारे नगर और राष्ट्र धन धान्य से सम्पन्न थे [1]।

ये राम राज्य की कल्पना का मूलाधार है। भगवान् राम का चरित्र अपने आप में एक आदर्श चरित्र है, जो अब तक मर्यादाओं को निभा रहा है।

महाकवि भवभूति ने **उत्तररामचरित** में राम के मुख से कहलाया है **स्नेह, दया, सुख ही नहीं अपितु लोक के अनुरञ्जन के लिए जानकी तक को छोड़ते हुए मुझे कोई व्यथा नहीं है** [2]। लोकतन्त्र

---

1. प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः।
निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः॥
न पुत्रमरणं केचिद् द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित्।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः॥
न चाग्निजं भयं किञ्चिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः।
न वातजं भयं किञ्चिन्नापि ज्वरकृतं तथा॥
न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा।
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम् - 1/1/90-93

2. स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

उत्तररामचरित - 1/12

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शासन में इससे बढ़कर प्रजा के रञ्जन का क्या निदर्शन हो सकता है। यह सब तत्कालीन आचार्यों की शिक्षा का प्रभाव है, जिसमें त्याग अनासक्ति और लोक सेवा को विशेष महत्त्व दिया है।

इसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने महर्षि सान्दीपनि के आश्रम में जा कर साधारण छात्रों की तरह वेद का अध्ययन किया, इस तरह का दृष्टान्त वैदिक शिक्षा की पृष्ठ-भूमि में महनीय स्थान रखता है। जहाँ राजा और रंक समान रूप से गुरु-आश्रम में प्रवेश कर शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करते थे। गुरु दोनों को ही समान रूप से दीक्षित करता था। अध्ययन-अध्यापन के समय वह वर्ग भेद के कारण अन्तर नहीं करता था। यही वैदिककालीन शिक्षण व्यवस्था की विशेषता थी, जिसके कारण तत्कालीन समाज ने सुयोग्य वेदाध्यायी के रूप में युगपुरुषोत्तम व्यक्तित्व को प्राप्त किया।

यद्यपि श्रीकृष्ण का जन्म ईशावतार के रूप में हुआ था[1], फिर भी गुरु के महत्त्व और भावी जीवन के निर्माण में शिक्षा रूपी संसाधन की आवश्यकता को प्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने विधिवत् गुरु सांदीपनि से वेद का अध्ययन किया और यहीं सुदामा से उनकी मैत्री हुई।

इस समस्त घटना चक्र का उल्लेख भागवत के दशम स्कन्ध में मिलता है। जहाँ वेदव्यास ने आचार्य के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए उपनीत बालक को ही वेदाध्ययन के निमित्त आश्रम में प्रवेश का विधान निश्चित किया है। तभी तो यदुवंशी आचार्य ने बलराम और श्रीकृष्ण का गायत्री पूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत के अनुपालन की प्रतिज्ञा द्वारा उपनयन संस्कार

---

1. वनजौ वनजौ खर्वः त्रिरामी सकृपोऽकृपः।
अवतारा दशैवैते कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्॥
पद्म पुराण में ईश्वर के अंशावतारों की नामावली का उल्लेख किया गया है, यथा-
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्किश्च ते दश॥
पद्म-पुराण - 257/40-41

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किया[1]। आचार्य द्वारा उपनीत बलराम और श्रीकृष्ण ने संशयात्मक ग्रन्थियों के निदान हेतु अन्तेवासी के रूप में अवन्तीपुरवाशी काश्यपगोत्री सान्दीपनि मुनि के आश्रम में वेदाध्ययन के निमित्त प्रवेश प्राप्त किया। जहाँ आचार्य सान्दीपनि ने दोनों की गुरु-भक्ति और ज्ञानग्राह्यता की उत्कृष्ट क्षमता से प्रभावित होकर वेदाङ्गों और उपनिषदों के सहित सम्पूर्ण वेदों की शिक्षा दी। इन शास्त्रों के अतिरिक्त आचार्य ने उन दोनों को मन्त्र और देवताओं के ज्ञान के साथ धनुर्वेद, मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र, मीमांसा आदि वेदों का तात्पर्य बताने वाले शास्त्र, तर्कविद्या (न्याय शास्त्र) आदि की भी शिक्षा प्रदान की। इसके साथ ही साथ सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय इन छः भेदों से युक्त राजनीति का भी अध्ययन कराया[2]। इतना वैदुष्य उन दोनों भाइयों ने गुरु-कृपा से मात्र चौसठ अहोरात्र में ही प्राप्त कर लिया[3]।

वेदाध्ययन के उपरान्त गुरु-दक्षिणा का विधान **दीक्षा** का अभिन्न अङ्ग है। जिसे शिक्षा-समावर्तन संस्कार के नाम से भी अभिहित किया गया है। इसी संस्कार के माध्यम से गुरु-अर्चना के निमित्त विनम्रभाव

---

1. अथ शूरसूतो राजन् पुत्रयोः समकारयत्।
पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद् द्विज-संस्कृतिम्॥

ततश्च लब्धसंस्कारौ द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ।
गर्गाद् यदुकुलाचार्याद् गायत्रं व्रतमास्थितौ॥
श्रीमद्भागवत - 10/45/26/29

2. तयोर्द्विजवरस्तुष्टः शुद्धभावानुवृत्तिभिः।
प्रोवाच वेदानखिलान् साङ्गोपनिषदो गुरुः॥
सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान् न्यायपथांस्तथा।
तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिं च षड्विधाम्॥

3. अहोरात्रैश्चतुः षष्ट्या संयतौ तावती कलाः।
गुरुदक्षिणयाऽचार्यं छन्दयामासतुर्नृपः॥
श्रीमद्भागवत : 10/45/36

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से बलराम और श्रीकृष्ण ने आचार्य सान्दीपनि से **आपकी जो इच्छा हो, गुरु-दक्षिणा माँग लें** का निवेदन किया[1]। जिसके प्रति-उत्तर में आचार्य ने उनकी अद्‌भूत महिमा और अलौकिक बुद्धि का अनुभव करते हुए अपनी पत्नी की सलाह से **प्रभास क्षेत्र में हमारा बालक समुद्र में डूब कर मर गया था, उसे तुम लोग ला दो** ऐसा गुरु-दक्षिणा की पूर्ति में आदेश दिया। गुरु के आदेश को शिरोधार्य करते हुए दोनों यदुवंशी पुत्र समुद्र के पास गये, और वहाँ से शङ्खासुर की इस धृष्टता का पता लगा कर उस का वध करने के उपरान्त यमराज से गुरु पुत्र को प्राप्त कर गुरु की इच्छा को पूर्ण किया[2]।

यह समस्त वृत्तान्त गुरु-शिष्य सम्बन्धों को उजागर करता हुआ अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में गुरु ज्ञान की महत्ता और गुरु के प्रति अपार श्रद्धा को अभिव्यक्त करता है। गुरु का गौरवान्वित स्वरूप और शिष्य की गुरु में अपार निष्ठा के संयोग से ही व्यक्ति पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। तभी तो बलराम और श्रीकृष्ण का युग-पुरुष के रूप में व्यक्तित्व निखर कर सामने आया। भगवान् श्रीकृष्ण को तो जगद् गुरु का गौरव मिला, जिसका उल्लेख पद्मपुराण में भी किया गया है। व्यासोक्ति के माध्यम से महर्षि सांदीपनि के आश्रम में अन्तेवासी के

---

1. द्विजस्तयोस्तं महिमानमद्‌भुतं
संलक्ष्यं राजन्नतिमानुषीं मतिम्।
सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं
बालं प्रभासे वरयाम्बभूव ह॥

श्रीमद्‌भागवत - 10/45/37

2. गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम्।
आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः॥
तथेति तेनोपानीतं गुरुपुत्रं यदूत्तमौ।
दत्त्वा स्वगुरवे भूयो वृणीष्वेति तमूचतुः॥

श्रीमद्‌भागवत - 10/45/45-46

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूप में कृष्ण और बलराम के ब्रह्मचर्य जीवन-वृत्त का यशोगान किया गया है। इस सम्बन्ध में महर्षि ने स्पष्ट किया है कि निखिल विज्ञान को जानने, सर्वज्ञानमय और वीर यादवश्रेष्ठ कृष्ण और बलराम शिष्य तथा आचार्य के क्रम को विख्यात करने के उद्देश्य से अवन्तिपुरवासी (उज्जैन) सांदीपनि से वेद की शिक्षा प्राप्त करने के लिए गये। सांदीपनि ने उन्हें शिष्यत्व प्रदान किया और वे दोनों मनोयोग से गुरु की शुश्रूषा करते हुए वैदिक विज्ञान और धनुर्वेद का अध्ययन करने लगे। जिसके फलस्वरूप उन्होंने चौसठ अहोरात्र में संग्रह तथा रहस्य सहित धनुर्वेद को सीख लिया [1]। इससे यह ध्वनित होता है कि बिना गुरु कृपा के ज्ञान ग्रन्थियाँ विकसित नहीं होती हैं, तभी तो सर्वज्ञानमय यादव श्रेष्ठ कृष्ण ने महर्षि सांदीपनि का **शिष्यत्व** ग्रहण कर बुद्धि की संशयात्मक प्रवृत्ति से निवृत्त होने के उद्देश्य से चौंसठ अहारोत्र के अन्तराल में अपनी समस्त जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त कर लिया। पद्मपुराण वर्णित कृष्ण के अन्तेवासी स्वरूप के द्वारा महर्षि वेदव्यास ने गुरु के गौरवान्ति स्वरूप के चित्रण के साथ-साथ शिष्य की ज्ञान-ग्राह्य शक्ति के निरूपण द्वारा उसकी नैसर्गिकता का भी चित्रण किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन शिक्षण व्यवस्था में गुरु पात्र-अपात्र का भेद करते हुए योग्य जिज्ञासु को ही शिष्यत्व प्रदान करते थे और शिष्य पूर्ण निष्ठा के साथ गुरु के आदेशों का अनुसरण करते हुए ज्ञान प्राप्ति में निमज्जित हो

---

1. विदिताखिलविज्ञानौ सर्वज्ञानमयावपि ।
शिष्याचार्यक्रमं वीरौ ख्यापयन्तौ यदूत्तमौ ।।
ततः सांदीपनिं काश्यमवन्तिपुरवासिनम् ।
अस्त्रार्थं जग्मतुर्वीरौ बलदेवजनार्दनौ ।।
तस्य शिष्यत्वमभ्येत्य गुरुवृत्तिपरौ हि तौ ।
दर्शयांचक्रतुर्वीरावाचारमखिले जने ।।
सरहस्यं धनुर्वेदं ससंग्रहमधीयताम् ।
अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या तदद्भुतमभूद्द्विजाः ।।

ब्रह्म पुराण - 194/18-21

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाते थे। तभी तो आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत पल्लवित शिक्षा व्यवस्था राम-कृष्ण जैसे समाज पथ-प्रदर्शक को विश्व-कल्याणकारक व्यक्तित्व के रूप में समर्पित कर पाई।

हमारे इतिहास में श्री कृष्ण को साक्षात् भगवान् और जगद् गुरु की प्रतिष्ठा मिली है। श्रीमद्भागवत में लिखा है **कृष्णस्तु भगवान् स्वयं** इसका अभिप्राय यह है कि कृष्ण प्रत्यक्ष भगवान् हैं और अवतारों से कृष्णावतार में यही भिन्नता है। इनका जगद् गुरु का स्वरूप श्रीमद्भगवत्गीता में देखने को मिलता है। वे उसमें समस्त गुरुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और अर्जुन सब शिष्यों का आदर्श है। वह जब कोई रास्ता नहीं देखता तो कृष्ण से प्रार्थना करता है मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारी शरण में आया हूँ, मेरा मार्ग-दर्शन करो [1]। इस पर श्रीकृष्ण ने शरणागतवत्सल होकर अर्जुन का मार्ग-दर्शन किया। यह मार्गदर्शन सम्पूर्ण विश्व का पथ-प्रदर्शक है।

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय तत्वज्ञान और प्राचीन शिक्षा पद्धति का सर्वस्व है। प्रारम्भ में ही भगवान् कृष्ण कहते हैं कि मनुष्य का केवल कर्म करने का अधिकार है, फल में नहीं। तुम कर्म के फल की अभिलाषा मत करो और न ही कर्म में आसक्ति रखो [2] आगे चलकर वे कहते हैं कि जो सम्पूर्ण अभिलाषाओं को त्याग कर ममता और अहंकार से रहित होता है वही शांति को प्राप्त करता है [3]। गीता पूर्ण

---

1. शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।
श्रीमद्भगवद्गीता - 2/7

2. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
श्रीमद्भगवद्गीता - 2/47

3. विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
श्रीमद्भगवद्गीता - 2/71

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शास्त्र है। संसार की लगभग सौ भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है। यह जीवन का पूर्ण दर्शन है। भगवान् कहते हैं कि शत्रु और मित्र में तथा मान और अपमान में, सुख और दुःख में निंदा और स्तुति में जो एक भाव रखता है, जिसकी बुद्धि स्थिर है वह मुझे प्रिय है [1]।

यह इतना मनोवैज्ञानिक व्याख्यान है। जिसमें सत्व, रजस् और तमस् गुणों का भी विश्लेषण है। सत्व के विषय में भगवान् कहते हैं कि सत्व गुण निर्मल होने के कारण प्रकाश करने वाला है और विकार से रहित है, वह सुख और ज्ञान से बांधता है। रजोगुण-रागात्मक है, वह अभिलाषा और आसक्ति पैदा करता है। वह इस जीवात्मा को कर्म और उसके फल से बांधता है। तमोगुण विज्ञान से उत्पन्न होता है, वह जीवात्मा को प्रमाद और आलस्य से बांधता है [2]। इस के फल के बारे में कृष्ण कहते हैं कि सत्व गुण वाले स्वर्गादि उच्च लोकों को प्राप्त करते हैं, रजोगुणी लोग मनुष्य लोक में रहते हैं और तमोगुण वाले लोग नीच योनि को प्राप्त करते हुए नरक को जाते हैं [3]। श्रीकृष्ण ने काम,

---

1. समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमर्तिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 12/18-19

2. तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 14/6-8

3. ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 14/18

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रोध और लोभ को नरक का द्वार बताया है। ये तीनों ही आत्मा को अधःपतन की ओर ले जाते हैं। इसलिए इन तीनों का त्याग करना चाहिये [1]।

इसी प्रकार भोजन के बारे में विवेचन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि आयु, बुद्धि, आरोग्य तथा सुख प्रेम को बढ़ाने वाले रस-युक्त हृदय को प्रिय लगने वाले भोजन सात्विक लोगों को प्रिय होता है [2], कड़वे, खट्टा, नमकीन, दुःख और रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार रजोगुण वाले पुरुषों को प्रिय होते हैं [3]। अधपका, रस से रहित, दुर्गन्ध से भरा हुआ, बासी, झूठा और अपवित्र भोजन तमोगुण वाले लोगों को प्रिय होता है [4]। कर्म के विश्लेषण में कहते हैं कि शास्त्रविधि से निश्चित तथा विधि-विहित-यज्ञ जो कि आकाखा के बिना किया जाता है, वह सात्विक कर्म है [5]। जो फल को दृष्टि में रख कर दम्भ के साथ

---

1. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 16/21

2. आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 17/8

3. कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुः खशोकामयप्रदाः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 17/9

4. यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 17/10

5. अफलाकङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो च इज्यते।
यष्टव्येमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 17/11

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किया जाता है, वह यज्ञ राजस् है। जो यज्ञ शास्त्रविधि से हीन दक्षिणा और अन्नदान से रहित तथा बिना श्रद्धा के किया जाता है, वह तामस है [1]।

तपों का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं कि देवता, ब्राह्मण, अपने से बड़ों और विद्वानों का पूजन तथा पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का आचरण-शारीरिक तप कहलाता हैं [2]। उद्वेग नहीं करने वाला प्रेम और हितकारक सत्यभाषण तथा वेदशास्त्रों के पठन और परमेश्वर का नाम जपना यह वाणी सम्बन्धी तप है [3]। मन की प्रसन्नता, शान्त भाव, भगवत् चिन्तन, मौन रहना, मन का निग्रह हृदय तथा भावों की पवित्रता यह मानसिक तप है [4]। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जो दान निःस्वार्थ भाव से सत्पात्र को दिया जाता है, वह सात्विक होता है [5]। जो

---

1. अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 17/12-13

2. देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 17/14

3. अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 17/16

4. मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 17/15

5. दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

श्रीमद्भगवद्गीता - 17/20

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दान मन दुखाकर प्रत्युपकार के प्रयोजन से तथा फल की दृष्टि से दिया जाता है, वह राजस् होता है। जो दान बिना सत्कार के कुपात्र को दिया जाता है, वह तामस होता है [1]।

इस प्रकार सात्त्विक, राजस् और तामस् तीनों व्यक्तियों का कर्म-आहार-दान आदि में पूर्व अन्तर स्पष्ट कर भगवान् श्रीकृष्ण ने एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है- जिसका प्रभाव समस्त प्राचीन शिक्षा पद्धति पर है। इसी में प्राचीन शिक्षा पद्धति की पूर्णता है और भगवान् श्रीकृष्ण के जगद् गुरु स्वरूप का दिव्य दर्शन है।

इसी परम्परा में विभिन्न आचार्य हुऐ - जिनमें आदि शंकराचार्य का उल्लेख करना विशेष महत्त्व रखता है। भारत की प्रतिष्ठा आदि शंकराचार्य द्वारा अद्वैत की स्थापना करने पर विशेष रूप से विद्या के क्षेत्र में हुई। आदि शंकर ने केरल से चलकर मध्य प्रदेश में ॐकारेश्वर के निकट गोविन्द भगवत् पाद से शिक्षा और दीक्षा प्राप्त की, वह शिक्षा प्राचीन शिक्षा ही थी। कुछ लोग इनका काल 1200 वर्ष पहले मानते हैं जब कि काञ्चीमठ की परम्परा के अनुसार यह काल 2500 वर्ष से अधिक होना चाहिये। काञ्ची शंकराचार्यों की गणना से इस बात की पुष्टि होती है। आदि शंकर ने पद यात्रा के माध्यम से सारे देश में धर्म और संस्कृति की स्थापना की। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को जाग्रत रखने के लिए काञ्ची के अतिरिक्त देश के चारों कोणों में चार मठों की स्थापना की। ये मठ शृङ्गेरी पुनः, द्वारका, पुरी और ज्योतिष पीठ के रूप में वर्तमान काल तक विख्यात हैं और इनकी महनीय शिक्षा परम्परा है। आदि शङ्कर ने अपने चार महत्त्वपूर्ण शिष्यों को इन मठों के आचार्यों के

---

1. यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥

श्रीमद्भगद्गीता - 17/21-22

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूप में अभिषिक्त किया। ये मठ उनके बताये हुए मार्ग पर अब तक चल रहे हैं।

दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में आदि शङ्कर का प्रतिपादन और उनके द्वारा स्थापित अद्वैतवाद विश्व के तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में विशेष महत्त्व रखता है। केवल उनका जीवन 32 वर्ष रहा, किन्तु इस छोटे से जीवन काल में भी उन्होंने अपनी पद यात्रा के माध्यम से कालटी (केरल) से केदारनाथ तक इस देश को एकता के सूत्र में बांधने का ऐतिहासिक कार्य किया।

प्राचीन शिक्षा पद्धति में जिस आध्यात्मिक के गौरव की चर्चा करते हैं, वह उस शिक्षा पद्धति का मूल बिन्दू है। उसकी सबसे बड़ी आधारशिला आचार्य शङ्कर का दर्शन है। उन्होंने **अहम् ब्रह्म** के रूप में आध्यात्म ज्ञान को एक सर्वोत्तम आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनका दर्शन आज भी विश्व में विशेष महत्त्व रखता है और भारत की एकता में अत्यन्त सहायक है।

ये सब हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति के उत्तम रत्न हैं और इन्हीं से महान् देश अलंकृत है। इनके गीता और उपनिषदों के भाष्यों ने आध्यात्म ज्ञान पर विशेष बल दिया।

गत शताब्दी में भी प्राचीन शिक्षा पद्धति ने अनेक महापुरुषों को राष्ट्र को समर्पित किया। उनमें शङ्कराचार्य के अवतार के रूप में विख्यात पूज्यपाद स्वामी करपात्री जी अग्रगण्य थे। वे अपनी साधना और वैदुष्य के बल पर चलते-फिरते शिव के रूप में पूजे जाते थे। उन्होंने **वेदार्थपारिजात** नामक ग्रन्थ में सृष्टि-विज्ञान से सम्बन्धित समस्त रहस्यों की व्याख्या की। उनकी दीक्षा से सैकड़ों विद्वान् तैयार हुए।

महामहोपाध्याय मधुसुदन ओझा इस गणना में प्रथम स्थान रखते हैं। उन्होंने वैदिक विज्ञान की सब से पहले स्थापना की और इंग्लैण्ड तक में जा कर अपने प्रवचनों से लोगों को प्रभावित किया। उन्होंने

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेद के विज्ञान की व्याख्या में दो सौ के लगभग छोटे-बड़े ग्रन्थ लिखे। उनके शिष्यों में महामहोपाध्याय श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी प्रथम स्थान रखते हैं। वे विद्या, आत्मविश्वास, निष्ठा और साधना से परिपूर्ण थे। उन्होंने वैदिक विज्ञान के तत्त्वों को गम्भीरता पूर्वक प्रकाशित किया। उनका **भारतीय संस्कृति और वैदिक-विज्ञान** ग्रन्थ सारे राष्ट्र में प्रतिष्ठित हुआ। उनकी ओजपूर्ण वाणी ने 40-50 वर्षों तक सारे राष्ट्र को प्रभावित किया। साधना में महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज बहुत आगे थे। उनकी दीक्षा से अनेक विद्वानों ने प्रतिष्ठा प्राप्त की। उनका व्यक्तित्व परम वन्दनीय रहा और उससे अनेक लोगों ने प्रेरणा ग्रहण की।

इसी क्रम में स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती का स्मरण करना भी मैं यहाँ अनिवार्य समझता हूँ, जिन्होंने अपने पूर्व आश्रम से **कल्याण** का सम्पादन प्रारम्भ कर इस राष्ट्र में सनातन धर्म, भारतीय संस्कृति और वैदिक मूल्यों का प्रचार-प्रसार कर लोक के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। उनके द्वारा सम्पादित कल्याण के विशेषाङ्क-वेदों और वेद के अङ्गों के महान् भाण्डागार हैं। उन्होंने अपने सन्यास आश्रम में श्रीमद्भागवत की कथा के माध्यम से अत्यन्त मधुर और प्रसादमयी पद्धति से भावी सन्तति को नैतिकता, सदाचार, शील तथा विनय का उपदेश दिया। उनकी इस उपदेशात्मक शैली में गुरुकुल पद्धति की प्रत्यक्ष छाप देखी जा सकती है। लाखों लोगों में उन्होंने सरल भाषा में वैदिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की। ऐसे ही विद्वानों में महामहोपाध्याय श्री पट्टाभिराम शास्त्री गणनीय हैं। उनका व्यक्तित्व प्राचीन शिक्षा पद्धति के सभी तत्त्वों से परिपूर्ण था। उन्होंने सारे भारत में अनेक प्रतिष्ठित शिष्यों को जन्म दिया। उनका **'संस्कार विज्ञान'** ग्रन्थ सब लोगों को वैदिक संस्कारों की शिक्षा देता है तथा वैदिक आचार संहिता का विश्लेषणात्मक विवेचन है। जिसके माध्यम से उन्होंने मानव-जाति को संस्कार सम्पृक्त बनाने के उद्देश्य से सुसरल और सारगर्भित शब्दावली में उपदेश दिये हैं। उनके इन सारगर्भित उपदेशों में ज्ञानराशि का विवेच्य भाव ही झलकता है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिसके मूल में शिक्षा-पद्धति ही अङ्कुरित होती दिखाई देती है। इसका अभिप्राय यह है कि अभी भी प्राचीन शिक्षा पद्धति में दीक्षित उत्कृष्ट लोग विद्यमान हैं। जिस शिक्षा पद्धति ने ऐसे आदर्श पुरुषों को जन्म दिया, वह वस्तुतः प्रशंसनीय है।

भगवान् कृष्ण ने महर्षि सान्दीपनि के आश्रम में जा कर वेद का अध्ययन किया, भगवान् राम ने वशिष्ठ से शिक्षा और दीक्षा प्राप्त की। यह दुर्भाग्य है कि अब यह प्रणाली पूर्ण नहीं है। इससे सारे राष्ट्र की बड़ी हानि है। रोजगार परक आधुनिक शिक्षा ने ज्ञान के प्रकाश को दूर कर दिया है। इसलिए यह आवश्यक है कि प्राचीन शिक्षा पद्धति का प्रकाश सब को मिले। वैदिककालीन शिक्षण प्रणाली की प्रमुख देन है - अन्तःस्थ एवं बहिःस्थ ज्ञान के माध्यम से चित्तवृत्तियों का शौधन। आत्मविश्वास एवं निष्ठा के माध्यम से मन की चंचलता पर नियन्त्रण और सतत अभ्यास के द्वारा अज्ञान के आवरण की परतों को हटा कर जिज्ञासु को यथार्थ ज्ञान कराते हुए उसके व्यक्तित्व का समग्र विकास करती है, जिससे वह अपने जीवन में पूरी सुविधा एवं सुरक्षा प्राप्त कर पुरुषार्थचतुष्टय को प्राप्त कर सके। पुरुषार्थचतुष्टय मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट साध्य है, जिसके संधान से मानव भाव-सागर से मुक्त हो जाता है।

इन विश्लेषणात्मक तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन शिक्षा ने त्याग मूलक संस्कृति को जन्म दिया। ईशावास्योपनिषद् ने त्याग मूलक भोग का उपदेश दिया है और किसी पराये धन के प्रति आकर्षण को समाप्त किया है[1]। उपनिषदों के इस सन्देश ने समस्त पुराणों, स्मृतियों और भारतीय वाङ्मय को प्रभावित किया है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि जितने मात्र से पेट भर जाये, उतने ही पर मनुष्य का

---

1. ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

ईशावास्योपनिषद् - 1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अधिकार है। उससे अधिक द्रव्य पर जो अपना अधिकार मानता है, वह एक प्रकार से चोर है और दण्ड का पात्र है [1]। इसी से प्रेरणा प्राप्त कर नीति शास्त्रों में यह निर्देश दिया गया है कि दूसरों को बिना कष्ट दिये, दुष्टों के आगे बिना झुके तथा सन्मार्ग का अनुसरण करते हुए, जो थोड़ा बहुत मिल जाये, वही बहुत है [2]। स्मृतियों में यही प्रभाव कुम्भी-धान्य के रूप में वर्णित है, जिसका अर्थ यह है कि घर में एक घड़ा भरा हुआ अन्न यदि विद्यमान है, तो उसे पर्याप्त समझना चाहिए। इस सब का अभिप्राय यह है कि सम्पत्ति के पीछे भागने की आवश्यकता नहीं है, न उसका संग्रह ही जीवन का ध्येय होना चाहिए। यदि आधुनिक शिक्षा में भी यह तत्त्व उजागर हो जाये तो सारे विश्व की समस्याओं का समाधान स्वतः सिद्ध हो जायेगा।

इसी संस्कृति के आधार पर शासक (राजा) यह घोषणा करता था कि मेरे राज्य में न कोई चोर, न कोई व्यभिचारी या व्यभिचारिणी, न कोई शराब पीने वाला, न ही कोई बिना अग्नि होत्र वाला और न कोई मूर्ख है [3]। ऐसा राज्य जहाँ हो, वह हमारा आदर्श है। भारत का नागरिक यह कामना करता था कि मुझे राज्य नहीं चाहिए, न स्वर्ग या मोक्ष

---

1. यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
श्रीमद्भागवत

2. अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलनम्रताम्।
अनुसृत्य सतां वर्त्म यत् स्वल्पमपि तद्बहु॥
नीति – पद्यम्

3. न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो नमद्यपः।
नानाहिताग्निर्ना विद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
उपनिषद्वाक्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चाहिए। मैं केवल दुःख में तप्त प्राणियों के दुःख की निवृत्ति चाहता हूँ[1]। यही वास्तव में प्राचीन शिक्षा पद्धति की देन है। भारत का सम्पूर्ण इतिहास इसी के गौरव से निर्मित है। यदि इसके अवदान न हो तो हमारा देश गरिमा से शून्य हो जायेगा। अब तो हम स्वतन्त्र राष्ट्र हैं इसलिए हम यह अपेक्षा करते हैं कि प्राचीन शिक्षा पद्धति के तत्त्व आधुनिक शिक्षा पद्धति में भी समाहित किये जाये, यही आज के युग की सब से बड़ी आवश्यकता है। इसी का भरत वाक्य है -

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्[2]॥



1. न त्वाहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
   कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

2. अथर्ववेद (शान्तिपाठ)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अध्याय 7

आधुनिक शिक्षा पर वैदिक शिक्षा का प्रभाव

मानव व्यवहारों के परिवर्तन में शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया का अभूतपूर्व योगदान है, जिसके कारण अनादिकाल से लेकर अद्यतन के विभिन्न दार्शनिकों ने समाजिक आवश्यकतानुसार शिक्षा-तत्त्वों के विवेचन द्वारा मानव-जीवन में उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला है। **शिक्षा ही जीवन है और जीवन ही शिक्षा है।** दोनों के इस अभेद्य सम्बन्ध को नकारा न जाने के कारण ही **सा विद्या या विमुक्तये** अथवा **सा विद्या या ब्रह्मगतिप्रदा** के द्वारा विद्या (ज्ञान) के महत्त्व को पूर्वाचार्यों ने विवेचित किया है, जिसका बोध हमें ज्ञान की उस विधा द्वारा होता है, जिसमें व्यक्ति के वैयक्तिक गुणों की अभिवृद्धि के साथ-साथ उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रिय कर्तव्यों को निश्चित करना रहा है। निश्चय की यह अवस्था जो हमें वर्तमान के रूप में प्राप्त हुई है, वह अनायास ही नहीं है, अपितु उसका अपना एक निश्चित क्रम और विस्तृत इतिहास है, जिसके जानने, संरक्षित करने और वृद्धि को प्राप्त कराने के लिए अनुभवजन्य ज्ञान को लिपि के रूप में सञ्चित करने की आवश्यकता है, जो केवल शिक्षा रूपी उपक्रम द्वारा ही सम्भव हो सकता है, जिसमें स्वाध्याय-प्रवचन और निदध्यास की प्रक्रिया को महत्ता प्रदान की गई है, जिसमें **यावज्जीवमधीते विप्रः** की दृढ़ संकल्पना का विधान किया गया है। इस दृढ़-संकल्पना में निहित गूढ़ार्थ सत्य को जानने के लिए सृष्टि के आरम्भ से वर्तमान तक की सञ्चित ज्ञान-निधि का आलोडन करना अनिवार्य हो जाता है, जो मूल्याङ्कन-परक होने के कारण इस बात का द्योतक हो गया है कि आधुनिक शिक्षा-शास्त्र पर वैदिक शिक्षण-विधा का कितना प्रभाव है? अथवा आधुनिक शिक्षा - शास्त्र वैदिक शिक्षण परम्परा से अनुप्राणित है या नहीं?

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसके उत्तर में अनेकानेक दृष्टान्तों का अवलोकन करना होगा, तब कहीं जाकर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि आधुनिक शिक्षा-शास्त्र वैदिक शिक्षण परम्परा से अनुप्राणित है। **इष्टप्राप्त्यनिष्ट-परिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः** इस उक्ति द्वारा सायणाचार्य ने इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार हेतु जिस अपौरुषेय शब्दावली को वेद-राशि के रूप में निरूपित किया है, उसे वेद-शब्द प्रकृति की **विद्** धातु के चार अर्थों **विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम्, विद्लृ लाभे और विद् विचारणे अथवा विद् चेतनाख्याननिवासेषु** द्वारा स्पष्ट किया गया है। जिससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान कोई बाह्य-वस्तु नहीं है, जिसे शिक्षा रूपी साधन के द्वारा शिक्षार्थी पर लादा जा सकता है, अपितु यह तो अन्तर निहित वह आत्म-ज्योति है, जिसे ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत की अनुभूति के आधार पर **शिक्षा** रूपी उपक्रम द्वारा प्रकट किया जाता है। महर्षि प्रतिपादित इस तथ्य की झलक हमें आँग्ल-भाषा के **Education** शब्द से मिलती है, जिसकी निष्पत्ति लैटिन के **Educatum** शब्द से मानी गई है। **Educatum** शब्द **E+Duco** से बना है, जिसका अभिप्राय अन्तर-निहित शक्ति को बाहर की ओर प्रकट करना है, जिसे **ज्ञानं मनुजस्य तृतीयं नेत्रम्** अथवा **ज्ञानं ब्रह्म प्रज्ञानं ब्रह्म। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** के द्वारा भारतीय दर्शन शास्त्र में वर्णित किया गया है।

यजुर्वेद के 40वें अध्याय में विद्या-अविद्या अथवा परा-अपरा नामक ज्ञान की दो विधाओं का उल्लेख कर तत्त्वजिज्ञासु को आत्म-तत्त्व और शास्त्रीय विषय के सम्मिलित रूप को जानने का निर्देश दिया है [1], जिसमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों के स्वरूपो में बिम्ब-प्रतिबिम्बात्मक सम्बन्ध झलकता है, जिसे लौकिक साहित्य में इस प्रकार से चित्रित किया गया है-

---

1. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

यजुर्वेद - 40/14, ईशावास्योपनिषद - 14

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः,
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां,
न नाममात्रेण करोत्यरोगम्[1] ॥

इससे यह ध्वनित होता है कि अनेकानेक विषयों का अध्यापन करना और उनके अर्थ - ज्ञान के अभाव में कण्ठस्थीकरण करना ही शिक्षार्थी का ध्येय नहीं है, अपितु उसके लिए प्राप्त ज्ञान का व्यावहारिक पक्ष भी जानना अनिवार्य है, जिसके कारण आधुनिक शिक्षाविदों ने ज्ञान की विधा के रूप में **शिक्षा** शब्द को संकुचित और व्यापक अर्थ में निरूपित करते हुए शिक्षण के औपचारिक-अनौपचारिक साधनों को अधिगम की प्रक्रिया में समान रूप से समाहित कर शिक्षक और शिक्षार्थी की प्रमुख भूमिका को झलकाया है। इस सम्बन्ध में आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक एडम्स ने अपनी पुस्तक Evolution of Educational Theory में शिक्षा को एक द्वि-मुखी प्रक्रिया के रूप में चित्रित किया है, जिसके अन्तर्गत एक पक्ष दूसरे पक्ष के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है, जिसके लिए अनादिकाल से **ॐ मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु** इस प्रतिज्ञा-वाक्य द्वारा गुरु शिष्य को अपना सान्निध्य प्रदान करता था, जिसकी पुष्टि अथर्ववेद **आचार्य उपनयमानो...**[2] इत्यादि मन्त्र द्वारा होती है, जिसमें यह संकेत दिया गया है कि उपनयन संस्कार द्वारा बह्मचारी को आचार्य अपने गर्भ में तीन रात्रि तक रखकर उसे कलुषित संस्कारों से मुक्त कराता हुआ द्वितीय जन्म प्रदान करता है अर्थात् अपने व्यक्तित्व के अनुरूप उसके व्यक्तित्व को ढ़ालने का प्रयास करता है। जैसा कि आचार्य मनु ने कहा है-

---

1. हितोपदेश - 1/171
2. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंचयन्ति ॥
अथर्ववेद - 11/5/3

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ।।

अर्थात् आचार्य ही एक ऐसा प्रामाणिक व्यक्तित्व है, जो शिक्षा-रूपी संसाधन के द्वारा समीप में आये हुए जिज्ञासु की जिज्ञासा का समाधान कर उसे इस योग्य बनाता है कि वह अज्ञानान्धकार से निकलकर ज्ञानालोक से आच्छादित हो जाता है। इसी कारण शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया में शिक्षक -शिक्षार्थी के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए पाश्चात्य शिक्षाविद् एडम्स ने शिक्षक और शिक्षार्थी उभय पक्ष की समान सक्रियता पर बल दिया है। जिसकी पुष्टि **शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः** इस वाक्य से होती है।

वेद प्रतिपादित गुरु-शिष्य के अभेद सम्बन्धों की परिगणना में एडम्स से एक कदम आगे बढ़ते हुए प्रसिद्ध अमरीकी शिक्षा-दार्शनिक जाँन डीवी ने अधिगम की प्रक्रिया में तीसरे मुख को समाहित करते हुए शिक्षण की विधा को त्रि-मुखी बताया है तथा समस्त शिक्षण-प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पक्ष में विभक्त किया है। उनके मतानुसार यद्यपि यह बात निर्विवाद है कि बालक को शिक्षित करने के लिए उसकी मूल-प्रवृत्तियों का ज्ञान होना आवश्यक है, जो एक मनोवैज्ञानिक पक्ष है, किन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए की समाज के सहयोग के बिना बालक के मनोभावों का उचित दिशा में विकास नहीं हो सकता, यह एक मनोवैज्ञिक सत्य है, जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वंशानुक्रम से कहीं अधिक बालक के वैयक्तिक विकास में वातावरण सहायक सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में अनेकानेक उदाहरण द्रष्ट्व्य हैं, जिसमें वातावरण की प्रधानता द्वारा बालक की मूल प्रवृत्तियों को विनष्ट और विकसित होते हुए दर्शाया गया है। इस सम्बन्ध में जंगल में छूटे एक अल्प आयु वाले गड़रये शिशु का दृष्टान्त मानस पटल पर उभरता है, जिसमें संगतिकरण के आधार पर उसके आचार-विचार-व्यवहार और खान-पान से सम्बन्धित भावों को अभिव्यक्त किया गया है। इन भावों की अभिव्यक्ति पर आधारित दूरदर्शन ने एक

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मौगलि नामक बच्चे के नाम से **जंगल डायरी** नामक धारावाहिक प्रसारित किया था, जिसमें यह बताने का प्रयास किया गया है कि जंगल में छूट एवं हिंसक प्राणियों द्वारा पोषित मानव-शिशु के विभिन्न-व्यवहारों और खान-पान की प्रक्रिया में उन्हीं के सदृश भाव झलक रहे थे। अर्थात् मानव-शिशु होने के पश्चात् भी जंगल में छूटे उस बालक में पाशविक संगतिकरण के कारण मानवोचित व्यवहार की अपेक्षा पाशविक प्रवृत्तियाँ अधिक झलक रहीं थीं। या यों कहा जा सकता है कि उसके भावों की अभिव्यक्ति, एक स्थल से दूसरे स्थल तक जाने का ढंग, खान-पान व आचार-व्यवहार सामान्य ढंग से पोषित मानव-शिशु से सर्वथा भिन्न थे। अर्थात् उसमें पाशविक चेष्टाएँ अधिक झलक रही थी और मानवीय प्रवृतियाँ ओझल हो गईं थीं। किन्तु संयोगवश जंगल में पनपे उस मानव-शिशु को जब सामान्य वातावरण अर्थात् मानव-संसर्ग मिला तो उसमें धीरे-धीरे मानवोचित प्रवृत्तियों का विकास स्वतः होने लगा। इस आधार पर कहा जा सकता है कि नैसर्गिकता से कहीं अधिक वातावरण प्रभावित करता है।

इसी आधार पर प्रसिद्ध दार्शनिक जाँन डीवी ने सामाजिक पृष्ठ-भूमि को अधिगम की प्रक्रिया में विशिष्ट स्थान दिया है, क्योंकि सामाजिक पृष्ठ-भूमि ही उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए उचित मार्ग प्रशस्त कर सकती है। यही कारण है कि प्रतिकूल परिस्थितियों के परिहार हेतु समाज को यह निश्चित करना होगा क़ी बालक को आत्म-निर्भरता और सामाजिकता के प्रशिक्षण निमित्त कौन-कौन से विषय और किस शिक्षण-पद्धति द्वारा पढ़ाया जाय, जिससे उसमें कार्य-कुशलता और समाज-स्वीकृत आचरण के अनुरूप क्षमता का विकास हो सके और यह तभी सम्भव हो सकता है, जब सामाजिक आवश्यकता पर आधारित पाठ्यक्रम को अधिगम की प्रक्रिया के अन्तर्गत समाहित किया जाय। इस प्रकार शिक्षा द्वि-मुखी प्रक्रिया न होकर **शिक्षा-शिक्षार्थी और पाठ्यक्रम** के महत्त्व पूर्ण सम्मिश्रण के आधार पर जाँन डीवी ने इसे त्रि-मुखी प्रक्रिया के रूप में चित्रित किया है। जैसा की उन्होंने अपनी

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्पष्टोक्ति द्वारा शिक्षा को व्यष्टि-समष्टि के समन्वय का साधन माना है। उनका विचार है कि शिक्षा व्यक्ति की उन सभी योग्यताओं का विकास है, जिससे उसमें पर्यावरण पर नियन्त्रण रखने और अपनी सम्भावनाओं की पूर्ति की क्षमता आती है।

प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री एडम्स और जाँन डीवी द्वारा अधिगम की प्रक्रिया में शिक्षक-शिक्षार्थी और पाठ्यक्रम की उपयोगिता सम्बन्धित विचार कोई नया नहीं है। इसकी झलक हमें छान्दोग्योपनिषद् के **सोऽहं भवतो मन्त्रविदेवास्मि**[1] इस वचन में मिलती है, जहाँ भगवान् नारद को पाठ्य विषयों में ज्ञाता होने के कारण **मन्त्रविद्** शब्द से अभिहित किया गया है तथा पाठ्यक्रम के रूप में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और इतिहास-पुराण की परिगणना की गई है[2]। आचार्य शंकर ने छान्दोग्योपनिषद् के अपने भाष्य में महाभारत सहित चारों वेदों के अध्ययन के लिए **व्याकरण** के ज्ञान की अनिवार्यता पर बल दिया है[3]। इन दृष्टान्तों के आधार पर कहा जा सकता है कि एडम्स और जाँन डीवी द्वारा प्रतिपादित द्वि-मुखी व त्रि-मुखी शिक्षण प्रक्रिया सम्बन्धित विचारधारा कोई नई नहीं है। इस विचारधारा के अङ्कुर हमें उपनिषद् साहित्य और उससे अनुप्राणित अन्य साहित्य में भी दिखलाई देते हैं, जिनके मूल में मानव-व्यक्तित्व विकास और सामाजिक पृष्ठ-भूमि के उन्नयन सम्बन्धित विचार ही निहित हैं। इतना ही नहीं शिक्षा के उद्देश्यों की दृष्टि से भी आधुनिक शिक्षण विधा वैदिक विचारधारा से अनुप्राणित है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस क्षेत्र में आज कार्य करने की विशेष आवश्यकता है। जो लोग यह मानते हैं कि वेदानुप्राणित संस्कृत भाषा

---

1. छान्दोग्योपनिषद् - 7/1/3
2. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां...।
छान्दोग्योपनिषद् - 7/1/2-3
3. भारतपञ्चमानां वेदं व्याकरणमित्यर्थः। व्याकरणेन हि पदादिविभागशः ऋग्वेदादयो ज्ञायन्ते।
छान्दोग्योपनिषद् (शाङ्करभाष्य) - 7/1/2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर्म-काण्ड मूलक होने के कारण वैज्ञानिक चिन्तन से अछूती है, उसमें आध्यात्मिकता का पुट अधिक और ज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष का अभाव है। यदि वे ऐसा सोचते हैं तो यह उनकी भ्रान्ति है, क्योंकि आज के कम्प्यूटर युग ने यह सिद्ध कर दिया है कि संस्कृत-भाषा जितनी कम्प्यूटर के समीप है, विश्व की अन्य भाषाएँ नहीं हैं। यही दृष्टिकोण अधिगम की कला से सम्बन्धित है। शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया में सूक्ष्म-शिक्षण, स्वाङ्ग-विधि, मूल्याङ्कन परक आत्म चिन्तन के लिए हरबर्टिय पञ्चपदी का संशोधित स्वरूप तथा ब्लूम महोदय द्वारा प्रस्तावित शिक्षण उद्देश्यों के आधार पर पाठ का जो विश्लेषणात्मक स्वरूप **Taxonomy of educational objectives of cognitive domain** नामक ग्रन्थ में मिलता है, वह भारतीय शिक्षण-परम्परा का संशोधित स्वरूप ही है। जिसमें ज्ञानपक्ष के विकास के लिए विभिन्न आयामों को निर्दिष्ट किया गया है।

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः...[1] इत्यादि शिष्यकार्य प्रतिपादक तैत्तिरीयोपनिषद् के अन्तर्गत शिक्षावल्लि का यह वाक्य आधुनिक शिक्षा-नीति के निर्धारण में पूर्णतः सहायक है, जिसका परमोत्कर्ष लक्ष्य बालक के वैयक्तिक उत्थान के साथ-साथ सामुदायिक विकास का मार्ग प्रशस्त करते हुए भौतिक संसाधनों द्वारा राष्ट्र के नव-निर्माण में पूर्णतः सहायक सिद्ध है। शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया पर यदि सूक्ष्म दृष्टिपात किया जाय तो वैदिककालीन शिक्षा पद्धति सदृश वर्तमान प्रक्रिया भी बालक के वैयक्तिक उत्थान के साथ-साथ सामाजिक उत्थान को विशेष महत्त्व प्रदान करती है। हाँ, इतना अवश्य है कि वर्तमान में शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया में बालक की नैसर्गिकता की ओर विशेष महत्त्व दिया जाता है, जब भी वैदिककालीन शिक्षणविधा में गुरु को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया था, इसके साथ ही साथ तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था में आध्यात्मिक चिन्तन प्रधान ज्ञानात्मक उद्देश्य की ओर

---

1. तैत्तिरीयोपनिषद् - 1/11

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विशेष ध्यान दिया जाता था, जब कि वर्तमान पाठ्यक्रम में कौशल (Skill) विशेष की ओर ध्यान देते हुए आत्मनिर्भता के उद्देश्य से मानव को पूर्ण मानवत्व प्रदान करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया में प्रयुक्त पाठ-योजना के सोपानों के महत्त्व को क्रियात्मक पक्ष के रूप में जाना जावे तो उसमें प्रयुक्त प्रस्तावना का पक्ष अध्येता के पारिवारिक और सामाजिक वातावरण की पृष्ठ-भूमि का परिचय प्रदान करता हुआ उसके बौद्धिक स्तर का मूल्याङ्कन करने में सहायक होता है, जिसकी पूर्व पृष्ठ भूमि में माता द्वारा आचरण का प्रशिक्षण और पिता द्वारा उसके सामाजिकीकरण के साथ शैक्षणिक वातावरण के स्वरूप का बोध हो जाता है। इसके साथ ही साथ छात्र द्वारा प्राप्त ज्ञान की गम्भीरता का बोध भी हो जाता है, इस सौपान की झलक वैदिककालीन शिक्षण परम्परा में पाठ प्रारम्भ करने के समय शिष्य द्वारा प्रस्तुत जिज्ञासा के रूप में मिलती है, जिसके अनेकानेक दृष्टान्त भारतीय शिक्षण पद्धति में मिलते हैं यथा, **अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**[1], **अथ योगाऽनुशासनम्**[2], **अथ शब्दानुशासनम्**[3] आदि-आदि। प्रश्नोपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का वृतान्त प्रसिद्ध है। जिसमें जिज्ञासु द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर कथोपकथन की विधि द्वारा आचार्य जिज्ञासा का समाधान देता है।

पाठ-योजना में प्रयुक्त आदर्श वाचन, अनुकरण वाचन और अशुद्धि-संशोधन वेदाङ्ग के रूप में प्रतिपादित **शिक्षा-शास्त्र** का विषय है, जिसका उद्देश्य स्वर-वर्णादि का ठीक-ठीक ज्ञान कराना है। भाषा शिक्षण में शब्दों की पहचान स्वर का बोध और उच्चारण-कौशल का विशेष महत्त्व है। इसी महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए शिक्षावल्ली में उपदिष्ट **सत्यं वद** को अनुशासन के रूप में निरूपित किया गया है।

---

1. ब्रह्मसूत्र (शाङ्करभाष्य) - 1/1
2. पतञ्जलि योग प्रदीप - 1/1
3. पाणिनिय व्याकरण - 1/1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुशासन के समय उपदिष्ट **सत्यं वद** की अवधारणा शब्दों को नाप-तोल कर उच्चारित करने का निर्देश है, जिससे की **इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व** के उच्चारण में अध्वर्यु द्वारा किये गये प्रमाद की पुरावृत्ति न हो जाये, शब्द अपने अर्थ को छोड़ कर अनिष्टकारक न हो जाये। इस आशङ्का से बचने के लिए ही वैदिक ऋषियों ने **वाचं मे पिन्व** का उपदेश दिया है, जिसे वर्तमान शिक्षण प्रविधि में अशुद्धि संशोधन के सोपान द्वारा अभ्यास करने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ इस तरह के अभ्यास की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, वहाँ शब्दों के उच्चारण में अनेकानेक दोष झलकने लगते हैं, यथा **काव्यम्** को **कब्बम्, आचार्यः** को **आचार्जः, सकलम्** को **शकलम्** और **एषा भाषा भाष्यकारेण न भाषिता** को **एखा भाखा भारककोरण न भाखिता** तथा **कक्षा उत्तिष्ठतु** को **कच्छा उत्तिष्ठतु** कहने पर शब्द अपने अर्थ को खोकर प्रायः मृत सा प्रतीत होने लगता है। इस दोष के परिहार के लिए शिक्षाविदों ने अशुद्धि संशोधन और काठिन्य-निवारण, विस्तृत-व्याख्या का विधान किया है। जैसा की संस्कृत साहित्य में एक स्थान पर निर्देश दिया गया है-

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माभूत्सकलं शकलं सकृच्छकृत्॥

पाठ के विश्लेषणात्मक स्वरूप को जानने के लिए भाव-विश्लेषणात्मक, बोधात्मक और पुनरावृत्त्यात्मक प्रश्नों का सहारा आधुनिक शिक्षण में लिया जाता है, जिसकी छाया हम वैदिककालीन शिक्षण परम्परा में प्रश्न-बोधात्मक उत्तर, अनुप्रश्न-प्रश्न का समाधान, विषय की विस्तृत जानकारी के लिए प्रति प्रश्न और उस पर व्याख्या के रूप में देखने को मिलती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि शिक्षण की आधुनिक परम्परा में भी आश्रमकालीन शिक्षण व्यवस्था की झलक देखने को मिलती है, जिसे पूर्व की विषय-वस्तु में निर्दिष्ट किया जा चुका है।

निर्देशन की इस परम्परा को वर्तमान पाठ्य-शिक्षण विधि में आदर्शवाचन और अनुकरण वाचन द्वारा शुद्धोच्चारण की और ध्यान

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देकर शब्द-शक्ति के सामर्थ्य और उच्चारण प्रक्रिया को ही अपनाया गया है। काठिन्य-निवारण द्वारा विषय-वस्तु को बोधगम्य बनाकर ज्ञान-पिपासा को शान्त करने का प्रयत्न किया गया है, प्रश्नोत्तर सम्बन्धित कौशलों के विकास की प्रक्रिया को अपना कर अध्ययनार्थी में जिज्ञासा भाव को विकसित किया गया है तथा मौखिक, लिखित और रचनात्मक प्रवृत्ति के विकास हेतु स्वाध्याय अर्थात् स्वकीय वेद के अध्ययन की ओर छात्र को प्रेरित करने का प्रकार स्वाध्याय और निदिध्यासन की प्रक्रिया के बोधात्मक रूप में कर्म के सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है, जिसे वर्तमान शिक्षा नीति में **कार्यानुभव** के नाम से सम्बोधित किया गया है। कार्यानुभव की प्रणाली कोई नई प्रणाली नहीं है, जिसे वर्तमान शिक्षा-नीति में आत्म-निर्भरता प्रदान करने के उद्देश्य से विकसित किया गया है, यदि वैदिककालीन शिक्षण-व्यवस्था का सूक्ष्मतम अध्ययन किया जाये तो ज्ञात होगा कि वहाँ प्रयुक्त **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** यह श्रुति वाक्य मानव-जाति को सत्कर्म-भावना से भूषित होकर कर्त्तव्यनिष्ठ और दायित्व वहन करने की ओर प्रवृत्त करता है। इसीलिए अथर्ववेद में एक स्थल पर कहा गया है **हमारे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ और बाँये हाथ में सफलता है**[1], दूसरे शब्दों में पुरुषार्थ और सफलता का बिम्ब-प्रतिबिम्बात्मक सम्बन्ध है, जिसमें कर्म भावना का बीज सन्निहित है। इसीलिए लोकोक्ति भी है- **पैसा तो आना जाना है, हाथ-पाँव ठीक रहने चाहिए, फिर संग्रह हो जायेगा।** इन भावों की झलक ऋग्वेदीय ऋषियों द्वारा मानव-जाति को दिये गये संदेशों में मिलती है, जहाँ कहा गया है कि **मनुष्य जिस पदार्थ के ऐश्वर्य को प्राप्त करने में अपना मन लगा लेता है, उसे अपने पुरुषार्थ से प्राप्त कर ही लेता है। जो मनुष्य स्वयं परिश्रम कराता है, वही अपने काम को पूरी तरह सिद्ध करता है**[2]। यजुर्वेद

---

1. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।

ऋग्वेद - 7/52/8

2. यादृशमिमन्धायि तपस्यया विदद् स उ स्वयं वहते सो अरं करत्।

ऋग्वेद - 5/44/8

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में भी कर्त्तव्य कर्म के निर्वाह के साथ सौ वर्ष तक जीने की कामना की गई है[1]। अथर्ववेद में भी कर्म के अङ्गो का उल्लेख है, जिनके नाम हैं - **उत्साह, सावधानी, स्फूर्ति, जागृति, रक्षण और दक्षता**[2]। कर्म में सफलता प्राप्त करने के लिए जीवन तथा व्यवहार में इन साधनों का अभ्यास होना चाहिए। अभ्यास द्वारा साधनों में दक्षता, केवल मात्र शिक्षा-रूपी उपागम से ही प्राप्त हो सकती है, जैसा कि आधुनिक शिक्षाविदों ने शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया में सैद्धान्तिक विचारधारा के साथ-साथ व्यावहारिक पक्ष को अपनाकर कार्यानुभव की पृष्ठभूमि के लिए अनौपचारिक साधनों को विद्यालय-प्राङ्गण में समाहित किया है।

कार्यानुभव की पद्धति से सम्वेष्टित होने के पश्चात् भी वैदिक-कालीन शिक्षा पद्धति में आध्यात्मिक पुट अधिक होने से ज्ञान की प्रधानता के कारण बौद्धिक विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था, जिसके कारण शिक्षणाभ्यास की प्रारम्भिक प्रक्रिया **3-R** अर्थात् **Reading, Writing and Arithmatic** पर आधारित होने के कारण बौद्धिक विकास को ही शिक्षा का उद्देश्य निश्चित किया गया था, जिसका मुख्य कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि उस समय रोजगार के साधन पैतृकवंशानुक्रम द्वारा प्राप्त होते थे। आज समय बदल गया है, व्यावसायिक प्रशिक्षण का उत्तरदायित्व भी ज्ञान - पक्ष के विकास के साथ वर्तमान में विद्यालय पर आ पड़ा है, आज आई. टी. आई. आदि व्यावसायिक प्रशिक्षण क्षेत्र से सम्बन्धित अनेक संस्थाएँ है, जो इस दायित्व का निर्वाह करती हैं। इस कारण वर्तमान में **3-R** पर आधारित शिक्षण-विधि ने **4-H** अर्थात् **Head, Hand, Heart** और **Health** के विकास की ओर शिक्षाविदों का ध्यान आकृष्ट कर लिया है। उनकी इस

---

1. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
यजुर्वेद - 40/2

2. अथर्ववेद - 8/1

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विषय में **स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निवास रहता है** यह अवधारणा रही होगी, जिसके कारण ज्ञान और व्यावसायिक पक्ष के साथ-साथ स्वास्थ्य-सम्बन्धित ज्ञान को भी अधिगम की प्रणाली में समाहित किया गया है।

वैदिककालीन शिक्षा-व्यवस्था में भी इस तरह के विचारों को महत्ता प्रदान की गई है। अथर्ववेद में प्रतिपादित औषध-विज्ञान इसका ज्वलन्त उदाहरण है, जिसमें स्वास्थ्य-सम्बन्धित अनेक सुझाव दिये गये हैं। मानव-जीवन का परम लक्ष्य **पुरुषार्थचतुष्टय** की प्राप्ति है, उत्तम स्वास्थ्य के आभाव में शरीर से धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। आरोग्य के बिना जीवन भार स्वरूप प्रतीत होने लगता है। आरोग्य के लिए स्वास्थ्य-शिक्षा परमावश्यक है। जिसके लिए वेदों में बताये गये अनेक यज्ञों के फल निरामयत्व के साधक हैं। चातुर्मास्य यज्ञ को गोपथ ब्राह्मण में भैषज्य यज्ञ कहते हैं। ऋतु परिवर्तन के समय अनेकानेक उत्पन्न व्याधियों की रोक-थाम के निमित्त पर्यावरण की शुद्धता के लिए यज्ञ सम्पादित किये जाते हैं [1]। जिनमें प्रयुक्त विशिष्ट औषधियों और वनस्पतियों का उल्लेख अथर्ववेद में किया गया है, यथा पीपल, कुश, औषधियों का राजा सोम, अन्न, जल, चावल और जौ, जिनसे अमरतत्त्व अर्थात् दीर्घायु की प्राप्ति हो सकती है [2]। जीवला, जीवन्ती, अरून्धती, रोहिणी, कृष्णा, आसिक्नी आदि नाम औषधियों के वाचक हैं। इनमें से जीवन्ती-दीर्घ जीवन प्रदान करने वाली है, क्योंकि वैद्यक ग्रन्थों में इसको समस्त दोषों को दूर करने वाली औषधि कहा है।

---

1. भैषज्ययज्ञा वा ते।
ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते।
तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते।

गोपथब्राह्मण - 2/1/10

2. अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृंत हविः।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ।।

अथर्ववेद - 8/7/20

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में अनेकानेक औषधियों का रोगों के निदान के लिए निर्देश दिया गया है, साथ ही साथ अथर्ववेदीय महर्षियों ने सृष्टि-नियन्ता परब्रह्म परमेश्वर से स्वस्थ जीवन की कामना के लिए प्रार्थना की है- **सम्पूर्ण औषधियाँ मेरे अनुकूल रह कर इस मनुष्य को पाप रूप रोग से बचायें**[1]। अथर्ववेद में अन्यत्र भी महर्षियों द्वारा प्रार्थना की गई है- **वरुण वृष्टि का अधिपति है**[2]। इसके क्रुद्ध होने पर जलोदर रोग उत्पन्न होता है। वह पशुओं को भी हानि पहुँचाता है, इसलिए इसे सन्तुष्ट करने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ का विधान है।

अपौरुषेय शब्दावली रूप वैदिक वाङ्मय में ऋषियों द्वारा पर्यावरण-चिन्तन है। पर्यावरण-प्रदूषण वर्तमान में ज्वलन्त समस्या का रूप धारण किये हुए है। पर्यावरण चाहे सामाजिक हो अथवा भौगोलिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक हो, मानव के मन-मस्तिष्क पर अपना प्रभाव अवश्य डालता है। अतः वर्तमान में, पर्यावरण में व्याप्त प्रदूषण के निदान के लिए सम्पूर्ण विश्व चिन्तित दिखाई देता है, जिसके निदान के लिए विभिन्न क्षेत्रों के वैज्ञानिक और समाज सुधारक प्रत्यनशील दिखाई देते हैं। उनका यह मानना है कि इससे मानव के जीवन पर विपरित प्रभाव पड़ता है। अतः पर्यावरण में व्याप्त प्रदूषण को किसी भी प्रकार से दूर अवश्य किया जाना चाहिए। वर्तमान का यह चिन्तन वैदिक वाङ्मय अपने में संजोये हुए है, जिसके द्वारा भविष्य को ध्यान में रखते हुए मानव-समुदाय को प्रकृति-संरक्षण और यज्ञ के अनुष्ठान द्वारा आध्यात्मिक वातावरण का सृजन कर पर्यावरण से सम्बन्धित विपदाओं के निदान से सम्बन्धित निर्देश दिये गये हैं। इन निर्देशों में सत्य सम्वेष्टित कर्म-अनुष्ठान की प्रधानता का वर्चस्व दिखाई देता है।

---

1. सर्वः समग्रा औषधीर्बोधन्तु वचसो मम।
यथेमं पारयांमसी पुरुषं दुरितादधि॥

अथर्ववेद - 8/7/19

2. मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम्।

अथर्ववेद - 5/24/5

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर्म-भावना जहाँ एक ओर श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने का उपदेश देती है, जिसका मूल मन्त्र हमें यज्ञ के अनुष्ठान की शिक्षा द्वारा ऋषि-मुनियों ने दिया है। गीता में कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेश को अपने जीवन में समाहित करते हुए वर्तमान समाज के पथ-प्रदर्शक की भूमिका का निर्वाह करने वाले महात्मा गाँधी ने अधिगम के क्षेत्र में बुनियादी शिक्षा को अपनाने का सुझाव दिया था। इस विंषय में उनका मानना था कि मात्र अक्षर बोध से मानव का अभ्युदय सम्भव नहीं है, इसके लिए आत्म-निर्भरता सम्बन्धित नैसर्गिक गुणानुसार मानव-शिशु को कार्यानुभव प्रणाली द्वारा प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। तभी शिक्षा अपने वास्तविक उद्देश्य को प्राप्त कर पायेगी। शिक्षण के क्षेत्र में महात्मा गाँधी के इस अद्वितीय सुझाव को महत्ता प्रदान करने के सम्बन्ध में जे. बी. कृपलानी ने कहा था कि इस शिक्षा में बालक हाथ के काम करने वाले व्यक्तियों को सम्मान की दृष्टि से देखता है और हस्त-श्रम का महत्त्व समझता है। हमारे देश में मानसिक कार्य को श्रेष्ठ और हाथ का कार्य निकृष्ट समझा जाता है। इस प्रकार के विचार और भेदभाव आजकल के नये जनतान्त्रिक वातावरण में उचित नहीं है और जनतन्त्रवादी संस्थाओं की वृद्धि और विकास में बाधा डालते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर बुनियादी शिक्षा में हाथ के काम को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।

बुनियादी शिक्षा में हाथ के काम को महत्ता प्रदान करने के उद्देश्य से महात्मा गाँधी ने जिन शिक्षण सिद्धान्तों को झलकाया है, वे हैं-

(क) लिखना-पढ़ना सीखना और वर्णमाला के अक्षर सीखने से पूर्व ड्राइंग सीखना।

(ख) करके सीखना।

(ग) अनुभव द्वारा सीखना।

(घ) सीखने की प्रक्रिया में समन्वय।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इन शिक्षण-सूत्रों में कर्म की प्रधानता को महत्त्व दिया गया है, जिसके मूल में बालक के सर्वाङ्गीण विकास के रूप में **4-H** पर आधारित शिक्षण विधा ही है। जिसके लिए ऋग्वेद में कहा गया है- **उत्तम कर्मों की शक्तियाँ अनन्त हैं। कर्म में अनन्त शक्तियाँ भरी पड़ी हैं प्रत्येक उत्तम कर्म करने के साथ ही करने वाले को शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। इन शक्तियों से मानव सामर्थ्यशाली बनता है**[1]। इस महर्षि वाक्य से भी यही ध्वनित होता है कि कर्मों का सम्पादन व्यक्ति के उत्थान के लिए तो लाभकारी है ही, साथ ही लोक-कल्याणकारी भी है। गीता में कर्म-योग का दृष्टिकोण भी यही है कि निज-स्वार्थों का परित्याग करके लोक-कल्याण के उद्देश्य से कर्म में प्रवृत्त रहना चाहिए।

वैदिक वाङ्मय में प्रतिपादित आध्यात्मिकमूलक कर्म भावना की झलक हमें ग्रीक के प्राचीन दार्शनिक अरस्तु के इस विचार से मिलती है, जिसमें उन्होंने कर्म की अपेक्षा, अकर्म को अच्छा कहने की भूल को स्वीकार किया है। उनके मतानुसार कुछ ज्ञानी पुरुष तत्त्व विचार में, तो कुछ राजनैतिक कार्मों में निमग्न दिख पड़ते हैं और यदि पूछा जाय कि इन दोनों मार्गों में कौन-सा बहुत अच्छा है तो यही कहना पड़ेगा कि प्रत्येक मार्ग अंशतः सच्चा है, तथापि कर्म की अपेक्षा अकर्म को अच्छा कहना भूल है। अरस्तु का यह कथन गीता के **कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः**[2] इस सिद्धान्त से साम्य रखता है। फ्रेंच दार्शनिक काँट भी अरस्तु के समान कर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं। **उद्योगिनं पुरुष-सिंहमुपैतिलक्ष्मीः** इस कथनानुसार क्रिया अथवा कर्म की प्रधानता सर्वत्र

---

1. ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः.....।
ऋग्वेद - 4/23/8

2. नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः॥
श्रीमद्भगवद्गीता - 3/8

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। जिसकी झलक हमें जर्मन दार्शनिक फ्रेडरिक, विलियम, अरस्तु के विचारों में मिलती है।

क्रियाशीलता, आत्म-शक्ति तथा आत्म विश्वास के अभिवृध्यर्थ ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से **किण्डर-गार्डन पद्धति** का विकास किया गया। शरीर और मानसिक रूप से अविकसित बालक को आत्म-निर्भरता प्रदान करने के उद्देश्य से इटली की मेरिया माँन्टेसरी ने **माँन्टेसरी प्रविधि** और बेलजियम के मनोवैज्ञानिक साविन ने **डेक्राँली विधा** द्वारा इन्द्रियों और माँसपेशियों को प्रशिक्षित करने के लिए क्रियाशीलता के सिद्धान्त को जन्म देकर नई-दिशा प्रशस्त की। इस दिशा-बोध की प्रक्रिया में सिद्धान्त-प्रतिपादकों की अवधारणा के मूल में निहित उस पीड़ा का अहसास दिखाई देता है, जिसमें बौद्धिक और शारीरिक रूप से अविकसित बालकों में पराश्रितता के भाव झलकते हैं। इन भावों को उनके मन-मस्तिष्क से ओझल कर आत्म-निर्भरता प्रदान करने के उद्देश्य से कर्मेन्द्रियों द्वारा प्रशिक्षण का सिद्धान्त पूर्णतः कर्मवाद पर आधारित है। डा. कर्लटन वाशबर्न ने **विटेनका योजना** के माध्यम से रचनात्मक कार्यों को महत्ता प्रदान करते हुए व्यावसायिक प्रशिक्षणार्थ शिक्षण-पाठ्यक्रम में 30 विभिन्न प्रकार के कार्यों को स्थान दिया है- जैसे लोहे, मिट्टी और लकड़ी के काम, कला, छपाई, पत्रकारिता, अभिनय, गायन, सामूहिक खेल और संगीत तथा साहित्य की रसानुभूति।

इस प्रकार यदि सम्पूर्ण भारतीय और पाश्चात्य शैक्षिक विचारधारा और शिक्षा-नीति का समालोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय, तो इस निष्कर्ष पर सुगमता से पहुँचा जा सकता है कि वैदिक-शिक्षा पद्धति का आधुनिक शिक्षा-प्रक्रिया पर अत्यधिक प्रभाव है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिशिष्ट संख्या-1

पाठ-योजना

विद्यालयस्य नाम-

कक्षा - उत्तरमध्यमा/द्वादशी **वर्ग** - क

अन्तरम् - चतुर्थम् **अवधिः**- पञ्चत्रिंशन्निमेषाः

छात्रसंख्या - पञ्चविंशतिः **मध्यायुः**- सप्तदश वर्षाणि

विषय : - वेदः **प्रकरणम्**- शिवसंकल्पसूक्तम्

दिनांकः- **दिवसः**-

छात्राध्यापकस्य नाम - **अनुक्रमाङ्कः**-

शैक्षणिकोद्देश्यानि -

ज्ञानात्मकोद्देश्यानि -

नूतनपदपरिचय :- शिवसंकल्पम्, विदथेषु, भुवनम्, तायते, ओतम् इत्येतेषां नूतनपदानां छात्रेभ्यः परिचयप्रदानम्।

अनुस्मरणम् - जाग्रतः, मनीषिणः, प्रज्ञानम्, सप्तहोता, रथनाभौ इत्येतेषां पदानामनुस्मरणम्।

अवबोध :- दूरङ्गमम्, शिवसंकल्पम्, प्रज्ञानम्, सप्तहोता इत्येतेषां पदानां विस्तारपूर्वकमवबोधप्रदानम्।

विषयगतोद्देश्यानि- मनसः स्वरूपस्य तस्य शक्तीनांच सम्बन्धे ज्ञानप्रदानपूर्वकं मनसः सत्संकल्पे स्थापनाय छात्राणां प्रबोधनम्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कौशलगतोद्देश्यानि-

श्रवणकौशलविकासः- आदर्शवाचनस्पष्टीकरणव्याख्यादिद्वारा छात्रेषु श्रवणकौशलस्य विकासः।

पठनकौशलविकासः- अनुकरणवाचनानुवाचनाभ्यामेकलवाचनेन समवेतवाचनेन च छात्रेषु पठनकौशलविकासः।

कथनकौशलविकासः- प्रश्नोत्तरमाध्यमेन उत्तरकथनद्वारा छात्रेषु कथनकौशलस्य विकासः।

लेखनकौशलविकासः- श्यामपट्टकार्यानुलेखनेन प्रश्नोत्तराणां लेखनेन गृहकार्यलेखनेन च छात्रेषु शुद्धवर्तन्या सुन्दरैरक्षरैः लेखनकौशलस्य विकासः।

सहायकोपकरणानि -

सामान्यानि- श्वेतवर्त्तिका, प्रोञ्छनवस्त्रम्, श्यामपट्ट :, आकुञ्चनश्यामपट्ट :, पाठ्य-पुस्तकम्, संकेतिका च।

विशिष्टानि- एकं चित्रम् यस्मिन् सुप्तः जागृतश्च नरौ चित्रितौ दृश्येते।

पूर्वज्ञानम्- छात्राः जानन्ति यत् जाग्रतावस्थायां नरः अनेकान् विषयान् चिन्तयति, सुप्तश्च अनेकान् स्वप्नान् पश्यति।

प्रस्तावना-

प्रश्नाः	सम्भावितोत्तराणि
1. सुप्तः नरः स्वप्ने किं किं पश्यति?	सुप्तः नरः स्पप्ने अनेकान् विषयान् पश्यति।
2. नेत्रे निमील्य सुप्तोऽपि नरः स्वप्ने कथम् पश्यति?	सुप्तः नरः स्वप्ने मनसा पश्यति।
3. जागृतः नरः मनसा कथम् पश्यति?	जागृतः नरः मनसा अनेकविधान् विचारान् चिन्तयति।
4. आत्मकल्याणाय लोककल्याणाय च अस्माकं मनः कीदृशं स्यात्?	समस्यात्मकोऽयं प्रश्नः।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उद्देश्यकथनम् – अद्य वयं मनसः अभीष्टं रूपं ज्ञातुं वेदोक्तं शिवसंकल्पसूक्तं पठिष्यामः।

प्रस्तुतीकरणम् –

(पाठ्यांशः)

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्च न कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

1/1-5

लक्षिताधिगमः	छात्राध्यापक- छात्रक्रियाः	शिक्षण-प्रतिफलम्

वाचनम्

आदर्शवाचनम्

सस्वरं शुद्धोच्चारण-श्रवणेन कौशलस्य विकासः	छात्राध्यापकः गतियतिलयानुसारेण शुद्धोच्चारणपूर्वकं छात्राणां सम्मुखं सस्वरमादर्शवाचनं विधास्यति, छात्राश्च ध्यानपूर्वकं श्रोष्यन्ति।	शुद्धोच्चारण ज्ञानम्।

अनुकरणवाचनम्

प्रतिपादं पठनक्षमता विकासः	छात्राध्यापकः पाठ्यमन्त्रान् प्रतिपाद-मनुकरणवाचनविधिना छात्रान् मन्त्रवाचनं शिक्षयिष्यति।	प्रतिपादं पठनक्षमतो-त्पत्तिः।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लक्षिताधिगमः	छात्राध्यापक- छात्रक्रियाः	शिक्षण-प्रतिफलम्

अनुवाचनम्

पठनक्षमता विकासः	छात्राः छात्राध्यापकम् अनुसृत्य प्रतिपादं वाचनं कारिष्यन्ति।	पठनक्षमतोत्पत्तिः

सामूहिकपाठः

सामूहिक वाचनक्षमता विकासः	छात्राध्यापकनिर्देशेन छात्राः पाठ्यमन्त्राणाम् आदर्शवाचना-नुकरणवाचनानुरूपेण समवेतं वाचनं करिष्यन्ति।	छात्राः समवेत-पाठदक्षाः भवन्ति।

एकलवाचनम्

एकलवाचन-क्षमता विकासः	छात्राध्यापकनिर्देशानुसारेण केचन छात्राः एकैकस्य मन्त्रस्य एकलं सस्वरं वाचनं करिष्यन्ति, अन्ये छात्राः पाठ-दोषान् प्रति सावधानाः स्थास्यन्ति।	छात्राः स्वतन्त्र रूपेण पठितुं क्षमाः भवन्ति।

अशुद्धिसंशोधनम्

वाचन-दोषाणां परिहारः	समवेतवाचने एकलवाचने च सञ्जातानाम् उच्चारणदोषाणां संशोधनं छात्राध्यापकः श्यामपट्टस्य उपयोग-पूर्वकं छात्राणां सहयोगेन करिष्यति।	छात्रा उच्चारण। दोषान् परिहृत्य शुद्धोच्चारणं जानन्ति।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

काठिन्यनिवारणं विस्तृतव्याख्याच-

लक्षिताधिगमः	शब्दः	अर्थः	विधिः	विवरणम्	शिक्षण-प्रतिफलम्
नूतन शब्दानां परिचयः, पूर्वपरिचितानां शब्दानां अनुस्मरणम्	शिवसंकल्पम्	कल्याणविचारयुतम् मङ्गलविचारयुतम्,	समास-विग्रहः पर्यायविधिश्च	शिवः संकल्पः यस्य। शिवः- कल्याणमयः, मङ्गलमयः, शान्तः **संकल्पः**- विचारः, धारणा।	शब्दार्थानां बोधः।
	विदथेषु	यज्ञविधिविधानेषु	शब्द-व्याख्याः	**विदथेषु**- ज्ञानेषु सत्सु विद्यन्ते।	
	अपसः	कर्मवन्तः।	निधुण्टु-व्याकरण विधिः	**अपसः** - अपि इति कर्मनाम, अपो विद्यते येषां ते अपस्विनः कर्मवन्तः।	
	प्रज्ञानम्	प्रकृष्टज्ञानजनकम्।	व्युत्पत्तिविधिः	**प्रज्ञानम्**- यत् मनः प्रकृष्टेन, विशेषेण ज्ञानजनकम् अथवा प्रकर्षेण ज्ञायते येन तत् मनः।	
	भुवनम्	वर्तमानम्।	तुलना-व्युत्पत्ति विधिश्च	भूतम् - भुवनम्-भविष्यत्,	

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri Collection, Najafgarh

लक्षिताधिगमः	शब्दः	अर्थः	विधिः	विवरणम्	शिक्षण-प्रतिफलम्
				ह्यः - अद्य - श्वः।	
				भवति इति भुवनम्।	
				भू धातुः +क्यु प्रत्ययः।	
	तायते	विस्तार्यते	व्याकरण विधिः	तनु विस्तारे। तनु + यक्	
				प्रत्ययः। 'तनोतेर्यकि' इति	
				सूत्रेण आकारः।	
	ओतम्	ओतं प्रोतं,	भाषान्तर-	हिन्दी भाषायां 'ओत-प्रोत'	
		निक्षिप्तम्	तुलना तथा	अर्थात् पूर्णतया व्याप्तम्।	
	मनीषिणः	मनस्विनः	शब्द-व्याख्या	**मनीषा**-बुद्धिः, मेधा।	
			विधिः	मनीषा यस्य अस्ति स	
				मनीषी।	
				प्रथमा बहुवचने मनीषिणाः।	
	सप्तहोता	सप्त होतारः	व्याख्या विधिः	सप्तहोता अग्निष्टोमः यज्ञः।	
		यस्मिन् यज्ञे		अग्निष्टोमयज्ञे सप्तहोतारः	
		सः		भवन्ति।	
				जुहोतिधातोरूत्पन्नः होतृ शब्दः,	
				होतारः देवानाम् आह्वातार इति वा।	

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लक्षिताधिगमः	छात्राध्यापक- छात्रक्रियाः	शिक्षण-प्रतिफलम्
	सस्वर-वाचनम्	
अवबोधपूर्वकं पठन-कौशल-विकासः	छात्राध्यापकः द्वि-त्रैः छात्रैः प्रथममन्त्रस्य एकलपाठद्वारा वाचनं कारयिष्यति, येन छात्राः समग्रं पाठं अवबोद्धुं क्षमाः भविष्यन्ति।	अर्थावबोधः।
	व्याख्या-प्रश्नाः	
मनसः स्वरूप-ज्ञानम्	1 मनः जाग्रतावस्थायां सुप्तावस्थायाञ्च कथं व्यवहरति? 2 ज्योतिषां ज्योतिः मनः कीदृशमस्तु?	छात्राः मनसः विषये जानन्ति।
	व्याख्या	
मनसः कर्म-विषये ज्ञानम्	छात्राणाम् उत्तराणि संगृह्य छात्राध्यापकः व्याख्यां वक्ष्यति चित्र द्वारा च विषयं स्पष्टीकरिष्यति- जागरण शीलस्य पुरुषस्य मनः यथा विचारैः दूरं दूरं गच्छति- विभिन्नान् विषयान् चिन्तयति तथैव सुप्तस्यापि मनः व्यवहरति। एतन् मनः ज्योतिषां श्रोत्रादीनां इन्द्रियाणां प्रकाशकं शान्तसंकल्पयुक्तं भवतु।	छात्राः मनसः क्षमता विषये जानन्ति।
	सस्वर-वाचनम्	
	छात्राः द्वितीयमन्त्रस्य एकल- पाठं करिष्यन्ति, येन छात्राः समग्रपाठं अवबोद्धुं क्षमाः भविष्यन्ति।	
	व्याख्या प्रश्नाः	
मनसः कार्य-ज्ञानम्	1. कर्मवन्तः धीराः मनीषिणः मनसा कुत्र कर्माणि कुर्वन्ति? 2. प्रजानां मध्ये स्थितं अपूर्वं पूज्यं मनः कीदृशमस्तु?	छात्रा मनसः कार्याणां विषये जानन्ति।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लक्षिताधिगमः	छात्राध्यापक- छात्रक्रियाः	शिक्षण-प्रतिफलम्

व्याख्या

मनसा एव कार्याणि भवन्ति	छात्राणामुत्तराणि संगृह्य छात्राध्यापकः व्याख्यां करिष्यति - धैर्यशलिनः कर्मवन्तः मनीषिणः यज्ञ-विधिविधानेषु मनसा एव कर्माणि सम्पादयन्ति। एतन् मनः अनुपममस्ति। एतत् प्रजानां मध्ये विद्यते। तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।	मनीषिणः मनसा यज्ञ-कर्माणिकुर्वन्ति। मनः अद्वितीयं पूज्यञ्च इति छात्राः जानन्ति।

सस्वर-वाचनम्

अवबोधपूर्वकं पठन-कौशल-विकासः	छात्राध्यापकः द्वि - त्रैः छात्रैः तृतीयमन्त्रस्य एकलपाठं कारयिष्यति, येन छात्राः समग्रं पाठं अवबोद्धुं क्षमाः भविष्यन्ति।	मन्त्रस्य अर्थबोधः।

व्याख्या - प्रश्नाः

मनसः विशिष्टावस्थानां ज्ञानम्	1. मनसः विशेषाः के सन्ति? 2. मनसा ऋते किमपि कर्म कस्मात् न क्रियते?	छात्राः मनसः वैशिष्ट्यानां विषये जानन्ति।

व्याख्याः

मनसा ज्ञान चैतन्य धृति प्रकाशादि रूपानां बोधः।	छात्राणामुत्तराणि संगृह्य छात्राध्याकः व्याख्यां वक्ष्यति- मनः प्रकृष्टं ज्ञानमस्ति अथवा विशिष्टं ज्ञानं कारयति। मनः चैतन्यं आनयति। मनः धैर्यरूपम् अस्ति, मनः प्रजासु - जनेषु ज्योतिरूपमस्ति। मनसा विना किमपि कर्म कर्तुं न शक्यते। तन् मे मनः शान्तसंकल्पमस्तु।	छात्राः मनसा विभित्रानां रूपाणां विषये ज्ञास्यन्ति मनसश्च कार्यं अनिवार्यतया जानन्ति।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लक्षिताधिगमः	छात्राध्यापक-छात्रक्रियाः	शिक्षण-प्रतिफलम्

सस्वर-वाचनम्

अवबोधपूर्वकं पठन-कौशल-विकासः	कैश्चन छात्रैः चतुर्थमन्त्रस्य एकलपाठः करिष्यते। येन छात्राः समग्रं पाठं अवबोद्धुं क्षमाः भविष्यन्ति।	मन्त्रस्य अर्थावबोधः।

व्याख्या - प्रश्नाः

मनसः शक्तीनां विषये ज्ञानम्	1. कालाः कति भवन्ति ? 2. मनसः कालेषु कः प्रभावः ? 3. सप्तहोता यज्ञः कः भवति ?	छात्राः मनसः प्रभावं बुद्धयन्ते।

व्याख्याः

मनः त्रिषु कालेषु प्रभावं स्थापयति। मनसा एव यज्ञादि कार्याणि भवन्ति, इति ज्ञानम्	छात्राध्यापकः छात्रैः दत्तानाम् उत्तराणामाधारेण मन्त्रस्य व्याख्यां वक्ष्यति। मनः त्रिषु, भूत- वर्तमान-भविष्यत्कालेषु सर्वथा प्रभावपूर्णं भवति। मनः अमृतमयं भवति। मनसः शक्त्या एव सप्तहोता अग्निष्टोमयज्ञः सम्पादयितुं शक्यते न अन्यथा। मन एव सर्वाणि कार्याणि कर्तुं प्रभवति। तन् मनः कल्याणविचारयुक्तं भवतु।	छात्राः मनसः सर्वकालिकत्वं व्यापकत्वं साधकत्वं च जानन्ति।

सस्वर-वाचनम्

अवबोधपूर्वकं पठन-कौशल विकासः	छात्राध्यापकनिर्देशानुसारेण द्वि-त्रैः छात्रैः पञ्चममन्त्रस्य एकल वाचनं करिष्यते, अन्ये: छात्राः ध्यानपूर्वकं श्रोष्यन्ति।	मन्त्रस्त्र अर्थावबोधः।

व्याख्या-प्रश्नाः

सर्वविधं ज्ञानं मनसि स्थितं भवति, इति बोधः	1. वेदेषु निर्दिष्टं ज्ञानं मनसि कथं स्थितं भवति? 2. प्रजानां चित्तं कुत्र तिष्ठति?	वेदानां ज्ञानं मनसि एव तिष्ठति, इति छात्राः जानन्ति।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लक्षिताधिगमः	छात्राध्यापक- छात्रक्रियाः	शिक्षण-प्रतिफलम्

व्याख्याः

ज्ञानस्य उद्भूतिः मनसि एव भवति	छात्राध्यापकः छात्रोत्तराणि संश्लिष्य मन्त्रव्याख्यां करिष्यति-ऋक्-साम-यजुरादिवेदाः मनसि केन्द्रिता वर्तन्ते। यथा रथस्य नाभौ आराः, काष्ठानि तिष्ठन्ति इत्थमेव वेदा अपि मनसि स्थिता भवन्ति। संसारे सर्वेषां जनानां चित्तमपि मनसि एव संलग्नं भवति अर्थात् जनानां ज्ञानं मनसि निहितं भवति। मम तादृशं मनः शिवसंकल्पमयं भवतु।	जनानां ज्ञनमपि मनसि एव तिष्ठति। जनानां ज्ञानमपि मन एव तिष्ठति।

सस्वर-वाचनम्

अधिगमपूर्वकं वाचनाभ्यासः	अध्यापकनिर्देशेन छात्राः सामूहिक रूपेण मन्त्राणां स-स्वरवाचनं करिष्यन्ति।	छात्राः वाचन- पूर्वकं पाठाधिगमं प्राप्स्यन्ति।

भावविश्लेषणात्मका प्रश्नाः

छात्राणाम् अधिगम-परीक्षा पुष्टिश्च	1. मनसः विशेषताः काः सन्ति? 2. मनीषिणः किं कुर्वन्ति? 3. मनसः स्वरूपं किम्? 4. मनसः प्रभावः कुत्र भवति? 5. मनसि किं तिष्ठति?	छात्राः स्वज्ञानस्य विषये जानन्ति।

सारकथनम्

संक्षेपेण पाठस्य बोधः	छात्राध्यापकः पाठस्य सारं वक्ष्यति- मनः जागृतावस्थायां सुप्तावस्थायां च इन्द्रियाणि विनैव दूरं दूरं गच्छति अर्थात् सर्वत्र गच्छति। एतत् परमं ज्योतिः अस्ति।	छात्राः मनसः विषये

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लक्षिताधिगमः	छात्राध्यापक- छात्रक्रियाः	शिक्षण-प्रतिफलम्
	मनीषिणः यज्ञादिकार्येषु मनसा एव कर्माणि कुर्वन्ति। मनः अद्वितीयं पूज्यञ्च भवति। एतत् प्रजासु अन्तःतिष्ठति। मनः ज्ञानरूपं चैतन्य-रूपं धैर्यरूपं च भवति। तस्मात् विना किमपि कार्यं न कर्तुं शक्यते। मनः त्रिषु कालेषु प्रभावं धारयति। वेदानां सर्वं ज्ञानं मनसि तिष्ठति। सर्वाः प्रजाः मन एव कामयन्ते। मम एतन् मनः कल्याणमयं भवतु।	सारूपेण जानन्ति।

पुनरावृत्यात्मकाः प्रश्नाः

मनसः सम्बन्धे विविधज्ञानस्य बोधः।	1. मनुष्यस्य मनः दूरं कदा गच्छति? 2. यज्ञ-विधानेषु मनसः कर्माणि के कुर्वन्ति? 3. मनसा विना किमपि कर्म कस्मात् न क्रियते? 4. सप्तहोता यज्ञः कः भवति? 5. मनसि वेदानां ज्ञानं कथं प्रतिष्ठितं भवति?	मनसः रूपस्य विशेषतानां शक्तीनां प्रभावाणां च सम्बन्धे छात्राः जानन्ति।

गृहकार्यम्

1. निम्नलिखितानां प्रश्नानां उत्तराणि लिखत-

(क) मनसः स्वरूपं वर्णयत?

(ख) मनसः प्रभावाः केषु कालेषु भवति?

(ग) मनः केषु अन्तर्ज्योतिः भवति?

(च) मम मनः कीदृशम् अस्तु?

पाठे पठितस्य मनः सम्बन्धि ज्ञानस्य लेखन-प्रयोगेण द्रढीकरणम्।	2. एकेन शब्देन अर्थं लिखत- शिवसंकल्पम्, विदथेषु, प्रज्ञानम्। 3. दत्तैः शब्दैः रिक्तस्थानपूर्तिः विधेया- ऋते, मनः, साम, कर्माणि। पूर्णतया-	छात्राः मनः सम्बन्धि ज्ञानं लिखित्वा पूर्णतया अधिगमिष्यन्ति।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लक्षिताधिगमः छात्राध्यापक- छात्रक्रियाः शिक्षण-प्रतिफलम्

(क) तन्मे ..... शिवसंकल्पमस्तु ।

(ख) येन मनीषिणः यज्ञे ..... कृण्वन्ति ।

(ग) यस्मान् ..... किञ्चन कर्म क्रियते ।

(घ) यस्मिन् ऋचः ..... यजूꣳषि प्रतिष्ठिता ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिशिष्ट संख्या - 2

अनुशीलित-ग्रन्थानुक्रमणिका

संस्कृत-ग्रन्थ

ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक
अग्नि पुराणम्	आचार्य बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1960
अथर्ववेद	भाष्यकार डॉ. श्रीपाद दामोद सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल सूरत 1955
अथर्ववेद संहिता	श्रीकण्ठ शास्त्री	माधव पुस्तकालय दिल्ली, सम्वत् 2030
अथर्ववेद संहिता	विश्वनाथ शास्त्री	चौखम्बा ओरियन्टलिया दिल्ली, 1977
अष्टादश पुराण परिचय	श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी	भारतीय सहित्य विद्यालय, वाराणसी
अष्टादश उपनिषद्	लिमये वि. प्र. वाडेकर	वैदिक संशोधन मण्डल पूना, 1958
अष्टादश स्मृति	म. मिहिरचन्द	नाग प्रकाशक, 1990
आपस्तम्ब धर्मसूत्र	हरदत्त मिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1969
ईशावास्योपनिषद् शांकर-भाष्य	मोतीलाल जालान	गीता प्रेस गोरखपुर (उ.प्र.)
ईशादिनोपनिषद्	व्याख्याकार हरिकृष्णदास गोयनका	गीता प्रेस गोरखपुर (उ.प्र.) सं. 2047

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक
ऋग्वेद (1-8 भाग)	विश्व बन्धु	वैदिक विश्वेवरानन्द शोधसंस्थान, होशियारपुर 1965
ऋग्वेद संहिता (1-8)	मैक्समूलर भट्ट	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1966
ऋग्वेद सूक्त (1-8)	दिवेकर ह. रा.	मोतीलाल बनारसीदास 1970
एकादशोपनिषद्	सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार	विजय कृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी, देहरादून
ऐतरेय ब्राह्मण		चौखम्बा संस्कृत सस्थान, वाराणसी, 1987
कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता	दामोदर श्रीपाद सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल सूरत, 1958
कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद्	सायणाचार्य	आनन्दाश्रम, मुद्रणालय पूना, 1967
छान्दोग्योपनिषद्	आचार्य वामन	महाराज शिवाजी बड़ोदा, 1961
धर्मशास्त्र का इतिहास (1-5)	डॉ. पाण्डुरङ्ग वामनकाणे अनुवादक अर्जुन कश्यप चौबे	उत्तर प्रदेश संस्कृत सीरिज 1984
पञ्चतन्त्र	विष्णु शर्मा	चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी, 1962

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक
पाश्चात्य शिक्षा शास्त्री	राजेन्द्र प्रसाद श्रीवास्तव	साकेत साहित्य मन्दिर फैजाबाद, 1972
पुराण विमर्श	बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा विद्याभवन, 1965
पुराण तत्त्वमीमांसा	मा म. गिरिधर शर्मा	वाराणसी, 1961
पुराणानुशीलन	गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, 1970
प्राचीन भारत का इतिहास	डॉ. भगवतशरण उपाध्याय	पटना, 1949
ब्रह्म पुराण	तारणीश झा	हिन्दी साहित्य सम्मेलन 1976
भविष्य पुराण		वेक्टेश्वर प्रेस मुम्बई स. 1997
भारतीय धर्म शास्त्र का इतिहास	वाचस्पति गैरोला	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, 1988
भारतीय शिक्षा दर्शन	सरयू प्रसाद चौबे	दि मैकमिलन क. आफ इण्डिया दिल्ली, 1975
भारतीय शिक्षा का इतिहास	रावत प्यारेलाल	रामप्रसाद एण्ड सन्स आगरा, 1972
भारतीय साहित्य अनुशीलन	आचार्य बलदेव उपाध्याय	शारदा संस्थान का वाराणसी 1985
मनुस्मृति	पं. रामेश्वर भट्ट	चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान 1985

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक
महाभारत	श्रीकृष्ण द्वैपायन प्रणीत	गीता प्रेस, गोरखपुर वि. सं. 2013
मुण्डकोपनिषद्	शंकरभाष्य	गीताप्रेस गोरखपुर
याज्ञवल्क्य स्मृति	नारायणराम आचार्य	नाग प्रकाशक, 1985
रामायणकालीन संस्कृति	शान्ति कुमार	सत्साहित्य संस्कृति प्रकाशन, दिल्ली
विष्णु-पुराण	श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान, रक्बाजा कुतुब, बरेली, 1969
विष्णुधर्मोत्तरपुराण	श्री वेङ्कटेश्वर	स्टीम प्रेस, बम्बई सं. 1969
वेद दिग्दर्शन	माधवाचार्य	माधव पुस्तकालय, दिल्ली, सं. 2030
वेद सार	विश्वेश्वरानन्द	संस्थान प्रकाशन, 1951
वेदस्वरूप विमर्श	श्रीकरपात्री स्वामी	भक्ति सुधा साहित्य परिषद् कलकता, सं. 2021
वैदिक साहित्य की रूपरेखा	हंसराज अग्रवाल	चौखम्बा विद्या भवन 1965
वैदिक विज्ञानम्	मं. मं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी	अखिल भारतीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली 1965
वैदिक साहित्य और संस्कृति	आचार्य बलदेव उपाध्याय	शारदा संस्थान, वाराणसी, 1980

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक
वैदिक साहित्य का इतिहास	डॉ. कर्णसिंह, रतिराम शास्त्री	शिक्षा साहित्य का प्रकाशक मेरठ, 1989
वैदिक शिक्षा मीमांसा	डॉ. भास्कर मिश्र	ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली, 1991
शतपथ ब्राह्मण	चिन्नस्वामी दीक्षित	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1950
शिव महापुराण (प्रथम-द्वितीय खण्ड)	पं. शिवदत्त मिश्र शास्त्री	ठाकुर प्रसाद बुकसेलर 1960
शुक्ल यजुर्वेद	जगदीशलाल शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 1971
शिक्षा-मनोविज्ञान	वी. डी. घाटे	हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, चण्डीगढ़, 1971
शिक्षा मनोविज्ञान	पाठक और त्यागी	विनोद पुस्तक भण्डार, आगरा
शिक्षा के सिद्धान्त	रामशकल पाण्डेय	विनोद पुस्तक भण्डार, आगरा (उ.प्र.)
शिक्षा एवं संस्कृतिः नये संदर्भ	डॉ. भास्कर मिश्र	भावना प्रकाशन नई दिल्ली, 1995
श्वेताश्वतरोपनिषद्	तुलसीराम शर्मा	ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली, 1982
श्रीमद्भागवतमहापुराण	महर्षि वेदव्यास	गीता प्रेस गोरखपुर सं. 2001

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक
श्रीमद्देवीभागवत भाषा टीका	पण्डित श्री रामतेज पाण्डेय	चौखम्बा संस्कृत पुराण प्रतिष्ठान, वाराणसी
श्रीमद्भगवद्गीता	टीकाकार जयदयाल गोयन्दका	गीता प्रेस गोरखपुर सं. 2046
श्री रामचरितमानस	गोस्वामी तुलसीदास	गीता प्रेस गोरखपुर
संस्कृत संकृति स्तवक	डॉ. मण्डन मिश्र	नाग प्रकाशक, 1993
संस्कृत साहित्य का इतिहास	पं. बलदेव उपाध्याय	शारदा मन्दिर वाराणसी 1969 ई.
संस्कृत साहित्य का इतिहास	वाचस्पति गैरोला	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
संस्कार विज्ञान	पं. श्री पट्टाभिराम शास्त्री	वेद - मीमांसा- अनुसंधान केन्द, वाराणसी, 84-85
संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास	आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय	उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ, 1997 ई.
सिद्धान्त कौमुदी	वासुदेव शर्मा प्रतिष्ठान 1985	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
हिन्दी महाभारत		गीता प्रेस गोरखपुर सं. 2013
हितोपदेश	नारायण स्वामी गाय घाट, वाराणसी,	भार्गव पुस्तकालय स 1955 कोश

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कोश-

शब्दकल्पद्रुम, अमरकोश, वैदिक - शब्दकोश, वाचस्पत्यम्, संस्कृत-हिन्दी कोश (वामन आप्टे)।

पत्र - पत्रिकाएँ

नवभारत टाइम्स, हरिजन पत्रिका, संस्कृत - रत्नाकर, स्वर - मङ्गला, शोध - प्रभा, संस्कृत विमर्श।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Books in English

Books	Author	Publisher
A New History of Literature	Chaitanya Krishna	Sanskrit Asia Publishers House,1962
A Sociological appraoch of calculation	Cook and Cook	Mcgraw Hill Book Company, 1960
A History of Sanskrit	Macdowell A.A.	Delhi, 1962
A History of Sanskrit	Keith A.B.	Oxford University Press Calcutta, 1956
A History of Indian Philosphy	J.N. Sinhar	Motilal Banarasidas, Delhi
A Vedic Concordance	Bloomfield	Patanjal Publishers New Delhi, 1963
Critical Study of Vedas	Deo Prakash Shastri	Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay
Educational theory and Modern Trends		Motilal Banarasidas, Delhi, 1973
Hymms of Rigveda	J.L. Shastri	Oriental Book Agency
India in the Vedic Age	P.L.Bhargawa Glates,	Sri Aurobindo Ashram Trust Pondichery, 1964
Lectures on Rigveda	V.S.Sukthankar	
On the Vedas	Sri Aurobindo	
Vedic India	Lonit, Reron	
Vedic Bibliography	R.N. Dhandekar	Sushil Gupta Pvt. Ltd. Calcutta, 1957 University of Poona, 1961

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Journals

1. Annuals of Bhandarker Oriental Research Institute
2. Asiatic Research
3. Journal of Royal Asiatic Society
4. Indian Historical Quarterly

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Fund[illegible]oE-Grant



लेखक-परिचय

डा. भास्कर मिश्र का जन्म राजस्थान की राजधानी जयपुर में हुआ। आप देश के प्रतिष्ठित, मूर्धन्य विद्वान् डा. मण्डन मिश्र के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आपने साहित्याचार्य, एम्. ए. (संस्कृत), एम.एड., विद्यावारिधि, डी. लिट्. उपाधियाँ प्राप्त कीं। डा. मिश्र ने हरियाणा संस्कृत विद्यापीठ, बघोला (हरियाणा) में प्राध्यापक के रूप में अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया तथा श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू में प्रशिक्षण विभागाध्यक्ष का दायित्व निर्वहण करते हुए वर्तमान में आप श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान संकाय में प्रोफेसर के पद पर प्रतिष्ठित हैं। अध्यापन के साथ अनुसंधान के क्षेत्र में आपका सराहनीय योगदान है। आपने विश्व संस्कृत सम्मेलन, नई दिल्ली, वर्ष 2001 में आयोजित शिक्षा-सत्र का संयोजन किया। आपने अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थों का प्रणयन किया है। आप द्वारा विरचित ग्रन्थ एक नवीन एवं आधुनिक विश्लेषणात्मक दृष्टि का सूत्रपात करते हैं।

ग्रन्थ सूची :

चतुर्भुजमिश्रविरचितरसकल्पद्रुम का समीक्षात्मक सम्पादन और भाषानुवाद,
वैदिक शिक्षा मीमांसा,
विद्यालय प्रशासन,
शिक्षा एवं संस्कृति - नए संदर्भ, शिक्षक और समाज।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh